3115 ७१२५ १९ प्रिय



स्वाक्तं मे धावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरस्म
स्वक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं स्विता करत

७।३०

कृतं मे दक्षिणे ०१६







॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

सप्तमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ } संवत् १९७३ वि० { मूल्यम् २।)
१००० पुस्तकानि } सन् १९१६ ई०

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है॥"

आनन्द समाचार॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश. २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५-भावार्थ, ६-आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि. ७-प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाक व्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७				पृष्ठ १६० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥=)	३)	२।)				१३।)

काण्ड ८—छप रहा है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

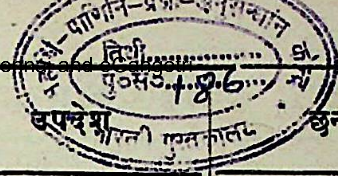
२५ सितम्बर १६१६
ओंकार प्रेस, प्रयाग।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad)

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ७ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	धीती वा ये अनयन्	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप्
२	अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं	अथर्वा वा प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप्
३	अया विष्ठा जनयन्	प्रजापति	ब्रह्म के गुण	त्रिष्टुप्
४	एकया च दशभिश्चा	प्रजापति वा वायु	ब्रह्म के ज्ञान	त्रिष्टुप्
५	यज्ञेन यज्ञमयजन्त	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप् आदि
६	अदिति र्द्यौरदिति	अदिति	प्रकृति आदि के गुण	त्रिष्टुप् आदि
७	दितेः पुत्राणामदिते	देवा	विद्वानों के गुण	जगती
८	भद्रादधि श्रेयः प्रेहि	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती
९	प्रपथे पथामजनिष्ट	पूषा	परमेश्वर की उपासना	त्रिष्टुप् आदि
१०	यस्ते स्तनः शशयुर्यो	सरस्वती	सरस्वती के विषय	त्रिष्टुप्
११	यस्ते पृथुस्तनयित्नुर्य	पर्जन्य	अन्न की रक्षा	त्रिष्टुप्
१२	सभा च मा समितिश्चावतां	सभापति	सभापति के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	यथा सूर्यो नक्षत्राणा	आत्मा	शत्रुओं को हराना	अनुष्टुप्
१४	अभित्यं देवं सवितार	सविता	ईश्वर के गुण	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
१५	तां सवितः सत्यसवां	सविता	आचार्य, ब्रह्मचारी	त्रिष्टुप्
१६	बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं	विश्वे देवा	राजा के धर्म	त्रिष्टुप्
१७	धाता दधातु नो रयि	धाता	गृहस्थ के कर्म	गायत्री आदि
१८	प्र नभस्व पृथिवि	प्रजापति	दूरदर्शी होना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
१९	प्रजापतिर्जनयति प्रजा	प्रजापति	बढ़ती करना	जगती
२०	अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं	अनुमति	मनुष्यों के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
२१	समेत विश्वे वचसापतिं	विश्वे देवा	ईश्वर की आज्ञा	जगती
२२	अयं सहस्रमा नो दृशे	परमेश्वर	विज्ञान की प्राप्ति	अक्षर पंक्ति आदि
२३	दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं	प्रजा	राजा के धर्म	अनुष्टुप्
२४	यन्न इन्द्रो अखनद्	सविता	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
२५	ययो रोजसा स्कभिता	विष्णु, वरुण	राजा, मन्त्री के धर्म	त्रिष्टुप्
२६	विष्णोर्नु कं प्रावोचं	विष्णु	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप् आदि
२७	इडैवास्माँ अनुवस्तां	इडा	विद्या प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२८	देवः स्वस्तिद्गु घणः	विश्वे देवा	यज्ञ करना	त्रिष्टुप्
२९	अग्नाविष्णू महि तद्	अग्नि, विष्णु	बिजुली और सूर्य	त्रिष्टुप्
३०	स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी	विश्वे देवा	शुभ कर्म करना	अनुष्टुप्
३१	इन्द्रोतिभिर्बहुलाभि	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप्
३२	उप प्रियं पनिप्नतं	इन्द्र	राजा और प्रजा	अनुष्टुप्
३३	सं मा सिञ्चन्तु मरुतः	विश्वे देवा	सब सम्पत्तियां बढ़ाना	पंक्ति
३४	अग्ने जातान् प्रणुदा	अग्नि	राजा, राजपुरुष	त्रिष्टुप्
३५	प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा	जातवेदा	राजा प्रजा का कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३६	अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे	मित्र	परस्पर मित्रता	अनुष्टुप्
३७	अभि त्वा मनुजातेन	दम्पती	विवाह में प्रतिज्ञा	अनुष्टुप्
३८	इदं खनामि भेषजं	दम्पती	विवाह में प्रतिज्ञा	अनुष्टुप्
३९	दिव्यं सुपर्णं पयसं	सुपर्ण, सूर्य	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
४०	यस्य व्रतं पशवो	सरस्वान्	ईश्वर की उपासना	त्रिष्टुप्
४१	अति धन्वान्यत्यप	श्येन	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
४२	सोमारुद्रा वि वृहतं	सोम, रुद्र	राजा और वैद्य	त्रिष्टुप्
४३	शिवास्त एका अशिवास्त	वाक्	कल्याणी वाणी	त्रिष्टुप्
४४	उभा जिग्यथुर्नपरा	इन्द्र, विष्णु	सभा और सेना के स्वामी	त्रिष्टुप्
४५	जनाद् विश्वजनीनात्	भेषज	ईर्ष्या दोष निवारण	अनुष्टुप्
४६	सिनीवाली पृथुष्टुके	सिनीवाली	स्त्रियों के गुण	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
४७	कुहूं देवीं सुकृतं	कुहू	स्त्रियों के गुण	त्रिष्टुप्
४८	एकामहं सुहवा सुष्टुती	राका	स्त्रियों के कर्त्तव्य	जगती
४९	देवानां पत्नी रुशती	देवपत्नी	राजा के समान रानी	जगती, पंक्ति
५०	यथा वृक्षमशनिर्	इद्र, आत्मा	मनुष्य के कर्त्तव्य	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप
५१	बृहस्पतिर्नः परिपातु	इन्द्र	पराक्रम करना	त्रिष्टुप्
५२	संज्ञानं नः स्वेभिः	प्रजापति	आपस में एकता	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
५३	अमुत्र भूयादधि यद्	अग्नि इत्यादि	विद्वानों के कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
५४	ऋचं साम यजामहे	शचीपति	वेद विद्या	अनुष्टुप्
५५	येते पन्थानोव दिवो	वसु	वेदमार्ग का ग्रहण	विराडुष्णिक्
५६	तिरश्चि राजेरसितात्	ओषधि	विष नाश	अनुष्टुप् बृहती
५७	यदाशसावदतो मे	सरस्वती	गृहस्थ धर्म	जगती
५८	इद्रवरुणा सुतपाविमं	इन्द्र, वरुण	राजा प्रजा कर्तव्य	जगती, त्रिष्टुप्
५९	यो नः शपादशपतः	शपथ	कुवचन के त्याग	अनुष्टुप्
६०	ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः	गृहपति	गृहस्थ धर्म	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
६१	यदग्ने तपसा तप	अग्नि	वेद विद्या प्राप्ति	अनुष्टुप्
६२	अयं अग्निः सत्पति	अग्नि	सेनापति के लक्षण	जगती
६३	पृतनाजितं सहमान	अग्नि	सेनापति का कर्तव्य	अनुष्टुप्
६४	इदं यत् कृष्णः शकुनिः	आप्, अग्नि	शत्रुओं से रक्षा	अनुष्टुप्
६५	प्रतीचीनफलोहि	अपामार्ग	वैद्यका कर्म	अनुष्टुप्
६६	यद्यन्तरिक्षे यदि वात	ब्राह्मण	वेद विज्ञान	त्रिष्टुप्
६७	पुनर्मैत्विन्द्रियं पुन	मन्त्रोक्त	सुकर्म करना	बृहती
६८	सरस्वति व्रतेषु ते	सरस्वती	सरस्वतीकी आराधना	अनुष्टुप् आदि
६९	शंनो वातो वातु	वात आदि	सुख के लिये प्रयत्न	पङ्क्ति
७०	यत् किंचासौ मनसा	इन्द्र, अग्नि	शत्रुका दमन	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
७१	परि त्वाग्ने पुरं वयं	अग्नि	सेनापतिके गुण	अनुष्टुप्
७२	उत तिष्ठताव पश्य	इन्द्र	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
७३	समिद्धो अग्निर्वृषणा	अश्विनौ	मनुष्य का कर्तव्य	जगती आदि
७४	अपचितां लोहिनीनां	वैद्य आदि	द्विविध रोग निवारण	अनुष्टुप् आदि
७५	प्रजावतीः सूयवसे	प्रजा	सामाजिक उन्नति	त्रिष्टुप् आदि
७६	आ सुस्रसः सुस्रसो	वैद्य, इन्द्र	रोगनाशऔरमनुष्यधर्म	अनुष्टुप् आदि
७७	सांतपना इदं हवि	मरुत्	वीरों का कर्तव्य	गायत्री, त्रिष्टुप्
७८	वि ते मुञ्चामि रशनां	अग्नि	आत्मा की उन्नति	गायत्री, त्रिष्टुप्
७९	यत् ते देवा अकृण्वन्	अमावास्या	परमेश्वरके गुण	त्रिष्टुप्, विराट्

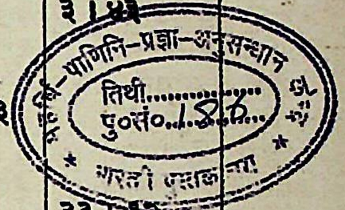


सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
८०	पूर्णापश्चादुत	पौर्णमासी	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
८१	पूर्वापरं चरतो	सोम, अर्क, चन्द्र	सूर्य, चन्द्रमाके लक्षण	जगती आदि
८२	अभ्यर्चत सुष्टुतिं	अग्नि	वेद के विज्ञान	त्रिष्टुप् आदि
८३	अप्सु ते राजन् वरुण	वरुण	ईश्वर के नियम	अनुष्टुप आदि
८४	अनाधृष्यो जातवेदा	अग्नि, इन्द्र	राजा का धर्म	जगती, त्रिष्टुप्
८५	त्यमूषु वाजिनं देव	तार्क्ष्य	राजा प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप्
८६	त्रातारमिन्द्रमवितार	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप्
८७	यो अग्नौ रुद्रो यो	रुद्र	ईश्वर की महिमा	त्रिष्टुप्
८८	अपेह्यरिरस्यरिर्वा	विद्वान्	कुसंस्कारका नाश	बृहती
८९	अपो दिव्या अचायिषं	अग्नि, आदि	विद्वानों की संगति	अनुष्टुप्, गायत्री
९०	अपि वृश्च पुराणावद्	इन्द्र	राजा का धर्म	गायत्री आदि
९१	इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ	इन्द्र	राजा का धर्म	त्रिष्टुप्
९२	स सुत्रामा स्ववाँ	इन्द्र	राजा का धर्म	त्रिष्टुप्
९३	इन्द्रेण मन्युनावय	इन्द्र	शूरों के लक्षण	गायत्री
९४	ध्रुवं ध्रुवेण हविषा	इन्द्र	राजा की स्तुति	अनुष्टुप्
९५	उदस्य श्यावौ विथुरौ	गृध्र	काम क्रोध निवारण	अनुष्टुप्
९६	असदन् गाव सदने	प्रजापति	काम क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
९७	यदद्य त्वा प्रयति	इन्द्र आदि	मनुष्य धर्म	त्रिष्टुप् आदि
९८	सं बर्हिरक्तं हविषा	इन्द्र	ग्राह्य पदार्थ पाने का	विराट् त्रिष्टुप्
९९	परि स्तृणीहि परि	यजमान	विद्या का प्रचार	त्रिष्टुप्
१००	पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात्	ब्रह्म	कुविचार हटाना	अनुष्टुप्
१०१	यत् स्वप्ने अन्नम्	प्रजापति	अविद्या का नाश	अनुष्टुप्
१०२	नमस्कृत्य द्यावापृथिवी	मन्त्रोक्त	ऊंचा पद पाना	विराट्पुरस्ताद्बृहती
१०३	को अस्या नो द्रुहो	आत्मा	द्रोह के त्याग	त्रिष्टुप्
१०४	कः पृश्निं धेनुं	आत्मा	वेद विद्या	त्रिष्टुप्
१०५	अपक्रामन् पौरुषेयाद्	विद्वान्	पवित्र जीवन	अनुष्टुप्
१०६	यदस्मृति चकृम	अग्नि	अमरपन पाना	त्रिष्टुप्
१०७	अव दिवस्तारयन्ति	सूर्य	परस्पर दुःख नाश	अनुष्टुप्
१०८	यो न स्तायद् दिप्सति	अग्नि	शत्रुओं का नाश	त्रिष्टुप्
१०९	इदमुग्राय बभ्रवे	अग्नि वा प्रजापति	व्यवहार सिद्धि	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
११०	अग्न इन्द्रश्च दाशुषे	इन्द्र, अग्नि	राजा और मन्त्री के कर्त्तव्य	गायत्री आदि
१११	इन्द्रस्य कुक्षिरसि	ईश्वर	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप्
११२	शुम्भनी द्यावापृथिवी	आप्	इन्द्रियों का जय	अनुष्टुप्
११३	तृष्टिके तृष्टवन्दन	तृष्टिका	तृष्णा त्याग	विराड् अनुष्टुप् उष्णिक्
११४	आ ते ददे वक्षणाभ्यः	अग्नि, सोम	राक्षसों का नाश	अनुष्टुप्
११५	प्र पतेतः पापि लक्ष्मि	सविता, जातवेदा,	दुर्लक्षण का नाश	अनुष्टुप्, आदि
११६	नमो रूरायच्यवनाय	प्रजापति	रोग निवारण	परोष्णिक, आर्च्यनुष्टुप्
११७	आ मन्द्रैरिन्द्रहरिभि	इन्द्र	राजा का धर्म	पथ्या बृहती
११८	मर्माणि ते वर्मणा	कवच, सोम, वरुण	सेनापति का कर्त्तव्य,	त्रिष्टुप्

२–अथर्ववेद, काण्ड ७ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछभेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड ७) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	यज्ञेन यज्ञ मयजन्त	५ । १	१ । १६४ । ५०; १० ९० । १६	३१ । १६	
२	यत् पुरुषेण हविषा	५ । ४	१० । ६६ । ७	३१ । १४	
३	आदितिर्द्यौरदिति	६ । १	१ । ८९ । १०	२५ । २३	
४	महीमू षु मातरं	६ । २		२१ । ५	
५	सुत्रामाणं पृथिवीं	६ । ३	१० । ६३ । १०	२१ । ६	
६	वाजस्य नु प्रसवे	६ । ४		९ । ५; १८।३०	
७	प्रपथे पथामजनिष्ट	९ । १	१० । १७ । ६		
८	पूषेमा आशा अनु	९ । २	१० । १७ । ५		
९	पूषन् तव व्रते वयं	९ । ३	६ । ५४ । ९	३४ । ४१	
१०	परि पूषा परस्तात्	९ । ४	६ । ५४ । १०		
११	यस्ते स्तनः शशयु	१० । १	१ । १६४ । ४९	३८ । ५	
१२, १३	अभि त्यं देवं सविता	१४ । १, २		४ । २५	पू० ५ । ८ । ८
१४	तां सवितः सत्यसवां	१५ । १	—	१७ । ७४	
१५	बृहस्पते सवित	१६ । १		२७ । ८	
१६	धाता राति सवितेदं	१७ । ४		८ । १७	
१७	अन्वद्यनोऽनुमति	२० । १		३४ । ९	
१८	अन्विदनुमते त्वं	२० । २		३४ । ८	
१९	ययोरोजसा स्कभिता	२५ । १		८ । ५९	
२०	विष्णोर्नु कं प्रवोचं	२६ । १	१ । १५४ । १	५ । १८	
२१	प्र तद् विष्णु स्तवते	२६ । २	१ । १५४ । २	५ । २०	
२२	यस्योरुषु त्रिषु	२६ । ३	१ । १५४ । २	५ । २०	
	उरु विष्णो विचमक्रस्व			५ । ३८, ४१	
२३	इदं विष्णु र्विचक्रमे	२६ । ४	१ । २२ । १७	५ । १५	पू०३।३।९,उ० ८ । २ । ८
२४	त्रीणि पदा विचक्रमे	२६ । ५	१ । २२ । १८	३४ । ४३	उ० ८ । २ । ५
२५	विष्णोः कर्माणि पश्यत	२६ । ६	१ । २२ । १९	६ । ४;१३। ३३	उ० ८ । २ । ५
२६	तद् विष्णोःपरमं पदं	२६ । ७	१ । २२ । २०	६ । ५	उ० ८ । २ । ५
२७	दिवो विष्ण उतवा	२६ । ८		५ । १९	
२८	इन्द्रोतिभिर्बहुलाभि	३१ । १	३ । ५३ । २१		
२९	अग्ने जातान् प्रणुदा	३४ । १		१५ । १	
३०	दिव्यं सुपर्ण पयसं	३९ । १	१ । १६४ । ५२		
३१, ३२	सोमारुद्रा विवृहतं	४२ । १, २	६ । ७४ । २, ३		
३३	उभाजिग्यथुर्नपरा	४४ । १	६ । ६९ । ८		
३४	सिनीवालि पृथुष्टुके	४६ । १	२ । ३२ । ६	३४ । १०	
३५	या सुबाहुः स्वङ्गुरिः	४६ । २	२ । ३२ । ७		
३६, ३७	राकामहं सुहवा	४८ । १.२	२ । ३२ । ४,५		
३८, ३९	देवानां पत्नी रुशती	४९ । १,२	५ । ४६ । ७,८		
४०	ईडे अग्निं स्वावसुं	५० । ३	५ । ६० । १		
४१	वयं जयेम त्वया	५० । ४	१ । १०२ । ४		
४२,४३	उत प्रहामतिदीवा	५० । ६,७	१० । ४२ । ९,१०		
४४	बृहस्पतिर्नः परि पातु	५१ । १	१० । ४२ । ११		
४५	अमुत्रभूयादधि	५३ । १		२७ । ९	

मन्त्र संख्या		अथर्ववेद (काण्ड ७) सूक्त मन्त्र	वेद, मण्डल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	समवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
४६	उद्वयं तमसस्परि	५३ । ७		२०।२१;२७।१० ३५।१४;३८।२४	
४७	सस्तक्षरन्ति शिशवे	५७ । २	१० । १३ । ५		
४८,४६	इन्द्रावरुणा सुतपा	५८ । १,२	६ । ६८ । १०,११	३ । ४१	
५०	ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः	६० । १		३ । ४२	
५१	येषामध्येति प्रवसन्	६० । ३		३ । ४३	
५२	उपहूता इह गाव	६० । ५			
५३	परित्वाग्ने पुरं वयं	७१ । १	१० । ८७ । २२		
५४,५६	उत् तिष्ठतावपश्यत	७२ । १-३	१० । १७६ । १-३		
५७	उप ह्वये सुदुघां	७३ । ७	१ । १६४ । २६		
५८	हिङ्कृण्वती वसुपत्नी	७३ । ८	१ । १६४ । २७		
५६	जुष्टो दमूना	७३ । ६	५ । ४ । ५	३३ । १२	
६०	अग्ने शर्ध महते	७३ । १०	५ । २८ । ३		
६१	सूयवसाद् भगवती	७३ । ११	१ । १६४ । ४०		
६२	धृषत् पिबक लशे	७६ । ६	६ । ४७ । ६		
६३	सांतपना इदं हवि	७७ । १	७ । ५६ । ६		
६४	यो नो मर्तो मरुतो	७७ । २	७ । ५६ । ८	२३ । ६५	
६५	अमावास्ये नत्वदे	७६ । ४	१० । १२१ । १०		
६६,६७	पूर्वापरंचरतो	८१ । १,२	१० । ८५ । १८,१६		
६८	अभ्यर्चतसुष्टुतिं	८२ । १	४ । ५८ । १०	२० । १८	
६६	धाम्नोधाम्नोराजन्नितो	८३ । २		१२ । १२	
७०	उदुत्तमं वरुण पाश	८३ । ३	१ । २४ । १५	२७ । ७	
७१	अनाधृष्यो जातवेदा	८४ । १			
७२	इन्द्र क्षत्रमभि वाममो	८४ । २	१० । १८० । ३	१८ । ७१	
७३	मृगो न भीमः कुचरो	८४ । ३	१० । १८० । २		
७४	त्यमू षु वाजिनं देव	८५ । १	१० । १७८ । १	२० । ५०	पू० ४ । ५ । १
७५	त्रातारमिन्द्रमवि	८६ । १	६ । ४७ । ११	२० । २२	पू० ४ । २ । २
७६	अपो दिव्या अचायिषं	८६ । १		६ । १७	
७७	इदमापः प्र वहता	८६ । ३		२० । २३	
७८	एधोऽस्येधिषीय	८६ । ४			
७६, ८०	अपि वृश्च पुराणवद्	६० । १, २	८ । ४० । ६	२० । ५१	
८१	इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ	६१ । १	६ । ४७ । १२; १० । १३१ । ६	२० । ५२	
८२	स सुत्रामा स्ववाँ	६२ । १	६।४७।१३;१०।१३१।७	७ । २५	
८३	ध्रुवं ध्रुवेण हविषा	६४ । १	१० । १७३ । ६	८ । २०	
८४	यदद्य त्वा प्रयति	६७ । १	३ । २६ । १६	८ । १५	
८५	समिन्द्र नो मनसा	६७ । २	५ । ४२ । ४	८ । १६	
८६	यानावह उशतो देव	६७ । ३		८ । १८	
८७	सुगा वो देवाः सदना	६७ । ४		८ । २२	
८८	यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं	६७ । ५		८ । २२	
८६	एष ते यज्ञो यज्ञपते	६७ । ६		८ । २१	
६०	वषड्ढुतेभ्योवषड	६७ । ७		८ । २१	
६१	मनसस्पत इमं नो	६७ । ८		२ । २२	
६२	सं बर्हिरक्तं हविषा	६८ । १		२० । ५३	
६३	आ मन्द्रैरिन्द्रहरिभि	११७ । १	३ । ४५ । १	१७।१६	पू० ३ । ६ । ४
६४	मर्माणि ते वर्मणा	११८ । १	६ । ७५ । १८		उ० ६ । ३ । ६





॥ ओ३म् ॥



अथर्ववेदः ॥

सप्तमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् ॥ १ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ।

धी॒ती वा॒ ये अन॑यन् वा॒चो अग्रं॒ मन॑सा वा॒ येऽव॑दन्नृ॒तानि॑ । तृ॒तीये॑न॒ ब्रह्म॑णा वावृधा॒नास्तु॒रीये॑णामन्वत॒ नाम॑ धे॒नोः ॥ १ ॥

धी॒ती । वा॒ । ये । अन॑यन् । वा॒चः । अग्र॑म् । मन॑सा । वा॒ । ये । अव॑दन् । ऋ॒तानि॑ । तृ॒तीये॑न । ब्रह्म॑णा । व॒वृ॒धा॒नाः । तु॒रीये॑ण । अ॒म॒न्व॒त॒ । नाम॑ । धे॒नोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन लोगों ने [एक] (धीती) अपने कर्म से (वाचः) वेदवाणी के (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (वा) निश्चय करके (अनयन्) पाया

१—(धीती) धीङ् आधारे—क्तिन्, यद्वा दधातेः-क्तिन् । घुमास्थागा० । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्वम् । सुपां सुलुक्० । इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ।

है, (वा) और (ये) जिन्होंने [दूसरे] (मनसा) विज्ञान से (ऋतानि) सत्य वचन (अवदन्) बोले ह। और जो (तृतीयेन) तीसरे [हमारे कर्म और विज्ञान से परे] (ब्रह्मणा) प्रवृद्ध ब्रह्म [परमात्मा] के साथ (वावृधानाः) वृद्धि करते रहे हैं, उन लोगों ने (तुरीयेण) चौथे [कर्म विज्ञान और ब्रह्म से अथवा धर्म, अर्थ और काम से प्राप्त मोक्ष पद] के साथ (धेनोः) तृप्त करनेवाली शक्ति, परमात्मा के (नाम) नाम अर्थात् तत्त्व को (अमन्वत) जाना है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो योगी जन वेद के तत्त्व को जानकर कर्म करते, और विज्ञान पूर्वक सत्य का उपदेश करके परमेश्वर की अपार महिमा को खोजते आगे बढ़ते जाते हैं, वेही मोक्ष पद पाकर परमात्मा की आज्ञा में विचरते हुये स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स वे॑द पु॒त्रः पि॒तरं॒ स मा॒तरं॒ स सू॒नुर्भु॑व॒त् स भु॑व॒त् पुन॑र्मघः। स द्याम॑र्णो॑द॒न्तरि॑क्षं॒ स्व१॒ः स इ॒दं विश्व॑-मभव॒त् स आभ॑वत् ॥ २ ॥

सः। वे॒द॒। पु॒त्रः। पि॒तर॑म्। सः। मा॒तर॑म्। सः। सू॒नुः। भु॒व॒त्। सः। भु॒व॒त्। पुनः॑-मघः। सः। द्याम्। औ॒र्णो॒त्।

धीत्या कर्मणा। धीतिभिः=कर्मभिः—निरु ११। १६। (वा) अवधारणे (ये) जिज्ञासवः (अनयन्) प्राप्नुवन् (वाचः) वेदवाण्याः (अग्रम्) प्रधानत्वम् (मनसा) विज्ञानेन (वा) समुच्चये (ये) सूक्ष्मदर्शिनः (अवदन्) उपदिष्टवन्तः (ऋतानि) सत्यवचनानि (तृतीयेन) तृत्वपूरकेण। धीतिमनोभ्यां परेण (ब्रह्मणा) प्रवृद्धेन परमात्मना (वावृधानाः) अ० १। ८। ४। वृद्धिं कुर्वाणाः, आसन् इति शेषः (तुरीयेण) अ० १। ३१। ३। चतुर्—छ। चतुर्थेन धीतिमनोब्रह्मभ्यः प्राप्तेन, यद्वा धर्मार्थकामानां पूरकेण मोक्षेण (अमन्वत) मनु अवबोधने। ज्ञातवन्तः (नाम) अ १। २४। ३। म्ना अभ्यासे—मनिन्। प्रसिद्धं परमात्मतत्त्वम् (धेनोः) अ० ३। १०। १। धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु०११। ४२। धि धारणे तर्पणे च—नु। धारयित्र्यास्तर्पयित्र्या वा शक्तेः परमात्मनः ॥

अन्तरिक्षम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् । अभवत् । सः । आ । अभवत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (पुत्रः) अनेक प्रकार रक्षा करनेवाला परमेश्वर (पितरम्) पालन के हेतु सूर्य को (सः) वह (मातरम्) निर्माण के कारण भूमि को (वेद) जानता है, (सः) वह (सूनुः) सर्व प्रेरक (भुवत्) है, (सः) वह (पुनर्मघः) बारंबार धनदाता (भुवत्) है। (सः) उसने (अन्तरिक्षम्) आकाश और (द्याम्) प्रकाशमान (स्वः) सूर्यलोक को (और्णोत्) घेरलिया है, (सः) वह (इदम्) इस (विश्वम्) जगत् में (अभवत्) व्याप रहा है, (सः) वही (आ) समीप होकर (अभवत्) वर्तमान हुआ है ॥२॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड में व्याप कर सब का धारण कर रहा है, वही हम में भरपूर है। ऐसा समझने वाले पुरुष आत्मबल पाकर पुरुषार्थी होते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान—अ० २। २८। ४। से भी करो ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१ ॥ अथर्वा प्रजापतिर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेश—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥१॥

२—(सः) प्रजापतिः (वेद) वेत्ति (पुत्रः) अ० १। ११। ५। पुत्रः पुरु त्रायते—निरु० २। ११। बहुत्राता (पितरम्) अ०२। २८। ४। पालनहेतुं सूर्यम् (मातरम्) अ० २। २८। ४। निर्मात्रीं पृथिवीम् (सूनुः) अ० ६। १। २। सर्वस्य प्रेरकः (भुवत्) भवति (पुनर्मघः) अ० ५। ११। १। वारंवारं धनदाता (द्याम्) अ० १। २। ४। द्योतमानम् (और्णोत्) ऊर्णुञ् आच्छादने—लङ्। आच्छादितवान् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (स्वः) अ० २। ५। २। स्वरादित्यो भवति सु अ रणः सु ईरणः—निरु०२। १४। आदित्यम् (सः) (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) जगत् (अभवत्) भू व्याप्तौ। व्याप्नोत् (आ) समीपे (अभवत्) वर्तते स्म ॥

अथर्वाणम् । पितरम् । देव-बन्धुम् । मातुः । गर्भम् । पितुः । असुम् । युवानम् । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस आप ने (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय, (पितरम्) पालनकर्त्ता, (देवबन्धुम्) विद्वानों के हितकारी, (मातुः) निर्माण के कारण पृथिवी के (गर्भम्) गर्भ [गर्भ समान व्यापक], (पितुः] पालन हेतु सूर्य के (असुम्) प्राण, (युवानम्) संयोजक वियोजक (अथर्वाणम्) निश्चल परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तूने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू (तम्) उस [ब्रह्म] का (इह इह) यहां पर ही (ब्रवः) उपदेश कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन महर्षियों ने सर्वनियन्ता परमेश्वर के गुणों को साक्षात् किया है, उनके उपदेशों को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से वारंवार विचार द्वारा आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय

१—(अथर्वाणम्) अ० ४।१।७। अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११। १८। निश्चलं परमात्मानम् (पितरम्) पालकम् (देवबन्धुम्) अ० ४। १। ७। विदुषां हितकरम् (मातुः) निर्मात्र्या भूमेः (गर्भम्) अ० ३।१०। १२। गर्भवद् व्यापकम् (पितुः) पालनहेतोः सूर्यस्य (युवानम्) अ० ६। १। २। संयोजकवियोजकं बलवन्तम् (यः) भवान् तत्त्ववेत्ता (इमम्) सर्वव्यापिनम् (यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयम् (मनसा) मननेन (चिकेत) कित ज्ञाने—लिट्। जज्ञौ (प्र) प्रकर्षेण (नः) अस्मभ्यम् (वोचः) वच व्यक्तायां वाचि—लुङ्, अडभावः। अवोचः। उपदिष्टवानसि (तम्) अथर्वाणम् (इह इह) वीप्सायां द्विर्वचनम्। अस्माकमेव मध्ये (ब्रवः) लेटि रूपम्। उपदिश ॥

गातुः । स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अया । वि-स्था । जनयन् । कर्वराणि । सः । हि । घृणिः । उरुः । वराय । गातुः । सः । प्रति-उदैत् । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् । स्वया । तन्वा । तन्वम् । ऐरयत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अया विष्ठा) इस रीति से (कर्वराणि) कर्म्मों को (जनयन्) प्रकट करते हुये (सः) दुःखनाशक, (घृणिः) प्रकाशमान, (उरुः) विस्तीर्ण, (गातुः) पाने योग्य वा गाने योग्य प्रभु ने (हि) ही (वराय) उत्तम फल के लिये (मध्वः) ज्ञान के (धरुणम्) धारण योग्य (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (प्रत्युदैत्) प्रत्यक्ष उदय किया है और (स्वया) अपनी (तन्वा) विस्तृत शक्ति से (तन्वम्) विस्तृत सृष्टि को (ऐरयत) प्रकट किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकाश स्वरूप, दयामय परमात्मा ने हमारे सुख के लिये संसार रचा और वेदज्ञान दिया है, उसके उपकारों को विचारते हुये हम सदा सुधार करते रहें ॥ १ ॥

१—(अया) अयैनेत्युपदेशस्य—निरु० ३ । २१ । अनया (विष्ठा) विभक्तेर्लुक् । विष्ठया । विविध स्थित्या रीत्या (जनयन्) उत्पादयन् (कर्वराणि) कॄगॄशॄ० । उ० २ । १२१ । इति बाहुलकात् करोतेः ष्वरच् । कर्माणि—निघ० १ । २ (सः) प्रसिद्धः (हि) अवधारणे (घृणिः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । ४ । ५२ । घृ दीप्तौ—नि । दीप्यमानः (उरुः) विस्तीर्णः (वराय) वरणीयाय फलाय (गातुः) कमिमनिजनिगा० । उ० । १ । ७३ । इति गाङ् गतौ यद्वा गै गाने—तु । पदनाम–निघ० ४ । १ । गातु गमनम्—निरु० ४ । २१ । प्राप्तव्यो गानयोग्यो वा परमेश्वरः (सः) षो अन्तकर्मणि—ड । दुःखनाशकः (प्रत्युदैत्) इण गतौ–लुङि छान्दसं रूपम्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रत्यक्षेणोद्गमितवान् (धरुणम्) धारणीयम (मध्वः) मधुनः । ज्ञानस्य (अग्रम्) सारम् (स्वया) स्वकीयया (तन्वा) विस्तृतशक्त्या (तन्वम्) विस्तृतां सृष्टिम (ऐरयत) प्रेरितवान् ।

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्वायुर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेश—ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश ।

एक॑या च द॒शभि॑श्चा सुहुते द्वा॒भ्या॑मि॒ष्टये॑ विंश॒त्या च॑ ।
ति॒सृभि॑श्च॒ वह॑से त्रिं॒शता॑ च वि॒युग्भि॑र्वाय इ॒ह ता वि मु॑ञ्च ॥ १ ॥

एक॑या । च॒ । द॒श-भिः॑ । च॒ । सु॒-हु॒ते॒ । द्वा॒भ्याम् । इ॒ष्टये॑ । वि॒ं॒श॒त्या । च॒ । ति॒सृ-भिः॑ । च॒ । वह॑से । त्रिं॒शता॑ । च॒ । वि॒युक्-भिः॑ । वा॒यो॒ इति॑ । इ॒ह । ताः । वि । मु॒ञ्च॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुहुते) हे बड़े दानी परमात्मन् ! (इष्टये) हमारी इच्छा पूर्ति के लिये (एकया च च दशभिः) एक और दश [ग्यारह], (द्वाभ्यां च विंशत्या) दो और बीस [बाईस], (च) और (तिसृभिः च त्रिंशता) तीन और तीस [तेतीस] (वियुग्भिः) विशेष योजनाओं के साथ [हमें] (वहसे) तू ले चलता है, (वायो) हे सर्व व्यापक ईश्वर (ताः) उन [योजनाओं] को (इह) यहां [हम में] (वि) विशेष करके (मुञ्च) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—(अ) इस मन्त्र में गणित विद्या के संकलन और गुणन का मूल है, जैसे—

१ + १०=११, २ + २०=२२, ३ + ३०=३३, इत्यादि;

तथा ११ + ११=२२, ११ + २२=३३, इत्यादि;

तथा ११ × १=११, ११ × २=२२, ११ × ३=३३, इत्यादि ।

१—(एकया च दशभिश्च) एकादशभिः शरीरयोजनाभिः (सुहुते) हु दानादानयोः—क्तिन् । हे महादातः परमेश्वर (द्वाभ्यां विंशत्या च) द्वाविंशत्या पञ्चमहाभूतयोजनाभिः (इष्टये) अस्माकमिच्छासिद्धये (तिसृभिश्च त्रिंशता च) त्रयस्त्रिंशता देवतानां योजनाभिः (वहसे) अस्मान्नयसि (वियुग्भिः) युजेः क्विप् । विशेषयोजनाभिः (वायो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (इह) अत्र । अस्माकं मध्ये (ताः) वियुजः (वि) विशेषेण (मुञ्च) मोचय । स्थापय ॥

(आ) ग्यारह योजनायें शरीर की हैं, अर्थात् दो नासिका, दो श्रोत्र, दो नेत्र, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थ, एक नाभि और एक ब्रह्मरन्ध्र। इसी से शरीर का नाम एकादशपुर भी है। (इ) बाईस योजनायें यह हैं—५ महाभूत + ५ प्राण + ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय + १ अन्तःकरण + १ बुद्धि। (ई) तेंतीस योजनायें वा देवता यह हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा; १२ आदित्य अर्थात् महीने; १ इन्द्र अर्थात् बिजुली; १ प्रजापति—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६६—६८।

आशय यह है—जिस परमात्मा ने शरीर की ग्यारह योजनाओं, बाईस पंच भूत आदि और तेतीस देवताओं द्वारा हमारा उपकार किया है, हम उसी जगदीश्वर की कृपा से इन सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः; ४ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः——ब्रह्म विद्या के लिये उपदेश ॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्। ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१॥

य॒ज्ञेन॑। य॒ज्ञम्। अ॒य॒ज॒न्त॒। दे॒वाः। तानि॑। धर्मा॑णि। प्र॒थ॒मानि॑। आ॒स॒न्। ते। ह॒। नाक॑म्। म॒हि॒मानः॑। स॒च॒न्त॒। यत्र॑। पूर्वे॑। सा॒ध्याः। सन्ति॑। दे॒वाः।

भाषार्थ—(देवाः) विद्वानों ने (यज्ञेन) अपने पूजनीय कर्म से (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (अयजन्त) पूजा है, (तानि) वे [उन के]

१—(यज्ञेन) पूजनीयकर्मणा (यज्ञम्) पूजनीयं परमात्मानम् (अयजन्त) पूजितवन्तः (देवाः) विद्वांसः (तानि) (धर्माणि) धारणीयानि ब्रह्मचर्यादीनि

(धर्म्माणि) धारण योग्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म (प्रथमानि) मुख्य, प्रथम कर्तव्य (आसन्) थे। (ते) उन (महिमानः) महापुरुषों ने (ह) ही (नाकम्) दुःख रहित परमेश्वर को (सचन्त) पाया है, (यत्र) जिस परमेश्वर में रहकर (पूर्वे) पहिले, बड़े बड़े (साध्याः) साधनीय, श्रेष्ठ कर्मों के साधनेवाले लोग (देवाः) देवता अर्थात् विजयी (सन्ति) होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय योगी जनों ने वेदविज्ञान, योगाभ्यास आदि साधनों से उस परमात्मा को पाया है, जिसके आश्रय से पूरे साध्य, साधु, उपकार साधक ही संसार में जय पाते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१।१६४।५०; १०।९०।१६। यजुः० ३१। १६ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १२९ और निरुक्त १२।४१। में भी है ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥२॥

यज्ञः । बभूव । सः । आ । बभूव । सः । प्र । जज्ञे । सः । ऊं इति । ववृधे । पुनः । सः । देवानाम् । अधि-पतिः । बभूव । सः । अस्मासु । द्रविणम् । आ । दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह परमेश्वर (यज्ञः) पूजनीय (बभूव) हुआ और (आ) सब ओर (बभूव) व्यापक हुआ, (सः) वह (प्र) अच्छे प्रकार (जज्ञे) जाना गया, (सः उ) वही (पुनः) निश्चय करके (ववृधे) बढ़ा । (सः)

कर्माणि (प्रथमानि) मुख्यानि कर्तव्यानि (आसन्) अभवन् (ते) (ह) एव (नाकम्) दुःखरहितं परमात्मानम् (महिमानः) अ० ३।१०।४। महत्त्व-युक्ताः (सचन्त) षच समवाये लङि अडभावः। अलभन्त (यत्र) नाके (पूर्वे) आद्याः। मुख्याः (साध्याः) साध्यं येषामस्तीति, साध्य—अर्श आद्यच्। साधनवन्तः। परोपकारसाधकाः साधवः (सन्ति) भवन्ति (देवाः) विजिगीषवः॥

२—(यज्ञः) पूजनीयः संगन्तव्यः (बभूव) (सः) परमेश्वरः (आ)सर्वतः (बभूव) भू प्राप्तौ। व्याप (प्र) प्रकर्षेण (जज्ञे) ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट्। ज्ञातः प्रसिद्धो बभूव (उ) एव (ववृधे) वृद्धिं प्राप (पुनः) अवधारणे (सः)

वह (देवानाम्) दिव्य वायु सूर्य आदि लोकों का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (सः) वही (अस्मासु) हमारे बीच (द्रविणम्) प्रापणीय बल (आ) सब ओर से (दधातु) धारण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वपूजनीय, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सदा प्रवृद्ध परमेश्वर के उपासक लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख पाते हैं ॥ २ ॥

यद् देवा देवान् हविषायंजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥

यत् । देवाः । देवान् । हविषा । अयंजन्त । अमर्त्यान् । मनसा । अमर्त्येन । मदेम । तत्र । परमे । वि-ओमन् । पश्येम । तत् । उत्-इतौ । सूर्यस्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जितेन्द्रिय विद्वानों ने (यत्) जिस ब्रह्म के (अमर्त्यान्) न मरे हुये [अविनाशी] (देवान्) उत्तम गुणों का (हविषा) अपने देने और लेने योग्य कर्म से और (अमर्त्येन) न मरे हुये [जीते जागते] (मनसा) मन से (अयजन्त) सत्कार, संगति करण और दान किया है। (तत्र) उस (परमे) सब से बड़े (व्योमन्) विविध रक्षक ब्रह्म में (मदेम) हम आनन्द भोगें और (तत्) उस ब्रह्म को (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में [बिना रोक] (पश्येम) हम देखते रहें ॥ ३ ॥

(देवानाम्) दिव्यानां वायुसूर्यादिलोकानाम् (अधिपतिः) अधिकं पालयिता (अस्मासु) उपासकेषु (द्रविणम्) अ० २ । २९ । ३ । प्रापणीयं बलम्—निघ० २ । ९ (आ) समन्तात् (दधातु) धारयतु ॥

३—(यत्) यस्य ब्रह्मणः (देवाः) विजिगीषवो विद्वांसः (देवान्) दिव्यान् गुणान् (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण कर्मणा (अयजन्त) सत्कृतान् संगतान् दत्तान् च कृतवन्तः (अमर्त्यान्) अमरणशीलान् । अविनाशिनः (मनसा) अन्तःकरणेन (अमर्त्येन) अमरशीलेन । पुरुषार्थिना (मदेम) हृष्येम (तत्र) तस्मिन् (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । विविधरक्षके ब्रह्मणि (पश्येम) आलोचयेम (तत्) ब्रह्म (उदितौ) उदये (सूर्यस्य) रवेः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के नित्य उपकारी गुणों को अपने पूर्ण विश्वास और पुरुषार्थ से साक्षात्कार करते हैं, वे ही जीवित पुरुष आनन्द भोगते हुये, परमात्मा का दर्शन करते हुये, अविद्या को मिटाकर विचरते हैं, जैसे सूर्य निकलने पर अन्धकार मिट कर प्रकाश हो जाता है ॥ ३ ॥

यत् पुरु॑षेण ह॒विषा॑ य॒ज्ञं दे॒वा अत॑न्वत । अस्ति॒ नु तस्मा॒दोजी॑यो॒ यद्वि॒हव्ये॑नेजि॒रे ॥ ४ ॥

यत् । पुरु॑षेण । ह॒विषा॑ । य॒ज्ञम् । दे॒वाः । अत॑न्वत । अस्ति॑ । नु । तस्मा॑त् । ओजी॑यः । यत् । वि॒-हव्ये॑न । ई॒जि॒रे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (देवाः) विद्वानों ने (पुरुषेण) अपने अग्रगामी आत्मा के साथ (हविषा) देने और लेने योग्य व्यवहार से (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्म को (अतन्वत) फैलाया। वह ब्रह्म (नु) अब (तस्मात्) उस [आत्मा] से (ओजीयः) अधिक बलवान् (अस्ति=आसीत्) हुआ, (यत्) जिस [ब्रह्म] की उन्होंने (विहव्येन) विशेष देने योग्य व्यवहार से (ईजिरे) पूजा था ॥४॥

भावार्थ—विद्वान् योगी महात्माओं ने यह साक्षात् किया है कि इस जीवात्मा से अधिक ओजस्वी शक्ति विशेष परमेश्वर सब ब्रह्माण्ड को चला रहा है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—म० १० । ९० । ७ । और—यजु० ३१ । १४ ।

मु॒ग्धा दे॒वा उ॒त शुना॑यजन्तो॒त गोरङ्गैः॑ पुरु॒धाय॑जन्त । य इ॒मं य॒ज्ञं मन॑सा चि॒केत॒ प्र णो॑ वोच॒स्तमि॒हेह ब्र॑वः ॥५॥

४—(यत्) यदा (पुरुषेण) अ० १ । १६ । ४ । पुर अग्रगतौ-कुषन् । अग्रगामिना स्वात्मना (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण च कर्मणा (देवाः) विद्वांसः (अतन्वत) विस्तारितवन्तः (अस्ति) आसीत् तद्ब्रह्म (नु) अवधारणे । इदानीम् (तस्मात्) पुरुषात् (ओजीयः) ओजस्वी-ईयसुन्, विनो लुक् । बलवत्तरम् (यत्) ब्रह्म (विहव्येन) विविधं दातव्येन व्यवहारेण (ईजिरे) यजेर्लिट् । पूजितवन्तः ॥

मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः । अङ्गैः । पुरु-धा । अयजन्त । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग [ईश्वर की सीमा के विषय में] (मुग्धाः) मूढ़ होकर (उत) भी (शुना) ज्ञान से [परमात्मा को] (अयजन्त) मिले हैं, (उत) और (गोः) वेदवाणी के (अङ्गैः) अंगों से [उसे] (पुरुधा) विविध प्रकार से (अयजन्त) पूजा है। (यः) जिस आपने (इमम् यज्ञम्) इस पूजनीय परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तू ने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू (तम्) उस परमेश्वर का (इह इह) यहांपर ही (ब्रवः) उपदेशकर ॥५॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग असीम, अनादि, अनन्त, परमेश्वर को सब से बलिष्ठ जान कर ही विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ते और उसका उपदेश करके संसार को आगे बढ़ाते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० ७ । २ । १ ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

१-४ ॥ अदितिर्देवता ॥ १—३ त्रिष्टुप्; ४ निचृज्जगती ॥

मन्त्रः १, प्रकृतिलक्षणोपदेशः—मन्त्र १, प्रकृति के लक्षण का उपदेश ॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता ।

५—(मुग्धाः) मोहिताः सन्तः (देवाः) विद्वांसः (उत) अपि (शुना) शुन गतौ-क्विप् । ज्ञानेन । शुनं सुखम्-निघ० ७ । ६ (अयजन्त) संगतवन्तः परमात्मानम् (गोः) वेदवाचः । गौः=वाक्—निघ० १ । ११ (अंगैः) (पुरुधा) बहुधा (अयजन्त) पूजितवन्तः अन्यत्पूर्ववत्—अ० ७ । २ । १ ।

सः । पिता । सः । पुत्रः । विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् । अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अदितिः=अदितेः) अदीन वा अखण्डित अदिति अर्थात् प्रकृति से (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य, (अदितिः) अदिति से (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश, (अदितिः) अदिति से (माता) हमारी माता, (सः पिता) वह हमारा पिता, (सः पुत्रः) वह हमारा पुत्र [सन्तान] है। (अदितिः) अदिति से (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुण वाले पदार्थ, (अदितिः) अदिति से (पञ्च) विस्तृत [वा पञ्चभूत रचित] (जनाः) सब जीव, (अदितिः) अदिति से (जातम्) उत्पन्न जगत् और (जनित्वम्) उत्पन्न होने वाला जगत् है ॥ १ ॥

उपादान कारण —प्रकृति

भावार्थ—जो संसार उत्पन्न हुआ है और जो आगे उत्पन्न होगा, वह सब ईश्वर नियम के अनुसार अदिति वा प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण से रचा जाता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋक्० में है—म० १ । ८९ । १०, यजु० २५ । २३ । और निरु० ४ । २३ । में है। भगवान् यास्क मुनि कहते हैं [इत्यदितेर्विभूतिमाचष्ट एनान्यदीनानीति वा] यह मन्त्र अदिति की महिमा कहता है अथवा यह सब वस्तुयें अदीन हैं—निरु० ४ । २३ ॥

मन्त्रः २, पृथ्वीविषयोपदेशः—मन्त्र २, पृथ्वी के विषय का उपदेश ॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।

१—(अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने—क्तिन् । अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पञ्चम्याः सुः । अदितेः । प्रकृतेः । जगत्कारणात् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अदितिः) (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्याकाशः (माता) अस्माकं जननी (सः) प्रसिद्धः (पिता) जनकः (सः) (पुत्रः) सन्तानः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (पञ्च) अ० ६ । ७५ । ३ । शप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्ति करणे—कनिन् । पञ्चानः । विस्तृताः । पञ्चभूत निर्मिता वा (जनाः) प्राणिनः (जातम्) उत्पन्नम् (जनित्वम्) जनिदाच्यु० । उ० ४ । १०४ । इति जनी प्रादुर्भावे—इत्वन् । उत्पत्स्यमानं जगत् ॥

तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥२॥

म॒हीम् । ऊं॒ इति॑ । सु । मा॒तर॑म् । सु॒-व्र॒ताना॑म् । ऋ॒तस्य॑ । पत्नी॑म् । अव॑से । ह॒वा॒म॒हे॒ । तु॒वि॒-क्ष॒त्राम् । अ॒जर॑न्तीम् । उ॒रू॒चीम् । सु॒शर्मा॑णम् । अदि॑तिम् । सु॒-प्रनी॑तिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(महीम्) पूजनीय, (मातरम्) माता [के समान हित-कारिणी], (सुव्रतानाम्) सुकर्मियों के (ऋतस्य) सत्यधर्म की (पत्नीम्) रक्षा करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत बल वा धन वाली, (अजरन्तीम्) न घटने वाली, (उरूचीम्) बहुत फैली हुई, (सुशर्म्माणम्) उत्तम घर वा सुख वाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीति वाली (अदितिम्) अदिति, अदीन पृथ्वी को (उ) ही (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सु) अच्छे प्रकार (हवा-महे) हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी के गुणों में चतुर होते हैं, वे ही राज्य भोगने, बल और धन बढ़ाने, धार्मिक नीति चलाने और प्रजा पालने आदि शुभगुणों के योग्य होते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है, २१ । ५ ॥

मन्त्रः ३, वेदवाणीगुणोपदेशः—मन्त्र ३, वेद वाणी के गुणों का उपदेश ॥

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् । दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्राम॑नागसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

२—(महीम्) महतीम् (उ) अवधारणे (सु) सुष्ठु । सत्कारेण (मात-रम्) मातृसमानहिताम् (सुव्रतानाम्) शोभनकर्मवताम् (ऋतस्य) सत्य-धर्मस्य (पत्नीम्) पालयित्रीम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आह्वयामः (तुविक्षत्राम्) बहुबलां बहुधनाम् (अजरन्तीम्) अजराम् (उरूचीम्) अ० ३। ३ । १ । बहु विस्तारगताम् (सुशर्म्माणम्) उत्तमगृहयुक्ताम् । बहुसुखवतीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ । अदीनां पृथिवीम्—निघ० १ । १ । (सुप्रणीतिम्) सुष्ठु प्रकृष्टनीतियुक्ताम् ॥

सु-त्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सु-शर्माणम् । अदितिम् । सु-प्रणीतिम् । दैवीम् । नावम् । सु-अरित्राम् । अनागसः । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामाणम्) अच्छे प्रकार रक्षा करने हारी, (पृथिवीम्) फैली हुई, (द्याम्) प्राप्ति योग्य, (अनेहसम्) अखण्डित, (सुशर्म्माणम्) अत्यन्त सुख देनेवाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीतिवाली (अदितिम्) अदिति, अदीन वेद विद्यारूप, (दैवीम्) देवताओं, विद्वानों की बनाई हुई, (स्वरित्राम्) सुन्दर बल्लियों वाली, (अस्रवन्तीम्) न चूने वाली (नावम्) नाव पर (स्वस्तये) आनन्द के लिये (अनागसः) निर्दोष हम (आ रुहेम) चढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अखण्ड वेद विद्या को प्राप्त होते हैं, वे संसार के विघ्नों से ऐसे पार होते, जैसे विज्ञानी शिल्पी की बनाई नाव से बड़े समुद्र को पार कर जाते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ६३ । १०, और यजु० २१।६॥

मन्त्रः ४, परमेश्वरगुणोपदेशः—मन्त्र ४, परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।

३—(सुत्रामाणम्) सुरक्षित्रीम् (पृथिवीम्) अ० १ । २ । १ । विस्तृताम् (द्याम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । द्यु अभिगमने—डो । अभिगन्तव्याम् (अनेहसम्) नञि हन एह च । उ० ४ । २२४ । अ+हन—असि । एन पतेः—निरु० ११ । २४ । अहिंसनीयाम् (सुशर्म्माणम्) बहुसुखवतीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ । अदीनां वेदवाचम् । अदितिः=वाक्-निघ० १ । ११ (सुप्रणीतिम्) म० २ (दैवीम्) देव अञ् । विद्वद्भिर्निर्मिताम् (नावम्) नोदनीयां नौकाम् (स्वरित्राम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । ऋ गतौ—इत्र । शोभननौकाचालनकाष्ठयुक्ताम् (अनागसः) अ० २ । १० । १ । इण आगोऽपराधे च । उ० ४ । ११२ । इण् गतौ असुन्, आगादेशः । अनागस्त्वमनपराधत्वम् । आग आङ् पूर्वाद् गमेः -निरु० ११ । २४ । अनपराधाः (अस्रवन्तीम्) स्रवणरहिताम् (आ रुहेम) आरूढा भूयास्म (स्वस्तये) क्षेमाय ॥

यस्यां उपस्थं उर्वं१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यंच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्र-सवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम । वचसा । करामहे । यस्याः । उप-स्थे । उरु । अन्तरिक्षम् । सा । नः । शर्म । त्रि-वरूथम् । नि । यच्छात् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाजस्य) अन्न वा बल के (प्रसवे) उत्पन्न करने में (नु) अब (मातरम्) निर्माण करने वाली, (महीम्) विशाल, (अदितिम्) अदीन शक्ति, परमेश्वर को (नाम) प्रसिद्ध रूप से (वचसा) वेद वाक्य के साथ (करामहे) हम स्वीकार करें। (यस्याः) जिस [शक्ति] की (उपस्थे) गोद में (उरु) यह बड़ा (अन्तरिक्षम्) आकाश है, (सा) वह (नः) हमें (त्रि-वरूथम्) तीन प्रकार के, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सुखों वाला (शर्म) घर (नि) नियम के साथ (यच्छात्) देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सब जगत् का निर्माता और नियन्ता है, उसकी उपासना ही से सब मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ६ । ५ और १८ । ३० ॥

४—(वाजस्य) अन्नस्य-निघ० २ । ७ । बलस्य-निघ० २ । ६ (नु) इदानीम् (प्रसवे) उत्पादने (मातरम्) निर्मात्रीम् (महीम्) विशालाम् (अदितिम्) अदीनां शक्ति परमेश्वरम् (नाम) प्रसिद्ध्या (वचसा) वेदवचनेन (करामहे) छान्दसः शप् । आकुर्महे । स्वीकुर्मः (यस्याः) अदितेः (उपस्थे) उत्संगे (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सा) अदितिः (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) गृहम्—निघ० ३ । ४ (त्रिवरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति वृञ् वरणे-ऊथन् । त्रीणि वरूथानि वरणीयान्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि सुखानि यस्मिन् तत् (नि) नियमेन (यच्छात्) दाण् दाने—लेट् । दद्यात् ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१ ॥ देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

देवगुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम् । तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

दितेः । पुत्राणाम् । अदितेः । अकारिषम् । अव । देवानाम् । बृहताम् । अनर्मणाम् । तेषाम् । हि । धाम । गभि-सक् । समुद्रियम् । न । एनान् । नमसा । परः । अस्ति । कः । चन ॥१॥

भाषार्थ—(दितेः) दीनता से (पुत्राणाम्) शुद्ध करने वाले वा बहुत बचाने वाले, (अदितेः) अदीनता के (देवानाम्) देने वाले वा प्रकाश करने वाले, (बृहताम्) बड़े गुण वाले, (अनर्मणाम्) हिंसा न करने वाले वा अजेय (तेषाम्) उन पुरुषों के (धाम) धारण सामर्थ्य को (हि) ही (गभिषक्) गहराई से युक्त, (समुद्रियम्) [पार्थिव और अन्तरिक्ष] समुद्र में रहनेवाला (अव) निश्चय करके (अकारिषम्) मैंने जाना है, (कः चन) कोई भी

१—(दितेः) दीङ् क्षये—क्तिन् । दीनतायाः सकाशात् (पुत्राणाम्) अ० १ । ११ । ५ । पूङ् शोधे—क्त । पुत्रः पुरु त्रायते—निघ० २ । ११ । पुरु+त्रैङ रक्षणे—ड । पावकानां शोधकानाम् । बहुत्रातॄणाम् (अदितेः) षष्ठी-रूपम् । अदीनतायाः (अकारिषम्) कॄ विज्ञाने—लुङ् । इति शब्दकल्पद्रुमः । विज्ञातवानस्मि (अव) निश्चयेन (देवानाम्) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा —निरु० ७ । १५ । दातॄणां प्रकाशकानां वा (बृहताम्) गुणैर्महताम् (अनर्मणाम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । ऋ हिंसायाम्—मनिन् । अहिंसकानाम् अहिंसनीयानाम् (तेषाम्) प्रसिद्धानां पुरुषाणाम् (हि) एव (धाम) धारणसामर्थ्यम् (गभिषक्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति गम्लृ गतौ—इन् मस्यभः+षञ्ज सङ्गे—क्विप् । गम्भीरता युक्तम्

(परः) शत्रु (एनान्) इनको (नमसा) [उनके] अन्न वा सत्कार के कारण (न) नहीं (अस्ति) पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो धर्मात्मा मनुष्य दीनता छोड़ कर संसार में आत्मा और शरीर की अदीनता का दान करते हैं, वे पृथ्वी और आकाश में यान विमान आदि द्वारा अधिकार जमाते और शत्रुओं को जीतते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु । अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥ १ ॥

भद्रात् । अधि । श्रेयः । प्र । इहि । बृहस्पतिः । पुरः-एता । ते । अस्तु । अथ । इमम् । अस्याः । वरे । आ । पृथिव्याः । आरे-शत्रुम् । कृणुहि । सर्व-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (भद्रात्) एक मङ्गल कर्म से (श्रेयः) अधिक मङ्गलकारी कर्म को (अधि) अधिकारपूर्वक (प्र इहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालक परमेश्वर (ते) तेरा (पुरएता) अग्रगामी (अस्तु) होवे । (अथ) फिर तू (इमम्) इस [अपने

(समुद्रियम्) समुद्राभ्राद् घः । पा० । ४ । ४ । ११८ । इति समुद्र-घ । आन्तरिक्षे पार्थिवे वा समुद्रे भवम् (न) निषेधे (एनान्) पुरुषान् (नमसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । सत्कारेण (परः) शत्रुः (अस्ति) अस ग्रहणे गतौ च । शपो लुक् छान्दसः । असति गृह्णाति गच्छति प्राप्नोति वा (कश्चन) कोऽपि ॥

१—(भद्रात्) मङ्गलात्कर्मणः (अधि) अधिकृत्य (श्रेयः) प्रशस्य—ईयसुन् । प्रशस्यतरं कर्म (प्र) प्रकर्षेण (इहि) प्राप्नुहि (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (पुरएता) अग्रगामी (ते) तव (अथ) अनन्तरम् (अस्याः) दृश्यमानायाः (वरे) वरणीये फले (आ) समन्तात्

आत्मा] को (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (वरे) श्रेष्ठ फल में (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से दूर (सर्ववीरम्) सर्ववीर, सबमें वीर (आ) सब ओर से (कृणुहि) बना ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से अधिक अधिक उन्नति करते हुये आगे बढ़े जाते हैं, वेही सर्ववीर निर्विघ्नता से अपना जीवन सुफल करते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ पूषा देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री; ४ अनुष्टुप् ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर के उपासना का उपदेश ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः । उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

प्र-पथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्र-पथे । दिवः । प्र-पथे । पृथिव्याः । उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रिय-तमे । सधस्थे इति सध-स्थे । आ । च । परा । च । चरति । प्र-जानन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (पथाम्) सब मार्गों में से (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (दिवः) सूर्य के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है। (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (उभे) दोनों (प्रियतमे) [परस्पर] अति प्रिय (सधस्थे) एक साथ स्थिति करने वाले [सूर्य और पृथिवी लोक]

(पृथिव्याः) भूलोकस्य (आरेशत्रुम्) आरे दूरे शत्रवो यस्य तम् (कृणुहि) कृवि हिंसाकरणयोः । कुरु । (सर्ववीरम्) सर्वेषु वीरम् । एकवीरम् ॥

१—(प्रपथे) प्रकृष्टे विस्तृते मार्गे (पथाम्) मार्गाणां मध्ये (अजनिष्ट) प्रादुरभूत (पूषा) अ० १ । ६ । १ । पोषकः परमेश्वरः (दिवः) सूर्यस्य (पृथिव्याः) भूलोकस्य (उभे) द्वे द्यावापृथिव्यौ (अभि) प्रति (प्रियतमे)

(अभि) में (आ) हमारे निकट (च च) और (परा) दूर (चरति) विचरता रहता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि लोकों को परस्पर आकर्षण से धारण करता है, वही हमारा पालन पोषण करता है चाहे हम अपने घर के निकट वा दूर हों ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ६ ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् । स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेद । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभय-तमेन । नेषत् । स्वस्ति-दाः । आघृणिः । सर्व-वीरः । अप्र-युच्छन् । पुरः । एतु । प्र-जानन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (इमाः) इन (सर्वाः) सब (आशाः) दिशाओं को (अनु) लगातार (वेद) जानता है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) अत्यन्त अभय [मार्ग] से (नेषत्) ले चले । (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता, (आघृणिः) बड़ा प्रकाशमान (सर्ववीरः) सब में वीर, (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (अप्रयुच्छन्) विना चूक किये हुये (पुरः) हमारे आगे आगे (एतु) चले ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक, मङ्गलप्रद, सर्ववीर, महाबुद्धिमान् परमेश्वर को निरन्तर सहायक जानकर, मनुष्य उत्तम कर्मों में आगे बढ़े ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ५ ॥

अतिशयेन प्रीतिमत्यौ (सधस्थे) परस्पराकर्षणेन सहस्थितिशीले (आ) समीपे (च च) (परा) दूरे (चरति) गच्छति (प्रजानन्) प्रकृष्टविद्वान् ॥

२—(पूषा) पोषक ईश्वरः (इमाः) (आशाः) दिशः (अनु) निरन्तरम् (वेद) वेत्ति (सर्वाः) (सः) पूषा (अस्मान्) धार्मिकान् (अभयतमेन) अत्यन्तभयरहितेन पथा (नेषत्) नयतेर्लेट् । नयेत् (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता (आघृणिः) सम्यक् प्रकाशमानः (सर्ववीरः) सर्वेषु वीरः (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् (पुरः) अग्रे (एतु) गच्छतु (प्रजानन्) अतिविद्वान् ॥

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

पूषन् । तव । व्रते । वयम् । न । रिष्येम । कदा । चन ।
स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे पूषा, पालन करनेवाले परमेश्वर ! (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में [रहकर] (वयम्) हम (कदा चन) कभी भी (न) न (रिष्येम) दुःखी होवें। (इह) यहां पर (ते) तेरे (स्तोतारः) स्तुति करनेवाले (स्मसि) हम लोग हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमेश्वर के गुण और कर्मों के अनुकूल चलकर सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । ९ और यजु० ३४ । ४१ ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।
पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

परि । पूषा । परस्तात् । हस्तम् । दधातु । दक्षिणम् । पुनः ।
नः । नष्टम् । आ । अजतु । सम् । नष्टेन । गमेमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमात्मा (दक्षिणम्) अपना दाहिना (हस्तम्) हाथ (परस्तात्) पीछे से [हमारे पुरुषार्थानुकूल] (परि) सब ओर (दधातु) धारण करे। वह (नः) हमें (नष्टम्) नष्ट

३—(पूषन्) पोषक परमात्मन् (तव) (व्रते) वरणीये नियमे (वयम्) उपासकाः (न) निषेधे (रिष्येम) रिष हिंसायाम्, दैवादिकः, अकर्मकः । हिंसिता भवेम (कदा चन) कदापि (स्तोतारः) स्तावकाः (ते) तव (इह) अत्र (स्मसि) स्मः । भवामः ॥

४—(परि) परितः (पूषा) पोषकः परमात्मा (परस्तात्) उत्तरे काले (हस्तम्) कृपाहस्तम् (दधातु) धारयतु (दक्षिणम्) (पुनः) (नः)

बल को (पुनः) फिर (आ अजतु) लावे, [पाये हुये] (नष्टेन) नष्ट बल के साथ (सम् गमेमहि) हम मिले रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य बायें हाथ की अपेक्षा दाहिने हाथ से अधिक उपकार करता है, वैसेही परमात्मा अपनी पूरण कृपा हम पर रक्खे, जिससे हम प्रयत्न पूर्वक अपने खोये बल [प्रारब्ध फल] को फिर पाकर रख सकें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । १० ॥

सूक्तम् १० ॥

१ ॥ सरस्वती देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सरस्वतीविषयोपदेशः—सरस्वती के विषय का उपदेश ॥

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑ ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥ १ ॥

यः । ते॒ । स्तनः॑ । श॒श॒युः । यः । म॒यः॒-भूः । यः । सु॒म्न॒-युः । सु॒-हवः॑ । यः । सु॒-दत्रः॑ । येन॑ । विश्वा॑ । पुष्य॑सि । वार्या॑णि । सर॑स्वति । तम् । इ॒ह । धात॑वे । कः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती, विज्ञानवती स्त्री ! [वा वेद-विद्या] (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन, दूध का आधार (शशयुः) प्रशंसा पाने वाला, (यः) जो (मयोभूः) सुखदेनेवाला और (यः) जो (सुम्नयुः) उपकार करनेवाला, (सुहवः) अच्छे प्रकार ग्रहणयोग्य और

अस्मभ्यम् (नष्टम्) ध्वस्तं बलम् (आ अजतु) अज गतिक्षेपणयोः । आनयतु (नष्टेन) अदृष्टबलेन प्रारब्धफलेन (सं गमेमहि) संगच्छेमहि ॥

१—(यः) (ते) तव (स्तनः) दुग्धाधारः (शशयुः) शशमानः, अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । शशमानः शंशमानः—निरु० ६ । ८ । इति श्रवणात्, शंसु स्तुतौ—अ प्रत्ययः + या गतौ—कु, मृगय्वादित्वात्—उ० १ । ३७ । अनुस्वारलोपः सकारस्य शकारश्च छान्दसः । शंसं शंसां प्रशंसां याति यः सः (यः) (मयोभूः) सुखस्य भावयिता प्रापयिता (सुम्नयुः) छन्दसि परेच्छायां क्यच् । वा० पा० ३ । १ । ८ । सुम्न—क्यच्, उ प्रत्ययः । सुम्नं सुखं परेषामिच्छतीति

(यः) जो (सुदत्रः) बड़ा दानी है। (येन) जिस स्तन से (विश्वा) सब (वार्याणि) स्वीकरणीय अंगों को (पुष्यसि) तू पुष्ट करती है (तम्) उस स्तन को (इह) यहां (धातवे) पीने के लिये (कः) तू ने ठीक किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार विदुषी माता का दूध पीकर बालक शरीर से पुष्ट हो कान्तिमान् होता है, वैसेही विद्वान् पुरुष वेद विद्या का अमृत पान करके आत्मबल से पुष्ट होकर कीर्तिमान् होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद में है-म० १। १६४। ४६। और यजुर्वेद, ३८। ५। और श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि, जातकर्म में बालक के स्तन पान करने के विषय में आया है ॥

सूक्तम् ११ ॥

१ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अन्नरक्षोपदेशः—अन्न के रक्षा का उपदेश ॥

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्। मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

यः। ते। पृथुः। स्तनयित्नुः। यः। ऋष्वः। दैवः। केतुः। विश्वम्। आ-भूषति। इदम्। मा। नः। वधीः। वि-द्युता। देव। सस्यम्। मा। उत। वधीः। रश्मि-भिः। सूर्यस्य ॥१॥

यः। उपकारी (सुहवः) शोभनो हवो ग्रहणं यस्य सः (सुदत्रः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उ० ४। १५६। इति ददातेः ष्ट्रन्, ह्रस्वः। सुदत्रः कल्याणदानः-निरु० ६। १४। महादाता (येन) स्तनेन (विश्वा) सर्वाणि (पुष्यसि) पोषयसि (वार्याणि) वरणीयानि स्वीकरणीयानि अंगानि (सरस्वति) सरांसि विज्ञानानि सन्ति यस्यां सा विज्ञानवती स्त्री वेदवाणी वा, तत्सम्बुद्धौ (तम्) स्तनम् (इह) अस्मिन् कर्मणि (धातवे) धेट् पाने—तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः। धातुं पानं कर्तुम् (कः) करोतेर्लुङि। मन्त्रे घसह्वर०। पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुकि गुणे। हल्ङ्याब्भ्यो०। पा० ६। १। ६८। इति सिपो लोपः, अडभावे रूपम्। अकः। त्वं योग्यं कृतवती ॥

भाषार्थ—(देव) हे जलदाता मेघ ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) विस्तीर्ण और (यः) जो (ऋष्वः) इधर उधर चलनेवाला था बड़ा, (दैवः) आकाश में रहने वाला, (केतुः) जताने वाला झंडा रूप (स्तनयित्नुः) गर्जन (इदम् विश्वम्) इस सब स्थान में (आभूषति) व्यापता है । (नः) हमारे (सस्यम्) धान्य को (विद्युता) चमचमाती बिजुली से (मा वधीः) मत नाश कर, और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों से (उत) भी (मा वधीः) मत सुखा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी विपत्तियों का विचार रख कर पहिले से अन्न आदि के संचय से रक्षा का उपाय कर लेवें ॥१॥

सूक्तम् १२ ॥

१-४ ॥ सभापतिर्देवता १ त्रिष्टुप्; २-४ अनुष्टुप् ॥

सभापति कर्तव्योपदेशः—सभापति के कर्तव्यों का उपदेश ॥

स॒भा च॑ मा॒ समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संवि॒दाने । येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॒क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितरः॒ संग॑तेषु ॥ १ ॥

स॒भा । च॒ । मा॒ । सम्ऽइ॑तिः । च॒ । अ॒व॒ताम् । प्र॒जाऽप॑तेः । दु॒हि॒तरौ॑ । सं॒वि॒दा॒ने इति॑ स॒म्ऽवि॒दा॒ने । येन॑ । स॒म्ऽगच्छै॑ । उप॑ । मा॒ । सः॒ । शि॒क्षा॒त् । चारु॑ । व॒दा॒नि॒ । पि॒त॒रः॒ । सम्ऽग॑तेषु ॥१

१—(यः) (ते) तव (पृथुः) विस्तीर्णः (स्तनयित्नुः) अ० ४ । १५ । ११ । मेघध्वनिः (ऋष्वः) अशूप्रुषिलटि । उ० १ । १५१ । ऋष गतौ दर्शने च-क्वन् । इतस्ततो गन्ता । महान्—निघ० ३ । ३ (दैवः) दिव्—अण् । दिवि आकाशे भवः (केतुः) अ० ६ । १०३ । ३ । ज्ञापकः । ध्वजरूपः (विश्वम्) सर्वं स्थानम (आभूषति) भूष अलङ्कारे । व्याप्नोति (नः) अस्माकम् (मा वधीः) मा हिंसीः (विद्युता) अशन्या (देव) हे जलप्रद मेघ (सस्यम्) माछाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति षस स्वप्ने—य । धान्यम् (उत) अपि (मा वधीः) मा शोषय (रश्मिभिः) किरणैः (सूर्यस्य) सवितुः ॥.

भाषार्थ—(प्रजापतेः) प्रजापति अर्थात् प्रजारक्षक पुरुषार्थ की (दुहितरौ) पूरण करने वाली [वा दो पुत्रियों के समान हितकारी] (संविदाने) यथावत् मेल वाली (सभा) सभा, विद्वानों की संगति (च च) और (समितिः) एकता (मा) मुझे (अवताम्) तृप्त करें। (येन) जिस पुरुष के साथ (संगच्छै) मैं मिलूं, (सः) वह (मा) मुझे (उप) आदर से (शिक्षात्) समर्थ करे, (पितरः) हे पितरो, पालन करने वाले विद्वानो! (संगतेषु) सम्मेलनों के बीच मैं (चारु) ठीक ठीक (वदानि) बोलूं ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति ऐसा सुशिक्षित और सुयोग्य पुरुष हो कि संगठन की सफलता के लिये सब सभासद् एकमत हो जावें, और उसके धर्मयुक्त वचन को मानकर उसके सहायक रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० ६। सू० ६४। से करो ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

विद्म । ते । सभे । नाम । नरिष्टा । नाम । वै । असि । ये । ते । के । च । सभा-सदः । ते । मे । सन्तु । स-वाचसः ॥२॥

भाषार्थ—(सभे) हे सभा! (ते) तेरा (नाम) नाम (विद्म) हम जानते हैं, तू (नरिष्टा) नरों की इष्ट देवी (वै) ही (नाम) नाम वाली

१—(सभा) अ० ४। २१। ६। विद्वद्भिः प्रकाशमानः समाजः (च) (मा) मां सभापतिम् (समितिः) अ० ६। ६४। २। एकता। एकात्मता (प्रजापतेः) प्रजारक्षकस्य पुरुषार्थस्य (दुहितरौ) अ० ३। १०। १३। दुह प्रपूरणे—तृच्। प्रपूरयित्र्यौ। पुत्रीवत् हितकारिण्यौ (संविदाने) अ० २। २८। २। संगच्छमाने (येन) पुरुषेण सह (संगच्छै) संगतो भवानि (उप) आदरे (मा) माम् (सः) पुरुषः (शिक्षात्) शकेः सन्नन्तात् लेट्। शक्तं समर्थं कुर्य्यात् (चारु) अ० २। ५। १। मनोहरम् (वदानि) कथयानि (पितरः) हे पालका विद्वांसः (संगतेषु) सम्मेलनेषु ॥

२—(विद्म) अ० १। २। १। वयं जानीमः (ते) तव (सभे) (नाम) नामधेयम् (नरिष्टा) नर+इष्टा। शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। वा० पा० ६। १। ९४। इति पररूपम्। नराणामिष्टा हिता (नाम) नाम्ना (वै) खलु

(असि) है। (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (सभासदः) सभासद् हैं, (ते) वे सब (मे) मेरे लिये (सवाचसः) एक वचन (सन्तु) होवें ॥२॥

भावार्थ—उसी सभा से मनुष्यों का इष्ट सिद्ध होता है, जहां पर सभापति और सभासद् एक मन होकर धर्म का प्रचार करते हैं ॥२॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम्। अहम्। सम्-आसीनानाम्। वर्चः। विज्ञानम्। आ। ददे।
अस्याः। सर्वस्याः। सम्-सदः। माम्। इन्द्र। भगिनम्। कृणु ॥३॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [सभापति] (एषाम्) इन (समासीनानाम्) यथावत् बैठे हुये पुरुषों का (वर्चः) तेज और (विज्ञानम्) विज्ञान (आ ददे) अंगीकार करता हूं। (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (माम्) मुझ को (अस्याः) इस (सर्वस्याः संसदः) सब सभा का (भगिनम्) ऐश्वर्यवान् (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां सभापति और सब सभासद् एकमत होकर अपना पराक्रम और विज्ञान अर्थात् सूक्ष्म विचार बढ़ाते हैं, वहां पर सब ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

यत्। वः। मनः। परा-गतम्। यत्। बद्धम्। इह। वा। इह। वा।
तत्। वः। आ। वर्तयामसि। मयि। वः। रमताम्। मनः ॥ ४ ॥

(असि) वर्तसे (ये के) ये केचित् (ते) तव (सभासदः) सभ्याः (ते) सामाजिकाः (मे) मह्यम् (सन्तु) (सवाचसः) समानवाक्याः । एकवचनाः ॥

३—(एषाम्) पुरोवर्तिनाम् (अहम्) सभापतिः (समासीनानाम्) आस उपवेशने–शानच्। ईदासः। पा० ७।२।८३। आकारस्य ईकारः। यथावदुपविष्टानाम् (वर्चः) तेजः। पराक्रमम् (आ ददे) अङ्गीकरोमि (अस्याः) पुरःस्थितायाः (सर्वस्याः) (संसदः) सभायाः (माम्) (इन्द्र) हे परमेश्वर (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (कृणु) कुरु ॥

भाषार्थ-[हे सभासदो!] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (मनः) मन (परागतम्) उचट गया है, (वा) अथवा (यत्) जो (इह वा इह) इधर उधर [प्रतिकूल विषयों में (बद्धम्) बंधा हुआ है। (वर्तयामसि) हम लौटाते हैं [जिससे] (वः मनः) तुम्हारा मन (मयि) मुझ में (रमताम्) ठहर जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सभापति अपनी विशेष विज्ञानता से सभासदों का ध्यान निर्धारित विषय पर खींच कर कार्यसिद्धि करे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-२ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं को हराने का उपदेश ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उत्-यन् । तेजांसि । आ-ददे । एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥१॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (उद्यन्) उदय होते हुये (सूर्यः) सूर्य ने (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (तेजांसि) तेजों को (आददे) ले लिया है। (एव)

४—(यत्) (वः) युष्माकम् (मनः) मननम् (परागतम्) धर्मविषयादन्यत्रगतम् (यत्) (बद्धम्) संसक्तम् (इह वा इह) इतस्ततः। अनिश्चितविषये (वा) अथवा (तत्) मनः (वः) युष्माकम् (आ) आकृष्य (वर्तयामसि) अभिमुखं कुर्मः (मयि) प्रधाने (वः) (रमताम्) रमु उपरमे। तिष्ठतु (मनः) ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (सूर्यः) (नक्षत्राणाम्) तारकाणाम् (उद्यन्) उदयं प्राप्नुवन् (तेजांसि) प्रकाशान् (आददे) लिटि रूपम्। स जग्राह (एव) एवम् (स्त्रीणाम्) नारीणाम् (पुंसाम्) पुरुषाणाम् (च च) समुच्चये

वैसे ही (द्विषताम्) द्वेषी (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च च) और (पुंसाम्) पुरुषों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैंने ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधर्मी वैरियों को दबा कर ऐसा निस्तेज कर देवे, जैसे सूर्य के निकलने पर तारे निस्तेज हो जाते हैं ॥ १ ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

यावन्तः । मा । स-पत्नानाम् । आ-यन्तम् । प्रति-पश्यथ । उत्-यन् । सूर्यः-इव । सुप्तानाम् । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥२॥

भाषार्थ—(सपत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने लोग तुम (मा आयन्तम्) मुझ आते हुये को (प्रतिपश्यथ) निहारते हो। (द्विषताम्) उन वैरियों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैं लिये लेता हूं (इव) जैसे (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य (सुप्तानाम्) सोते हुये पुरुषों का ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के उदय होने पर सोने वाले आलसियों का बल घट जाता है। वैसे ही तेजस्वी पुरुष अपने वैरियों को पराक्रम हीन कर देवे ॥ २ ॥

इतिप्रथमोऽनुवाकः ।

(द्विषताम्) पुमान् स्त्रिया। पा० १। २। ६७। इत्येकशेषः। द्विषतीनां स्त्रीणां द्विषतां पुरुषाणां च (वर्चः) तेजः (आददे) अहं जग्राह ॥

२—(यावन्तः) यत्परिमाणाः (मा) माम् (सपत्नानाम्) शत्रूणां मध्ये (आयन्तम्) अभिगच्छन्तम् (प्रतिपश्यथ) निरीक्षध्वे (उद्यन्) उद्गच्छन् (सूर्यः) (इव) यथा (सुप्तानाम्) स्वपतां जनानाम् (द्विषताम्) अप्रियकराणाम् (वर्चः) तेजः (आददे) लटि रूपम्। गृह्णामि ॥

अथद्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ सविता देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओण्योः । कवि-क्रतुम् ।
अर्चामि । सत्य-सवम् । रत्न-धाम् । अभि । प्रियम् । मतिम् ॥१॥

भाषार्थ—(त्यम्) उस (देवम्) सुखदाता (ओण्योः) सूर्य और पृथिवी के (सवितारम्) उत्पन्न करने वाले, (कविक्रतुम्) सर्वज्ञ बुद्धि वा कर्म वाले, (सत्यसवम्) सच्चे ऐश्वर्य वाले, (रत्नधाम्) रमणीय विज्ञानों वा हीरा आदिकों वा लोकों के धारण करने वाले, (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (मतिम्) मनन करने वाले, परमेश्वर को (अभि अभि) बहुत भले प्रकार (अर्चामि) मैं पूजता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा, प्रजा और सब विद्वान् लोग उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके सदा धर्म के अनुकूल बरतें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से सामवेद में हैं—पू० ५ । ८ । ८ और यजु० ४ । २५ ॥

१—(अभि अभि) सर्वतः सर्वतः (त्यम्) प्रसिद्धम् (देवम्) सुखदातारम् (सवितारम्) उत्पादकम् (ओण्योः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । ओणृ अपनयने—इन् । कृदिकारादक्तिनः । पा० ४ । १ । ४५ । इति ङीष् । द्यावापृथिव्योः—निघ० ३ । ३० (कविक्रतुम्) कविः सर्वज्ञः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य तम् । कविः क्रान्त दर्शनो भवति कवतेर्वा—निरु० १२ । १३ (अर्चामि) पूजयामि (सत्यसवम्) सत्यैश्वर्ययुक्तम् (रत्नधाम्) रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भवनानि वा दधातीति तम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् । (मतिम्) मनु अवबोधने—क्तिच् । मन्तारम् । मतयो मेधाविनः—निघ० ३ । १५ ॥

ऊ॒र्ध्वा यस्या॒मति॒र्भा अदि॑द्युत॒त् सवी॑मनि ।
हिर॑ण्यपाणिरमिमीत सु॒क्रतु॑: कृ॒पात् स्वः॑ ॥ २ ॥

ऊ॒र्ध्वा । यस्य॑ । अ॒मतिः॑ । भाः । अदि॑द्युतत् । सवी॑मनि ।
हिर॑ण्य-पाणिः । अ॒मि॒मी॒त॒ । सु॒-क्रतु॑ः । कृ॒पात् । स्वः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊंची, (अमतिः) व्यापनेवाली (भाः) चमक (सवीमनि) सृष्टि के बीच (अदिद्युतत्) चमकी हुई है । (हिरण्यपाणिः) अन्धकार वा दरिद्रता हरने वाले सूर्य आदि और सुवर्ण आदि तेजों के व्यवहार वाले, (सुक्रतुः) उत्तम बुद्धि वा कर्मवाले उस ईश्वर ने (कृपात्) अपने सामर्थ्य से (स्वः) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष सुख (अमिमीत) रचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—उस जगदीश्वर की अनन्तशक्ति का विचार करके मनुष्य मोक्ष आनन्द के लिये सदा प्रयत्न करें ॥ २ ॥

सावी॒र्हि दे॑व प्रथ॒माय॑ पि॒त्रे व॒र्ष्माण॑मस्मै वरि॒माण॑-
मस्मै । अथा॒स्मभ्यं॑ सवित॒र्वार्या॑णि दि॒वोदि॑व॒ आ
सु॑वा॒ भूरि॑ प॒श्वः ॥ ३ ॥

सावीः॑ । हि । दे॒व॒ । प्र॒थ॒माय॑ । पि॒त्रे । व॒र्ष्माण॑म् । अ॒स्मै॒ ।

२—(ऊर्ध्वा) उत्कृष्टा (यस्य) सवितुः । परमेश्वरस्य (अमतिः) अमेरतिः । उ० ४ । ५९ । अम गतौ—अति । व्यापनशीला (भाः) दीप्तिः (अदिद्युतत्) द्युत दीप्तौ स्वार्थे णिजन्ताच् चङि, रूपम् अद्युतत् । अदीपि (सवीमनि) जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४९ । इति षूङ् प्राणिप्रसवे—इमनिन्, वा दीर्घः । सवीमनि प्रसवे-निरु०, ६ । ७ । सृष्टौ (हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि अन्धकारस्य दारिद्र्यस्य वा हरणशीलानि सूर्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः (अमिमीत) अ० ५ । १२ । ११ । निर्मितवान् (सुक्रतुः) शोभना क्रतुः प्रज्ञा, कर्म वा यस्य सः (कृपात्) कृपू सामर्थ्ये—क । स्वसामर्थ्यात् (स्वः) स्वर्गं मोक्षसुखम् ॥

व॒रि॒माण॑म् । अ॒स्मै॑ । अथ॑ । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒वि॒तः॒ । वार्या॑णि । दि॒वः-दि॑वः । आ । सु॒व॒ । भूरि॑ । प॒श्वः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू ने (हि) ही (प्रथमाय) हम से पहिले वर्तमान (पित्रे) पालन करने वाले (अस्मै) इस [पुरुष] को और (अस्मै) इस [दूसरे पुरुष] को (वर्ष्माणम्) उच्च स्थान और (वरिमाणम्) फैलाव वा उत्तमपन (सावीः) दिया है। (अथ) सो (सवितः) हे सर्वप्रेरक परमेश्वर ! (अस्मभ्यम्) हमें (दिवोदिवः) सब दिनों (वार्याणि) उत्तम विज्ञान और धन और (भूरि) बहुत (पश्वः) मनुष्य, गौ, घोड़ा, हाथी आदि (आ सुव) भेजता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परमेश्वर ने हमसे पहिले उपकारी महात्माओं को उच्च पदवी दी है, वैसे ही परमेश्वर की आज्ञा मान कर हम भी सुख के भागी होवें ॥ ३ ॥

दमू॑ना दे॒वः स॑वि॒ता वरे॑ण्यो॒ दध॒द् रत्नं॒ दक्षं॑ पि॒तृभ्य॒ आयूं॑षि । पिबा॒त् सोमं॑ म॒मद॑देनमि॒ष्टे परि॑ज्मा चि॒त् क्रमते अस्य॒ धर्म॑णि ॥ ४ ॥

दमू॑नाः । दे॒वः । स॒वि॒ता । वरे॑ण्यः । दध॑त् । रत्न॑म् । दक्ष॑म् ।

३—(सावीः) षू प्रेरणे—लुङ्, अडभावः । प्रेरितवानसि (हि) निश्चयेन (देव) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (प्रथमाय) अस्मत्प्रथमभवाय (पित्रे) पालकाय । उपकारिणे पुरुषाय (वर्ष्माणम्) अ० ३ । ४ । २ । उन्नतस्थानम् (अस्मै) एकस्मै पुरुषाय (वरिमाणम्) अ० ४ । ६ । २ । उरु यद्वा वर-इमनिच् । उरुत्वं विस्तारम् । वरत्वं श्रेष्ठत्वम् (अस्मै) अन्यस्मै (अथ) तस्मात् (अस्मभ्यम्) (सवितः) हे सर्वप्रेरक (वार्याणि) वरणीयानि विज्ञानानि धनानि वा (दिवोदिवः) दिवसान् दिवसान् (आसुव) अभिमुखं प्रेरय (भूरि) बहूनि (पश्वः) छान्दसं रूपम् । अ० १ । ३० । ३ । पशून् । मनुष्यादिजीवान् । पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ ॥

पितृ-भ्यः । आयूंषि । पिबात् । सोमम् । ममदत् । एनम् । इष्टे । परि-ज्मा । चित् । क्रमते । अस्य । धर्मणि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दमूनाः) दमनशील शान्त स्वभाव, (देवः) व्यवहार-कुशल, (वरेण्यः) स्वीकार योग्य (सविता) चलाने वाला पुरुष (पितृभ्यः) पालन करने वाले विद्वानों के हित के लिये (रत्नम्) रमणीय धन, (दत्तम्) बल और (आयूंषि) जीवन साधनों को (दधत्) धारण करता हुआ (सोमम्) अमृत का (पिवात्) पान करे, और (एनम्) इस [परमेश्वर] को (इष्टे) यज्ञ में (ममदत्) प्रसन्न करे, (परिज्मा) सब ओर चलने वाला पुरुष (चित्) ही (अस्य) इस [परमेश्वर] के (धर्म्मणि) धर्म अर्थात् नियम में (क्रमते) चला जाता है ॥४॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा करते हैं, और सर्वत्रगति होते हैं, वे ही आनन्द रस पीते हुये ईश्वर की आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

४—(दमूनाः) दमेरुनसि । उ० ४ । २३५ । दमु उपशमे—उनसि, वा दीर्घः । दमिता । शान्तस्वभावः । दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वा । अथवा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यान्मनो मनोतेः—निरु० ४ । ४ (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) नायकः पुरुषः (वरेण्यः) वृञ्एण्यः । उ० ३ । ९८ । वृञ् वरणे—एण्य । स्वीकरणीयः (दधत्) धारयन् (रत्नम्) रमणीयं धनम् (दत्तम्) बलम् (पितृभ्यः) पालकानां विदुषां हिताय (पिबात्) लेटि रूपम् । पिबेत् (सोमम्) अमृतरसम् (ममदत्) लेडर्थे माद्यतेर्ण्यन्तात्, लुङि, चङि रूपम् । मदयेत् । तर्पयेत् (एनम्) अन्तर्यामिनं जगदीश्वरम् (इष्टे) यज्ञे (परिज्मा) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । अज गतिक्षेपणयोः कनिन्, मुडागमः, अकारलोपः । परितोगन्ता । सर्वत्रगतिः पुरुषः (चित्) एव (क्रमते) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः पा० ३ । १ । ३८ । इत्यात्मनेपदम् । अप्रतिबद्धो गच्छति (अस्य) परमेश्वरस्य (धर्मणि) धारणीये नियमे ॥

सूक्तम् १५ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कृत्य का उपदेश॥

तां स॑वितुः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्ववा॑राम् । याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑हत् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥ १ ॥

ताम् । स॒वि॒तुः । स॒त्य-स॑वाम् । सु-चि॒त्राम् । आ । अ॒हम् । वृ॒णे॒ । सु-म॒तिम् । वि॒श्व-वा॑राम् । याम् । अ॒स्य॒ । कण्वः॑ । अदु॑हत् । प्र-पी॑नाम् । स॒हस्र॑-धाराम् । म॒हि॒षः । भगा॑य ॥१॥

भाषार्थ—(सवितः) हे सब ऐश्वर्य वाले आचार्य ! (ताम्) उस (सत्यसवाम्) सत्य ऐश्वर्यवाली, (सुचित्राम्) बड़ी विचित्र, (विश्ववाराम्) सब से स्वीकार करने योग्य (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषयवाली बुद्धि] को (अहम्) मैं (आ) आदरपूर्वक (वृणे) मांगता हूं, (याम्) जिस (प्रपीनाम्) बहुत बढ़ी हुई, (सहस्रधाराम्) सहस्रों विषयों की धारण करनेवाली [सुमति] को (अस्य) इस [जगत्] के (भगाय) ऐश्वर्य के लिये (कण्वः) मेधावी, (महिषः) पूजनीय परमात्मा ने (अदुहत्) परिपूर्ण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—तपस्वी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी योगी, आप्त विद्वान् पुरुषों से संसार के हित के लिये परमेश्वरदत्त वेद द्वारा अपनी बुद्धि को बढ़ाते रहें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ७४ ॥

१—(ताम्) (सवितः) सर्वैश्वर्यवन्नाचार्य (सत्यसवाम्) सत्यैश्वर्ययुक्ताम् (सुचित्राम्) अमिचिमि० । उ० ४ । १६४ । चिञ् चयने-क्त्र । सुचयनीयाम् । महाविचित्रविषयाम् (आ) अङ्गीकारे (अहम्) स्त्री पुरुषो वा (वृणे) याचे (सुमतिम्) शोभनां यथाविषयां प्रज्ञाम् (विश्ववाराम्) सर्वैर्वरणीयाम् (याम्) सुमतिम् (अस्य) प्रसिद्धस्य जगतः (कण्वः) अ० २ । ३२ । ३ । मेधावी निघ० ३ । १५ (अदुहत्) परिपूरितवान् (प्रपीनाम्) प्यायतेः-क्त, पीभावः । प्रवृद्धाम् (सहस्रधाराम्) सहस्रमसंख्यानर्थान् धरति ताम् (महिषः) अ० २ । २५ । ४ । पूजनीयः परमेश्वरः (भगाय) ऐश्वर्याय ॥

सूक्तम् १६ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः–राजा के धर्म का उपदेश ॥

बृह॑स्पते॒ सवि॑तर्व॒र्धयै॑नं ज्यो॒तयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय ।
संशि॑तं चि॒त् संत॒रं सं शि॑शाधि॒ विश्व॑ एन॒मनु॑ मदन्तु दे॒वाः ॥ १ ॥

बृह॑स्पते । सवि॑तः । व॒र्धय॑ । ए॒न॒म् । ज्यो॒तय॑ । ए॒न॒म् । म॒ह॒ते । सौभ॑गाय । सम्ऽशि॑तम् । चि॒त् । सम्ऽत॒रम् । सम् । शि॒शा॒धि॒ । विश्वे॑ । ए॒न॒म् । अनु॑ । म॒द॒न्तु॒ । दे॒वाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बड़े सज्जनों के रक्षक ! (सवितः) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त उपदेशक ! (एनम्) इस [राजा] को (महते) बड़े (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (वर्धय) बढ़ा और (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (चित्) और (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (एनम्) इस [राजा] को (सन्तरम्) अतिशय करके (सम्) यथावत् (शिशाधि) शिक्षा दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् सभ्य लोग (एनम्) इस [राजा] के (अनु मदन्तु) अनुकूल प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजसभा का उपदेशक राजा आदि सज्जनों को उत्तम उत्तम उपदेश द्वारा सुशीलता प्राप्त कराके ऐश्वर्य बढ़ाने में प्रवृत्त करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है–अ० २७ । ८ ॥

१—(बृहस्पते) बृहतां सज्जनानां पालक (सवितः) विद्यैश्वर्ययुक्तोपदेशक (वर्धय) समर्धय (एनम्) राजानम् (ज्योतय) ज्योतते, ज्वलतिकर्मा–निघ० १ । १६ । ज्योतिर्वन्तं प्रतापिनं कुरु (एनम्) (महते) विशालाय (सौभगाय) उत्तमैश्वर्यभावाय (संशितम्) शो तनूकरणे–क्त । तीक्ष्णबुद्धिम् (चित्) अपि (संतरम्) समस्तरपि प्रत्यये । अमुचच्छन्दसि । पा०५ । ४ । १२। इति अम् । अतिशयेन (सम्) सम्यक् (शिशाधि) अ० ४ । ३१ । ४ । शाधि । शिक्षय (विश्वे) सर्वे (एनम्) (अनु) अनुलक्ष्य (मदन्तु) आनन्दन्तु (देवाः) विद्वांसः सभ्याः ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-४ ॥ धाता देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

गृहस्थकृत्योपदेशः—गृहस्थ के कर्म का उपदेश ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता । दधातु । नः । रयिम् । ईशानः । जगतः । पतिः । सः । नः । पूर्णेन । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ईशानः) ऐश्वर्यवान् (जगतः पतिः) जगत् का पालने वाला, (धाता) धाता विधाता [सृष्टि कर्त्ता] (नः) हमें (रयिम्) धन (दधातु) देवे। (सः) वही (नः) हमको (पूर्णेन) पूर्ण बल से (यच्छतु) ऊंचा करे ॥ १ ॥

भावार्थ-गृहस्थ लोग जगत्पति परमात्मा के अनुग्रह से प्रयत्न करके धन और बल बढ़ाकर सुखी रहें ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता । दधातु । दाशुषे । प्राचीम् । जीवातुम् । अक्षिताम् । वयम् । देवस्य । धीमहि । सु-मतिम् । विश्व-राधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धाता) सब का पोषण करने वाला ईश्वर (दाशुषे) उदारचित पुरुष को (प्राचीम्) अच्छे प्रकार आदर योग्य (अक्षिताम्) अक्षय

१—(धाता) सर्वस्य विधाता--निरु० ११ । १० । सृष्टिकर्ता (दधातु) ददातु (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (ईशानः) ईश्वरः (जगतः) (पतिः) पालकः (सः) धाता (नः) अस्मान् (पूर्णेन) समस्तेन बलेन (यच्छतु) यम-लोट् । उद्यच्छतु । उन्नयतु ॥

२—(धाता) सर्वपोषकः (दधातु) ददातु (दाशुषे) अ० ४ । २४ । १। दानशीलाय (प्राचीम्) प्रकर्षेण पूज्याम् (जीवातुम्) अ० ६ । ५ । २ ।

(जीवातुम्) जीविका (दधातु) देवे। (विश्वराधसः) सर्वधनी (देवस्य) प्रकाश स्वरूप ईश्वर की (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषय वाली बुद्धि] को (वयम्) हम (धीमहि) धारण करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के धारण पोषण आदि गुणों के चिन्तन से बुद्धि बढ़ा कर धनी और बली होवें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि, सीमन्तोन्नयन में और निरुक्त ११ । ११ । में आया है ।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३॥

धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजा-कामाय । दाशुषे । दुरोणे । तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे । देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धाता) सब का धारण करने वाला परमेश्वर (विश्वा) सब (वार्या) उत्तम विज्ञान और धन (प्रजाकामाय) प्रजा, उत्तम सन्तान भृत्य आदि चाहने वाले (दाशुषे) दानशील पुरुष को (दुरोणे) उसके घर में (दधातु) देवे। (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग और (देवाः) उत्तम गुण और (सजोषाः) समान प्रीतिवाली (अदितिः) अदीन भूमि (तस्मै)

जीविकाम्—निरु० ११। ११ (अदिताम्) अदीणाम् (वयम्) पुरुषार्थिनः (देवस्य) प्रकाश स्वरूपस्य (धीमहि) डुधाञ् धारणपोषणयोः-विधिलिङ् । छन्दस्युभयथा। पा० ३। ४। ११७। आर्धधातुकत्वाच्छब् न। आतो लोप इटि च। पा० ६। ४। ६४। आकारलोपः। दधीमहि। धरेम (सुमतिम्) कल्याणीं मतिम् (विश्वराधसः) सर्वधनिनः ॥

३—(धाता) (विश्वा) सर्वाणि (वार्या) उत्तमानि विज्ञानानि धनानि च (दधातु) प्रयच्छतु (प्रजाकामाय) उत्तमसन्तानभृत्यादीच्छवे (दुरोणे) अ० ५। २। ६। गृहे (तस्मै) पुरुषाय (देवाः) विद्वांसः (अमृतम्) अमरणम्। पूर्णसुखम् (सम्) सम्यक् (व्ययन्तु) व्यय गतौ, वित्तसमुत्सर्गे च।

उस पुरुष को (अमृतम्) अमृत [पूर्ण सुख] (सम) यथावत् (व्ययन्तु) पहुंचावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग परमेश्वर की उपासना, विद्वानों की संगति, उत्तम गुणों की प्राप्ति और भूगोल विद्या की उन्नति से विज्ञानपूर्वक सुख-वृद्धि करें ॥ ३ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजा-पतिः । निधि-पतिः । नः । अग्निः । त्वष्टा । विष्णुः । प्र-जया । सम्-रराणः । यजमानाय । द्रविणम् । दधातु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सविता) सर्वप्रेरक, (धाता) धारण करने वाला, (रातिः) दानाध्यक्ष, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (निधिपतिः) निधिपति [कोशाध्यक्ष] और (अग्निः) अग्नि समान [अविद्या रूपी अन्धकार का नाश करने वाला] विद्वान् पुरुष [यह सब अधिकारी](नः) हमारे (इदम्) इस [गृहस्थ कर्म] को (जुषन्ताम्) सेवन करें । (विष्णुः) सर्व व्यापक, (संरराणः) सम्यक् दाता, (त्वष्टा) निर्माता परमेश्वर (प्रजया) प्रजा के सहित वर्तमान (यजमानाय) पदार्थों के संयोजक वियोजक विज्ञानी को (द्रविणम्) बल वा धन (दधातु) देवे ॥ ४ ॥

गमयन्तु । ददतु (विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः (अदितिः) अदीना पृथिवी (सजोषाः) समानप्रीतिः ॥

४—(धाता) धारकः (रातिः) कर्तरि क्तिच् । दानाध्यक्षः (सविता) नायकः (इदम्) दृश्यमानं गृहस्थकर्म (प्रजापतिः) प्रजापालकः (निधिपतिः) कोशाध्यक्षः (नः) अस्माकम् (अग्निः) अग्नितुल्योऽविद्यान्धकारदाहको विद्वान् (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सृष्टिकर्त्ता (विष्णुः) सर्वव्यापकः (प्रजया) (संरराणः) अ० २ । ३४ । ३ । सम्यग् दाता (यजमानाय) पदार्थानां संयोजकवियोजकविज्ञानिने (द्रविणम्) बलं धनं वा (दधातु) ददातु ॥

भावार्थ—जैसे राजा राज्य की उन्नति के लिये अनेक अधिकारी रखता है, वैसे ही गृहस्थ लोग घर का प्रबन्ध करके परमेश्वर के अनुग्रह से बल और धन बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ८। १७॥

सूक्तम् १८ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

दूरदर्शित्वोपदेशः—दूरदर्शी होने का उपदेश ॥

प्र नंभस्व पृथिवि भिन्द्धी३'दं दिव्यं नभः ।
उद्नो दिव्यस्यं नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

प्र । नभस्व । पृथिवि । भिन्द्धि । इदम् । दिव्यम् । नभः ।
उद्नः । दिव्यस्यं । नः । धातः । ईशानः । वि । स्य । दृतिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे अन्तरिक्ष ! [वायु] (इदम्) इस (दिव्यम्) आकाश में छाये हुये (नभः) जल को (प्र) उत्तम रीति से (नभस्व) गिरा और (भिन्द्धि) छिन्न भिन्न कर दे [फैला दे]। (धातः) हे पोषक, सूर्य ! (ईशानः) समर्थ तू (नः) हमारे लिये (दिव्यस्य) दिव्य [उत्तम गुण वाले] (उद्नः) जलके (दृतिम्) पात्र [मेघ] को (वि ष्य) खोल दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तरिक्षस्थ वायु और सूर्य के संयोग वियोग सामर्थ्य से आकाश से जल बरस कर संसार का उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या आदि शुभ गुणों की बरसा से उपकार करें ॥ १ ॥

१—(प्र) प्रकर्षेण (नभस्व) नभते, वधकर्मा-निघ० २। १९। पातय (पृथिवि) अन्तरिक्ष—निघ० १। ३। वायो इत्यर्थः (भिन्द्धि) छिन्नं भिन्नं कुरु (इदम्) (दिव्यम्) दिव्याकाशे भवम् (नभः) उदकम्—निघ० ११। १२। (उद्नः) पद्दन्नोमासहृन्निश०। पा० ६। १। ६३। उदकस्य, उदन्। उदकस्य (दिव्यस्य) उत्तमगुणस्य (नः) अस्मभ्यम् (धातः) हे पोषक सूर्य (ईशानः) समर्थः (वि ष्य) षो अन्तकर्मणि। विमुञ्च (दृतिम्) दृणातेर्ह्रस्वः। उ० ४। १८४। इति दॄ विदारणे—ति। चर्ममयं जलपात्रम् ॥

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः। आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥ २ ॥

न । घ्रन् । ततापं । न । हिमः । जघान । प्र । नभताम् । पृथिवी । जीर-दानुः । आपः । चित् । अस्मै । घृतम् । इत् । क्षरन्ति । यत्र । सोमः । सदम् । इत् । तत्र । भद्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—((घ्रन्) चमकता हुआ सूर्य (न तताप) न तपावे (न) न (हिमः) शीत (जघान) मारे, [किन्तु] (जीरदानुः) गति देनेवाला (पृथिवी) अन्तरिक्ष [जल को] (प्र) अच्छे प्रकार (नभताम्) गिरावे। (आपः) सब प्रजायें (चित्) भी (अस्मै) इस [जगत्] के लिये (घृतम्) सार रस (इत्) ही (क्षरन्ति) बरसती हैं, (यत्र) जहां (सोमः) ऐश्वर्य है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) कल्याण है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे दूरदर्शी ऐश्वर्यवान् पुरुष ठीक ठीक वृष्टि से लाभ उठाकर अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अतिशीत के दुःखों से बचे रहते हैं। वैसी ही ज्ञानी पुरुष शान्त स्वभाव परमात्मा के विचार से आत्मिक क्लेशों से अलग रहकर मङ्गल मनाते हैं ॥ २ ॥

२—(न) निषेधे (घ्रन्) घृ भासे—शतृ, अकारलोपः। घरन्। भासमानः सूर्यः (तताप) छन्दसि लुङलङ्लिटः। पा० ३। ४। ६। लिङर्थे—लिट्। तापयेत् (न) (हिमः) हन्तेर्हि च। उ० १। १४७। हन्तेर्मक्। शीतलस्पर्शः (जघान) हन्यात् (प्र) प्रकर्षेण (नभताम्)—म० १। हन्तु। पातयतु, नभ इति शेषः—म० १ (पृथिवी) अन्तरिक्षम् (जीरदानुः) जीर-दानुः। जोरी च। उ० २। २३। जु गतौ—रक्, ईकारादेशः। जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २। १५। दाभाभ्यां नुः। ३०३। ३२ + इति ददातेर्नु। गतिप्रदा (आपः) सर्वाः प्रजाः (चित्) अपि (अस्मै) जगते (घृतम्) तत्त्वरसम् (क्षरन्ति) सिञ्चन्ति (यत्र) (सोमः) ऐश्वर्यम् (सदम्) सर्वदा (तत्र) (भद्रम्) कल्याणम् ॥

सूक्तम् १९ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—बढ़ती करने का उपदेश ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः
संजानानाःसंमनसःसयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु॥१

प्रजा-पतिः । जनयति । प्र-जाः । इमाः । धाता । दधातु ।
सु-मनस्यमानः । सम्-जानानाः । सम्-मनसः । स-योनयः ।
मयि । पुष्टम् । पुष्ट-पतिः । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (इमाः) इन सब (प्रजाः) सृष्टि के जीवों को (जनयति) उत्पन्न करता है, वह (सुमनस्यमानः) शुभचिन्तक (धाता) पोषक परमात्मा [इनका] (दधातु) पोषण करे [जो] (संजानानाः) एक ज्ञान वाली, (संमनसः) एक मन वाली और (सयोनयः) एक कारण वाली हैं, (पुष्टपतिः) वह पोषण का स्वामी [प्रजायें] (मयि) मुझ में (पुष्टम्) पोषण (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के प्रजापालकत्व आदि गुणों का विचार कर के प्रीतिपूर्वक अपनी वृद्धि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-६ ॥ अनुमतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३—५ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

मनुष्यकर्त्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।

१—(प्रजापतिः) सृष्टिपालकः परमात्मा (जनयति) उत्पादयति (प्रजाः) सर्वाः सृष्टीः (इमाः) परिदृश्यमानाः (धाता) पोषकः (दधातु) पोषयतु (सुमनस्यमानः) अ० १ । ३५ । १ । शुभचिन्तकः (संजानानाः) समानज्ञानाः (संमनसः) संगतमनस्काः (सयोनयः) समानकारणाः प्रजाः (मयि) उपासके (पुष्टम्) पोषम् (पुष्टपतिः) पोषस्य रक्षकः (दधातु) (धरयतु) ॥

अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नः । अनु-मतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् ।
अग्निः । च । हव्य-वाहनः । भवताम् । दाशुषे । मम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति, अनुकूल बुद्धि (अद्य) आज (नः) हमारे (यज्ञम्) संगति व्यवहार को (देवेषु) विद्वानों में (अनु मन्यताम्) निरन्तर माने । (च) और (अग्निः) अग्नि [पराक्रम] (मम दाशुषे) मुझ दाता के लिये (हव्यवाहनः) ग्राह्य पदार्थों का पहुंचाने वाला (भवतम्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धार्मिक व्यवहारों में अनुकूल बुद्धिवाले और पराक्रमी होते हैं, वेही उत्तम पदार्थों को पाकर सुखी होते हैं ॥ १ ॥

निरुक्त ११ । २६ के अनुसार (अनुमति) पूर्णमासी का नाम है । अर्थात् हमारा समय पौर्णमासी के समान पुष्टि और हर्ष करनेवाला हो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३४ । ६ ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनु-मते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नः । कृधि ।
जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नः ॥ २ ॥

१—(अनु) निरन्तरम् (अद्य) अस्मिन् दिने (नः) अस्माकम् (अनुमतिः) अ० १ । १८ । २ । अनुकूला बुद्धिः । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते । अनुमतिरनुमननात्—निरु० ११ । २६ । (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (देवेषु) विद्वत्सु (मन्यताम्) जानातु । ज्ञापयतु (अग्निः) पराक्रमः (च) (हव्यवाहनः) हव्येऽनन्तः पादम् । पा० । ३ । २ । ६६ । इति हव्य+वह प्रापणे ल्युट् । ग्राह्यपदार्थस्य प्रापकः (भवताम्) आत्मनेपदं छान्दसम् । भवतात् (दाशुषे) दानशीलाय (मम) चतुर्थ्यां षष्ठी । मह्यम् ॥

भाषार्थ—(अनुमते) हे अनुमति ! [अनुकूल बुद्धिः] (त्वम्) तू (इत्) अवश्य [हमारी प्रार्थना] (अनु मंससे) सदा मानती रहे, (च) और (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याण (कृधि) कर । (हव्यम्) ग्रहण योग्य (आहुतम्) यथावत् दिया पदार्थ (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) सन्तान भृत्य आदि (रराख) दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि द्वारा पथ्य कुपथ्य विचार कर युक्त आहार विहार करके उत्तम सन्तान और भृत्य आदि पाकर सुख भोगें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से यजु० में है—३४ । ८ ॥

अनु॑ मन्यताम॒नुमन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सुम॒तौ स्या॑म ३

अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् । अ॒नु॒-मन्य॑मानः । प्र॒जा-व॑न्तम् । र॒यिम् । अक्षी॑यमाणम् । तस्य॑ । व॒यम् । हेड॑सि । मा । अपि॑ । भू॒म॒ । सु॒-मृ॒डी॒के । अ॒स्य॒ । सु॒-म॒तौ । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अनुमन्यमानः) निरन्तर जानने वाला परमेश्वर (प्रजावन्तम्) उत्तम सन्तान, भृत्य आदि वाला, (अक्षीयमाणम्) न घटने वाला (रयिम्) धन (अनु) अनुग्रह करके (मन्यताम्) जतावे । (वयम्) हम (तस्य) उसके (हेडसि) क्रोध में (अपि) कभी (मा भूम) न होवें, (अस्य)

२—(अनु) निरन्तरम् (इत्) एव (अनुमते)-म०१ । अनुकूलबुद्धे (त्वम्) (मंससे) मन ज्ञाने अवबोधने च—लेट् । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इत्यट् । अवमन्येथाः (शम्) कल्याणम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (जुषस्व) स्वीकुरु (हव्यम्) ग्राह्यम् (आहुतम्) समन्तात् समर्पितम् (प्रजाम्) सन्तानभृत्यादिरूपाम् (देवि) दिव्यगुणे (रराख) रातेः शपः श्लुः, आत्मने पदं च । देहि ॥

३—(अनु) सर्वदा (मन्यताम्) ज्ञापयतु (अनुमन्यमानः) निरन्तरं मन्ता ज्ञाता परमेश्वरः (प्रजावन्तम्) प्रशस्तसन्तानभृत्यादियुक्तम् (रयिम्) धनम् (अक्षीयमाणम्) क्षि क्षये—शानच् । अक्षीणम् (तस्य) ईश्वरस्य (वयम्)

इसके (सुमृडीके) उत्तम सुख में और (सुमतौ) सुमति [कल्याणी बुद्धि] में (स्याम) बने रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक रीति में प्राप्त किये धन से प्रजा पालन करके ईश्वर की आज्ञा में सुखके साथ सदा वर्तमान रहें ॥ ३ ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु। तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत्। ते। नाम। सु-हवम्। सु-प्रनीते। अनु-मते। अनु-मतम्। सु-दानु। तेन। नः। यज्ञम्। पिपृहि। विश्व-वारे। रयिम्। नः। धेहि। सु-भगे। सु-वीरम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुप्रणीते) हे उत्तम नीतिवाली ! [वा भले प्रकार चलाने वाली] (अनुमते) अनुमति ! [अनुकूल बुद्धि] (यत्) जो (ते) तेरा (नाम) नाम [यश] (सुहवम्) आदर से आवाहन योग्य, (सुदानु) बड़ा दानी (अनुमतम्) निरन्तर माना गया है। (विश्ववारे) हे वरणीय पदार्थों वाली ! (तेन) उस [अपने यश] से (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरण कर दे, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (नः) हमें (सुवीरम्) अच्छे वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दे ॥ ४ ॥

(हेडसि) क्रोधे—निघ० २। १३। (अपि) कदापि (मा भूम) न स्याम (सुमृडीके) मृडः कीकचकङ्कणौ। उ० ४। २४। इति मृड सुखने—कीकच्। शोभने सुखे (अस्य) (सुमतौ) कल्याण्यां बुद्धौ (स्याम) भवेम ॥

४—(यत्) (ते) तव (नाम) यशः (सुहवम्) आदरेण ह्वातव्यम् (सुप्रणीते) शोभननीतियुक्ते। सुष्ठुप्रणेत्रि (अनुमते) (अनुमतम्) निरन्तरं ज्ञातम् (सुदानु) शोभनदानयुक्तम् (तेन) नाम्ना (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (पिपृहि) पूरय (विश्ववारे) हे सर्वैर्वरणीयैः पदार्थैर्युक्ते (रयिम्) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (सुभगे) प्रभूतैश्वर्ययुक्ते (सुवीरम्) महद्भिर्वीरैर्युक्तम् ॥

भावार्थ—सब मनुष्य सर्वमाननीय ज्ञान द्वारा धन आदि पदार्थ प्राप्त करके कीर्तिमान् होवें ॥ ४ ॥

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम् । भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥

आ । इमम् । यज्ञम् । अनु-मतिः । जगाम । सु-क्षेत्रतायै । सु-वीरतायै । सु-जातम् । भद्रा । हि । अस्याः । प्र-मतिः । बभूव । सा । इमम् । यज्ञम् । अवतु । देव-गोपा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (सुजातम्) बहुत प्रसिद्ध (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [संगति व्यवहार] में (सुक्षेत्रतायै) अच्छी भूमियों और (सुवीरतायै) साहसी वीरों की प्राप्ति के लिये (आ जगाम) आई है । और (अस्याः) इसकी (हि) ही (प्रमतिः) अनुग्रह बुद्धि (भद्रा) कल्याणी (बभूव) हुई है, (सा) वही (देवगोपा) विद्वानों की रक्षिका [अनुमति] (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] की (अवतु) रक्षा करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य वेदद्वारा सत्यज्ञान पाकर चक्रवर्ती राज्य और उत्साही वीरों के पराक्रम से सुखवृद्धि करते रहें, वैसे ही मनुष्य अनूकूल मति से प्रतिकूल बुद्धि छोड़कर सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

५—(इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (अनुमतिः) अनुकूला बुद्धिः (आ जगाम) प्राप (सुक्षेत्रतायै) शोभनानां भूमीनां प्राप्तये (सुवीरतायै) उत्साहिनां वीराणां लाभाय (सुजातम्) सुप्रसिद्धम् (भद्रा) कल्याणी (अस्याः) अनुमतेः (प्रमतिः) अनुग्रहबुद्धिः (बभूव) (सा) अनुमतिः (इमम्) (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (अवतु) रक्षतु (देवगोपा) आयादयः आर्धधातुके वा । पा० ३ । १ । ३१ । इत्यायप्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् देव+गुपू रक्षणे—अच्, टाप् । विदुषां गोप्त्री रक्षित्री ॥

अनु॑मतिः सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत् तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति । तस्या॑स्ते देवि सुम॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

अनु॑-मतिः । सर्व॑म् । इ॒दम् । ब॒भूव॒ । यत् । तिष्ठ॑ति । चर॑ति । यत् । ऊं॒ इति॑ । च॒ । विश्व॑म् । एज॑ति । तस्याः॑ । ते॒ । दे॒वि॒ । सु॒-म॒तौ । स्या॒म॒ । अनु॑-मते । अनु॑ । हि । मंस॑से । नः॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (इदम्) इस (सर्वम्) सब में (बभूव) व्यापी है, (यत्) जो कुछ (तिष्ठति) खड़ा होता है, (चरति) चलता है, (च) और (विश्वम्) सब (यत् उ) जो कुछ भी (एजति) चेष्टा करता है [हाथ पांव चलाता है] । (देवि) हे देवी ! (तस्याः ते) उस तेरी (सुमतौ) सुमति [अनुग्रहबुद्धि] में (स्याम) हम रहें, (अनुमते) हे अनुमति ! तू (हि) ही (नः) हमें (अनु) अनुग्रह से (मंससे) जानती रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिकूलता त्यागकर प्रत्येक कर्तव्य में अनुकूलता देवी का ध्यान रखते हैं । वेही परमेश्वर के कृपापात्र होते हैं ॥ ६ ॥

परमेश्वर एक

सूक्तम् २१ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

ईश्वराज्ञापालनोपदेशः—ईश्वर की आज्ञा के पालन का उपदेश ॥

समे॑त॒ विश्वे॒ वच॑सा॒ पतिं॑ दि॒व एको॑ वि॒भूरति॑थि॒र्जना॑-

६—(अनुमतिः) म० १ । अनुकूला बुद्धिः (सर्वम्) समस्तं जगत् (इदम्) दृश्यमानम् (बभूव) भू प्राप्तौ । प्राप (यत्) जगत् (तिष्ठति) स्थित्या वर्तते (चरति) गच्छति (यत्) (उ) अपि (च) (विश्वम्) सर्वम् (एजाति) एज कम्पने । साहसेन चेष्टते (तस्याः) तादृश्याः (ते) तव (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (स्याम) भवेम (अनु) अनुग्रहेण (हि) अवश्यम् (मंससे) म० २ । जानीयः (नः) अस्मान् ॥

नाम् । स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥ १ ॥

सम्-एत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । वि-भूः । अतिथिः । जनानाम् । सः । पूर्व्यः। नूतनम् । आ-विवासत् । तम् । वर्तनिः । अनु । ववृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) हे सब लोगो ! (वचसा) वचन [सत्य वचन] से (दिवः) सूर्य के (पतिम्) स्वामी से (समेत) आकर मिलो, (एकः) वह एक (विभूः) सर्वव्यापक प्रभु (जनानाम्) सब मनुष्यों का (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य] है । (सः) वह (पूर्व्यः) सब का हितकारी ईश्वर (नूतनम्) इस नवीन [जगत्] को (आविवासत्) विविध प्रकार निवास कराता है, (वर्तनिः) प्रत्येक वर्तने योग्य मार्ग (तम् एकम् अनु) उस एक [परमात्मा] की ओर (इत्) ही (पुरु) अनेक प्रकार से (ववृते) घूमा है ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अपने आकर्षण में रखकर इस नूतन जगत् का [जिसमें नित्य नये आविष्कार होते हैं] धारण करता है, विद्वान् लोग उसी की महिमा को खोजते जाते हैं ॥ १ ॥

१—(समेत) आगत्य संगच्छध्वम् (विश्वे) सर्वे जनाः (वचसा) सत्यवचनेन (पतिम्) स्वामिनम् (दिवः) सूर्यलोकस्य (एकः) अद्वितीयः(विभूः) सर्वव्यापकः प्रभुः (अतिथिः) ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्य० । उ० ४ । २ । इति अत सातत्यगमने-इथिन् । अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति । अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा । अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव—निरु० ४ । ५ । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः । विद्वान् । अभ्यागतः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (सः) विभूः (पूर्व्यः)अ० ४ । १ । ६ । पूर्वाय समस्ताय हितः (नूतनम्) अभिनवं जगत् , नित्यं नवीनाविष्कारपदत्त्वात् (आविवासत्) आङ्+वि+वस निवासे—णिच्—लट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । शप आर्धधातुकत्वात् णिलोपः, इकारलोपश्च । समन्ताद् विविधं निवासयति (तम्) (वर्तनि) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । वृतु वर्तने—अनि । मार्गः (अनु) प्रति (ववृते) वृतु-लिट् । वर्तते स्म (एकम्) परमात्मानम् (इत्) एव (पुरु) पुरुधा । अनेकधा ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-२ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ १ अक्षरपङ्क्तिः ; २ त्रिपादनुष्टुप् ॥

विज्ञानप्राप्त्युपदेशः—विज्ञान की प्राप्ति का उपदेश ॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

अयम् । सहस्रम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मतिः । ज्योतिः । वि-धर्मणि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (नः कवीनाम् सहस्रम्) हम सहस्र बुद्धिमानों में (आ) व्यापकर (दृशे) दर्शन के लिये (विधर्मणि) विरुद्धधर्मी [पञ्चभूत रचित स्थूल जगत्] में (मतिः) ज्ञानस्वरूप और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप है ॥१॥

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने संसार में परमात्मा की महिमा निहार कर विद्वान् लोग विज्ञान, शिल्प आदि के नये नये आविष्कार करते हैं ॥१॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

ब्रध्नः । समीचीः । उषसः । सम् । ऐरयन् । अरेपसः । सचेतसः । स्वसरे । मन्युमत्-तमाः । चिते । गोः । ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ब्रध्नः) नियम में बांधने वाले [सूर्यरूप] परमेश्वर ने (समीचीः) परस्पर मिली हुई, (अरेपसः) निर्मल, (सचेतसः) समान

१—(अयम्) सर्वत्रानुभूयमानः परमेश्वरः (आ) व्याप्य (नः) अस्माकम् (दृशे) दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर्—के । दर्शनाय (कवीनाम्) मेधाविनाम् (मतिः) चित्स्वरूपः (ज्योतिः) प्रकाशरूपः (विधर्मणि) विरुद्धधर्मवति पञ्चभूतनिर्मिते जगति ॥

२-(ब्रध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ इति बन्ध बन्धने-नक्, ब्रध इत्यादेशः । ब्रध्नः=अश्वः-निघ० १ । १४ । महान्-३ । ३ । बन्धको नियामकः ।

चेताने वाली, (मन्युमत्तमाः) अत्यन्त चमकने वाली (उषसः) उषाओं को (स्वसरे) दिनमें (गोः) पृथिवी के (चिते) ज्ञान के लिये (सम्) यथावत् (ऐरयन्) भेजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर, सूर्य के आकर्षण द्वारा पृथिवी के घुमाव से रात्रि के पश्चात्, प्रकाश करता है। वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान नाश करके ज्ञान के साथ प्रकाशमान होते हैं ॥२॥

इतिद्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २३ ॥

१ ॥ प्रजा देवता: ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्म्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

दौष्व॑प्न्यं॒ दौर्जी॑वित्यं॒ रक्षो॑ अ॒भ्व॑मरा॒य्यः॑ ।
दु॒र्णाम्नीः॒ सर्वा॑ दु॒र्वाच॒स्ता अ॒स्मन्ना॑शयामसि ॥ १ ॥

दौः-स्व॑प्न्यम् । दौः-जी॑वित्यम् । रक्षः॑ । अ॒भ्व॑म् । अ॒रा॒य्यः॑ ।
दुः-नाम्नीः॑ । सर्वाः॑ । दुः-वाचः॑ । ताः । अ॒स्मत् । ना॒श॒या॒म॒सि॒ ॥१॥

सूर्यः । सूर्यादीनामकर्षकः परमात्मा (समीचीः) संगताः (उषसः) प्रभातवेलाः (सम्) सम्यक् (ऐरयन्) बहुवचनं छान्दसम् । ऐरयत् । प्रेरितवान् (अरेपसः) निर्मलाः (सचेतसः) समान चेतनकारिणीः (स्वसरे) दिने-निघ० १ । ६ । (मन्युमत्तमाः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । इति मन दीप्तौ-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा । मन्यन्त्यस्मादिषवः-निरु० १० । २९ । अतिशयेन दीप्तयुक्ताः (चिते) चिती संज्ञाने-क्विप् । ज्ञानाय (गोः) भूमेः ॥

भाषार्थ—(दौष्वप्न्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा की सुनीति से प्रजा गण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । १७ । ५ ।

सूक्तम् २४ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

यन्न इन्द्रो अखनुद् यदुग्निर्विश्वे देवा मुरुतो यत् स्वुर्काः । तदुस्मभ्यं सविता सुत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

यत् । नुः । इन्द्रः । अखनत् । यत् । अुग्निः । विश्वे । देवाः । मुरुतः । यत् । सु-अुर्काः । तत् । अुस्मभ्यम् । सुविता । सुत्य-धर्मा । प्रजा-पतिः । अनु-मतिः । नि । युच्छात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ऐश्वर्य] (नः) हमारे लिये (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने और (यत्) जो (अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी पुरुष ने (अखनत्) खोदा है, और (यत्) जो (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहारकुशल,

---

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ४ । १७ । ५ ॥

१—(यत्) ऐश्वर्यम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो मनुष्यः (अखनत्) खननेन प्राप्तवान् (यत्) (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (विश्वे) सर्वे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः (यत्)

(स्वर्काः) बड़े वज्रवाले (मरुतः) शूर लोगों ने [खोदा है]। (तत्) वह [वैसाही ऐश्वर्य] (अस्मभ्यम्) हमें (सत्यधर्म्मा) सत्य धर्मी, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाला (सविता) सृष्टिकर्ता परमेश्वर (नि) नियम पूर्वक (यच्छात्) देता रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ऐश्वर्यवान्, प्रतापी, व्यवहार निपुण, शूरवीर पुरुषों ने ऐश्वर्य पाया है। इसी प्रकार विज्ञानी सत्यपराक्रमी पुरुष परमेश्वर के अनन्त कोश से ऐश्वर्य पाते रहें ॥ १ ॥

(मरुतः) शब्द का विशेष विवरण अ० १। २०। १। में देखो॥

सूक्तम् २५ ॥

१-२ ॥ विष्णुवरुणौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश॥

ययोरोज॑सा स्कभि॒ता रजां॑सि॒ यौ वी॒र्यै॒र्वी॒रत॑मा॒ शवि॑ष्ठा।
यौ पत्ये॑ते॒ अप्र॑तीतौ॒ सहो॑भि॒र्विष्णु॑मग॒न्वरु॑णं पू॒र्वहू॑तिः॥ १॥

ययोः। ओज॑सा। स्कभि॒ता। रजां॑सि। यौ। वी॒र्यैः॑। वी॒रऽत॑मा। शवि॑ष्ठा। यौ। पत्ये॑ते॒ इति॑। अप्र॑तिऽइतौ। सहः॑ऽभिः। विष्णु॑म्। अ॒ग॒न्। वरु॑णम्। पू॒र्वऽहू॑तिः॥ १॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक लोकान्तर (स्कभिता) थमे हुये हैं, (यौ) जो दोनों (वीर्यैः) अपने

ऐश्वर्यम् (स्वर्काः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३। ४०। अर्च पूजायां क, चस्य कः। अर्कः=अन्नम्–निघ० २। ७। वज्रः–२। २०। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना०–निरु० ५। ४। शोभनान्नाः। सुवज्रिणः। सुपण्डिताः। सुमन्त्रिणः (तत्) ऐश्वर्यम् (अस्मभ्यम्) (सविता) सर्वस्रष्टा (सत्यधर्मा) सत्यानि धर्माणि धारणसामर्थ्यानि यस्य सः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (अनुमतिः) अनुकूलो मतिर्बुद्धिर्यस्य सः (नि) नियमेन (यच्छात्) दद्यात् ॥

१—(ययोः) विष्णुवरुणयोः (ओजसा) बलेन (स्कभिता) स्कन्भ स्तम्भे—क्त, शेलोपः। स्तभितानि। दृढीकृतानि (रजांसि) लोकाः–निरु० ४।

पराक्रमों से (वीरतमा) अत्यन्त वीर और (शविष्ठा) महाबली हैं, (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने बलों से (अप्रतीतौ) न रुकने वाले होकर (पत्येते) ऐश्वर्यवान् हैं, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील [वा सूर्य समान प्रतापी] राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ [वा जल समान उपकारी] मन्त्री को (पूर्वहूतिः) सब लोगों का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर राजा और मन्त्री बलवान् और धार्मिक होते हैं, वहां प्रजागण उनका सदा सन्मान करते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में—है अ० ८ । ५९ ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः । पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

यस्य । इदम् । प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । प्र । च । अनति । वि । च । चष्टे । शचीभिः । पुरा । देवस्य । धर्मणा । सहः-भिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्व-हूतिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिन (देवस्य) व्यवहारकुशल [राजा और मन्त्री] के (प्रदिशि) अच्छे शासन में (धर्म्मणा) उनके धर्म अर्थात् नीति

---

१९ । (यौ) विष्णुवरुणौ (वीर्यैः) पराक्रमैः (वीरतमा) अतिशयेन वीरौ (शविष्ठा) शवः=बलम्—निघ० २ । ९ । शवस्वि—इष्ठन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । विनिलोपः । अतिशविस्विनौ । बलवन्तौ (यौ) (पत्येते) पत ऐश्वर्ये । ईशाते । ऐश्वर्यं प्राप्नुतः (अप्रतीतौ) इण् गतौ—क्त । अप्रतिगतौ । अतिरस्कृतौ (सहोभिः) बलैः (विष्णुम्) अ० ३ । २० । ४ । व्यापनशीलं वा सूर्यवत्प्रतापिनं राजानम् (अगन्) अ० २ । ९ । ३ । अगमत् । प्रापत् (वरुणम्) अ० १ । ३ । ३ । श्रेष्ठं वा जलसमानोपकारिणं मन्त्रिणम् (पूर्वहूतिः) पूर्वाणां समस्तानां जनानां हूतिराह्वानम् ॥

२—(यस्य) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । अत्र द्विवचनस्यैकवचनम् । ययोः (इदम्) राज्यम् (प्रदिशि) अनुशासने (यत्) विश्वम्

और (सहोभिः) पराक्रम से (इदम्) यह [राज्य] है, (यत्) जो कुछ (पुरा) हमारे सन्मुख (शचीभिः) अपने कर्मों से (विरोचते) जगमगाता है, (च) और (प्र अनति) श्वास लेता है (च) और (वि चष्टे) निहारता है, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ मन्त्री को (पूर्वहूतिः) सब का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से प्रजा के सब स्थावर और जंगम पदार्थ सुरक्षित रहते हैं, वहां सब लोग प्रसन्न रह कर उस राज्य की प्रशंसा करते हैं ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-८ ॥ विष्णुर्देवता ॥ १, २, ८ त्रिष्टुप्; ३ यस्योरुषु... द्विपात् त्रिष्टुप्, उरु...अनुष्टुप्; ४-७ गायत्री ॥

व्यापकेश्वरगुणोपदेशः—व्यापक ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

विष्णोर्नु कं प्र वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थिवानि । वि-ममे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्-तरम् । सध-स्थम् । वि-चक्रमाणः । त्रेधा । उरु-गायः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विष्णोः) विष्णु व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (कम्) सुख से (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं, (यः)

(विरोचते) विविधं दीप्यते (प्र) प्रकर्षेण (च) (अनति) अनिति । श्वसिति (च) (वि) विविधम् (च) (वि) विविधम् (चष्टे) पश्यति (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० १ । २ (पुरा) अस्माकं निकटे (देवस्य) व्यवहारकुशलयोः (धर्मणा) धारणसामर्थ्येन (सहोभिः) पराक्रमैः । अन्यत्पूर्ववत्-म० १ ॥

१—(विष्णोः) अ० ३ । २० । ४ । सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (नु) शीघ्रम् (कम्) सुखेन (वोचम्) अ० २ । ५ । ५ । उच्यासम् (वीर्याणि) पराक्रमान्

जिसने (पार्थिवानि) भूमिस्थ और अन्तरिक्षस्थ (रजांसि) लोकों को (विममे) अनेक प्रकार रचा है, (यः) जिस (उरुगायः) बड़े उपदेशक प्रभु ने (उत्तरम्) सब अवयवों के अन्त (सधस्थम्) साथ में रहने वाले कारण को (विचक्रमाणः) चलाते हुये (त्रेधा) तीन प्रकार से [उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप से] [उन लोकों को] (अस्कभायत्) थांभा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति देकर अनेक लोकों को बनाकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से धारण करता है, उसकी भक्ति सब मनुष्य सदा किया करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१। १५४। १। और यजुर्वेद में ५।१८॥

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुंचरो गिरिष्ठाः । परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्याणि । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरि-स्थाः । परा-वतः । आ । जगम्यात् । परस्याः ॥२

भाषार्थ—(भीमः) डरावने, (कुचरः) टेढ़े टेढ़े चलने वाले [ऊंचे नीचे दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) आखेट ढूंढ़ने वाले सिंह आदि के समान, (तत्) वह (विष्णुः) सर्वव्यापी

(यः) विष्णुः (पार्थिवानि) पृथिवी, पृथिवीनाम–निघ० १। १। अन्तरिक्षम्–१। ३। तत्र विदित इति च। पा० ५। १। ४३। इति पृथिवी–अञ्। भूमिस्थानि अन्तरिक्षस्थानि च (विममे) विविधं निर्मितवान् (रजांसि) लोकान् (यः) विष्णुः (अस्कभायत्) अ० ४। १। ४। अस्कभ्नात्। स्तम्भितवान् (उत्तरम्) उद्गततरम्। सर्वान्तावयवम् (सधस्थम्) यत् सह तिष्ठति तत्कारणम् (विचक्रमाणः) विपूर्वस्य क्रमतेः कानच्। अन्तर्गतण्यर्थः। विशेषेण चालयन् (त्रेधा) त्रिप्रकारेण, उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपेण (उरुगायः) अ० २। १२। १। बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति यः सः। बहूपदेशकः ॥

२—(प्र) प्रकर्षेण (तत्) सः (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (स्तवते) छान्दसः शप्। स्तुते। स्तुत्यं करोति (वीर्याणि) पराक्रमान् (मृगः) यो मार्ष्टि अन्विच्छति वधाय जीवान्। सिंहादिः (न) इव (भीमः) भयानकः (कुचरः)

विष्णु (वीर्याणि) अपने पराक्रमों को (प्र) अच्छे प्रकार (स्तवते) स्तुति योग्य बनाता है। वह (परावतः) समीप दिशा से और (परस्याः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्) आता रहे॥ २॥

भावार्थ—जैसे सिंह का पराक्रम जंगलीय पशुओं में विदित होता है, वैसे ही सर्वव्यापी, पापियों के दण्ड देने वाले परमात्मा का सामर्थ्य निकट और दूर सब लोकों में प्रसिद्ध है॥२॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग ऋग्वेद में है—म० १। १५४। २। और यजु० अ० ५। २०। (मृगो न......गिरिष्ठाः) यह पाद निरुक्त १। २० में व्याख्यात है॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥ ३॥

यस्य। उरुषु। त्रिषु। वि-क्रमणेषु। अधि-क्षियन्ति। भुवनानि। विश्वा। उरु। विष्णो इति। वि। क्रमस्व। उरु। क्षयाय। नः। कृधि। घृतम्। घृत-योने। पिब। प्र-प्र। यज्ञ-पतिम्। तिर॥ ३॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (उरुषु) विस्तीर्ण [उत्पत्ति स्थितिप्रलय रूप] (त्रिषु) तीन (विक्रमणेषु) विविध क्रमों [नियमों] में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर (अधिक्षियन्ति) भले प्रकार रहते हैं। [वही] (विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु तू (उरु) विस्तार से (वि क्रमस्व) विक्रमी

कुत्सितं चरन् (गिरिष्ठाः) पर्वतस्थायी (परावतः) अ० ३। ४। ५। परा आभिमुख्ये। अभिमुखगताया दिशायाः (आ जगम्यात्) शपः श्लुः, विधिलिङ्। आगच्छेत् (परस्याः) दूरदिशायाः॥

३—(यस्य) विष्णोः (उरुषु) विस्तृतेषु (त्रिषु) उत्पत्तिस्थितिप्रलय-रूपेषु (विक्रमणेषु) विविधेषु क्रमेषु नियतविधानेषु (अधिक्षियन्ति) अधिकं निवसन्ति (भुवनानि) जगन्ति (विश्वा) सर्वाणि (उरु) यथा तथा। विस्तारेण (विक्रमस्व) विक्रमी पराक्रमी भव (क्षयाय) क्षि निवासगतिहिंसै-

हो और (नः) हमें (क्षयाय) ज्ञान वा ऐश्वर्य के लिये (उरु) विस्तार के साथ (कृधि) कर। (घृतयोने) हे प्रकाश के घर! (घृतम्) घृत के समान तत्त्वरस (पिब=पायय) [हमें] पान करा और (यज्ञपतिम्) पूजनीय कर्म के रक्षक मनुष्य को (प्र प्र) अच्छे प्रकार (तिर) पार लगा॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमेश्वर सब लोक लोकान्तरों का स्वामी है, सब मनुष्य उसकी उपासना से ऐश्वर्य प्राप्त करें॥

(यस्य उरुषु···) यह पाद ऋग्वेद में है–१। १५४। २। और यजु० ५। २०॥ (उरु विष्णो...) यह मन्त्र यजुर्वेद में है—५। ३८, ४१॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा।
समूढमस्य पांसुरे॥ ४॥

इदम्। विष्णुः। वि। चक्रमे। त्रेधा। नि। दधे। पदा।
सम्-ऊढम्। अस्य। पांसुरे॥ ४॥

भाषार्थ—(विष्णुः) विष्णु सर्वव्यापी भगवान् ने (समूढम्) आपस में एकत्र किये हुये वा यथावत् विचारने योग्य (इदम्) इस जगत् को (वि चक्रमे) पराक्रमयुक्त [शरीरवाला] किया है, उसने (अस्य) इस जगत् के (पदा) स्थिति और गति के कर्मों को (त्रेधा) तीन प्रकार (पांसुरे) परमा-

---

श्वर्येषु-अच्। विज्ञानस्य ऐश्वर्यस्य वोन्नतये (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (घृतम्) घृतवत्तत्त्वरसम् (घृतयोने) योनिर्गृहम्—निघ० ३। ४। हे घृतस्य प्रकाशस्य योने गृह (पिब) अन्तर्गतणिच्। अस्मान् पायय (प्र प्र) अधिकं प्रकर्षेण (यज्ञपतिम्) पूजनीयकर्मणां पातारं पुरुषम् (तिर) तारय। पारय॥

४—(इदम्) परिदृश्यमानं जगत् (विष्णुः) व्यापकः परमेश्वरः (वि चक्रमे) विक्रान्तं पराक्रमयुक्तं सशरीरं कृतवान् (त्रेधा) त्रिप्रकारम् (निदधे) नियमेन स्थापयामास (पदा) पद स्थैर्ये गतौ च–अच्। स्थितिगतिकर्माणि (समूढम्) सम्+वह प्रापणे, ऊह वितर्के वा–क्त राशीकृतम्। सम्यग् वितर्कणीयमनुमीयं जगत् (अस्य) जगतः (पांसुरे) नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम्।

णुओं वाले अन्तरिक्ष में (नि दधे) स्थिर किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने इस जगत् को परमाणुओं से रचकर उत्पत्ति, स्थिति प्रलय द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक, अर्थात् नीचे, मध्यम और ऊंचे स्थानों में धारण किया है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १७; यजु०-५ । १५, और साम० पू० ३ । ३ । ६ ।, और उ० ८ । २ । ८ । भगवान् यास्क ने निरु० १२ । १८, १६ में भी इस मन्त्र की व्याख्या की है ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।
इतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गोपाः) सर्वरक्षक (अदाभ्यः) न दबने योग्य (विष्णुः) विष्णु अन्तर्यामी भगवान् ने (त्रीणि) तीनों (पदा) जानने योग्य वा पाने योग्य पदार्थों [कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् अथवा भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु लोक] को (वि चक्रमे) समर्थ [शरीरधारी] किया है । (इतः) इसी से वह (धर्माणि) धर्मों वा धारण करनेवाले [पृथिवी आदि] को (धारयन्) धारण करता हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर नानाविध जगत् को रचकर धारण कर रहा है, उसी की उपासना सब मनुष्य नित्य किया करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १८; यजु०-३४ । ४३; और साम० उ० ८ । २ । ५ ।

वा० पा० ५ । २ । १०७ । इति पांसु-रो मत्वर्थे । पांसुभी रजोभिः परमाणुभिर्युक्तेऽन्तरिक्षे ॥

५—(त्रीणि) (पदा) पदानि ज्ञातव्यानि प्राप्तव्यानि वा कारणस्थूलसूक्ष्मरूपाणि, अथवा भूम्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि पदार्थजातानि (वि चक्रमे) विक्रान्तवान् । समर्थानि सावयवानि कृतवान् (विष्णुः) अन्तर्यामीश्वरः (गोपाः) अ० ५ । ६ । ८ । गोपयिता । रक्षकः (अदाभ्यः) अ० ३ । २१ । ४ । अहिंस्यः । अजेयः (इतः) अस्मात्कारणात् (धर्म्माणि) धर्मान् धारकाणि पृथिव्यादीनि वा (धारयन्) पोषयन् । वर्धयन् वर्तत इति शेषः ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे ।
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(विष्णोः) सर्व व्यापक विष्णु के (कर्माणि) कर्मों [जगत् का बनाना, पालन, प्रलय आदि] को (पश्यत) देखो, (यतः) जिससे उसने (व्रतानि) व्रतों [सब के कर्त्तव्य कर्मों] को (पस्पशे) बांधा है । (युज्यः) वह योग्य [अथवा सब से संयोग रखनेवाले दिशा, काल, आकाश आदि में रहने वाला] परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीव का (सखा) सखा है ॥ ६ ॥

भावार्थ-जिस परमेश्वर ने संसार रचकर सब को नियम में बांधा है, वही सब में रमकर सब का हितकारी है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १८; यजु-६ । ४, १३ । ३३; और साम० उ०-८ । २ । ५ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः ।
दिवि-इव । चक्षुः । आ-ततम् ॥ ७॥

भाषार्थ—(सूरयः) बुद्धिमान् पण्डित लोग (विष्णोः) सर्वव्यापक विष्णु के (तत्) उस (परमम्) अति उत्तम (पदम्) पाने योग्य स्वरूप को

६—(विष्णोः) व्यापकस्य (कर्माणि) जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) येन (व्रतानि) कर्त्तव्यकर्माणि (पस्पशे) स्पश बन्धनस्पर्शनयोः-लिट् । बद्धवान् । नियमितवान् (इन्द्रस्य) जीवस्य (युज्यः) युज-क्यप्, योग्यः । यद्वा । युज-क्विप्, भवे यत् । युञ्जन्ति व्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् ते युजो दिक्कालाकाशादयस्तत्र भवः (सखा) मित्रम् ॥

७—(तत्) प्रसिद्धम् (विष्णोः) व्यापकस्य (परमम्) सर्वोत्कृष्टम् (पदम्) प्राप्तव्यं स्वरूपं मोक्षम् (सदा) सर्वदा (पश्यन्ति) संप्रेक्षन्ते ।

(सदा) सदा (पश्यन्ति) देखते हैं (इव) । जैसे (दिवि) प्रकाश में (आततम्) फैला हुआ (चक्षुः) नेत्र [दृश्य पदर्थों को देखता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे प्राणी सूर्य आदि के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से पदार्थों को देखते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से अपने आत्मा में जगदीश्वर के आनन्दस्वरूप मोक्ष पद को साक्षात् करके आनन्द पाते हैं ॥७॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । २२ । २० ; यजु०—६ । ५ ; साम० उ०—८ । २ । ५ ॥

दि॒वो वि॑ष्ण उ॒त वा॑ पृथि॒व्या म॒हो वि॑ष्ण उ॒रोर॒न्तरि॑क्षात् ।
हस्तौ॑ पृणस्व बहु॒भिर्व॑स॒व्यैरा॒प्रय॑च्छ॒ दक्षि॑णा॒दोत स॒व्यात् ॥८॥

दि॒वः । वि॒ष्णो॒ इति॑ । उ॒त । वा॒ । पृ॒थि॒व्याः । म॒हः । वि॒ष्णो॒ इति॑ । उ॒रोः । अ॒न्तरि॑क्षात् । हस्तौ॑ । पृ॒ण॒स्व॒ । ब॒हु-भिः॑ । व॒स॒व्यैः॑ । आ॒-प्रय॑च्छ । दक्षि॑णात् । आ । उ॒त । स॒व्यात् ॥८॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु ! (दिवः) सूर्य लोक से (उत) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से, (वा) अथवा, (विष्णो) हे विष्णु ! (महः) बड़े (उरोः) चौड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धन समूहों से (हस्तौ) दोनों हातों को (पृणस्व) भर, (उत) और (दक्षिणात्) दाहिने (उत) और (सव्यात्) बायें हात से (आप्रयच्छ) अच्छे प्रकार से दान कर ॥ ८ ॥

साक्षात्कुर्वन्ति (सूरयः) अ० २ । ११ । ४ । मेधाविनः पण्डिताः (दिवि) सूर्यादिप्रकाशे (इव) यथा (चक्षुः) नेत्रम् । पश्यति दृश्यानि इति शेषः (आततम्) प्रसृतम् ॥

८—(दिवः) प्रकाशमानात् सूर्यात् (विष्णो) हे सर्वव्यापक (उत) अपि (वा) अथवा (पृथिव्याः) भूलोकात् (महः) मह-क्विप् । विशालात् (उरोः) उरुणः । विस्तीर्णात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (हस्तौ) करौ (पृणस्व) पूरय (बहुभिः) अधिकैः (वसव्यैः) वसोः समूहे च । पा० ४ । ४ । १४० । वसु-यत् । वसूनां धनानां समुहैः (आप्रयच्छ) समन्तात् देहि (दक्षिणात्) दक्षिणहस्तात् (आ) चार्थे (उत) अपि (सव्यात्) वामहस्तात् ॥

८

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोक लोकान्तर और सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन आदि की प्राप्ति से आनन्द भोगें ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है—५ । १९ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१ ॥ इडा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

इडै॒वास्माँ अनु॑ वस्तां व्र॒तेन॒ यस्याः॑ प॒दे पु॒नते॑ दे॒व॒यन्तः॑ ।
घृ॒तप॑दी॒ शक्व॑री॒ सोम॑पृ॒ष्ठोप॑ य॒ज्ञम॑स्थित वैश्वदे॒वी ॥१॥

इडा॑ । ए॒व । अ॒स्मान् । अनु॑ । व॒स्ता॒म् । व्र॒तेन॑ । यस्याः॑ । प॒दे । पु॒नते॑ । दे॒व॒-यन्तः॑ । घृ॒त-प॑दी । शक्व॑री । सोम॑-पृ॒ष्ठा । उप॑ । य॒ज्ञम् । अ॒स्थि॒त॒ । वै॒श्व॒-दे॒वी ॥१॥

भाषार्थ—(इडा एव) वही प्रशंसनीय विद्या (अस्मान्) हमें (व्रतेन) उत्तम कर्म से (अनु) अनुग्रह करके (वस्ताम्) ढके [शोभायमान करे], (यस्याः) जिसके (पदे) अधिकार में (देवयन्तः) उत्तमगुण चाहने वाले पुरुष (पुनते) शुद्ध होते हैं। [और जो] (घृतपदी) प्रकाश का अधिकार रखने वाली, (शक्वरी) समर्थ, (सोमपृष्ठा) ऐश्वर्य सींचने वाली, (वैश्व-

१—(इडा) अ० ३ । १० । ६ । स्तुत्या विद्या । वाक्—निघ० ३ । ११ । (एव) अवधारणे (अस्मान्) सत्यकर्मणः (अनु) अनुग्रहेण (वस्ताम्) वस आच्छादने । आच्छादयतु । अलङ्करोतु (व्रतेन) शुभकर्मणा (यस्याः) इडायाः (पदे) अधिकारे (पुनते) शुद्ध्यन्ति (देवयन्तः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । देव—क्यच्, शतृ । देवान् शुभगुणान् आत्मन इच्छन्तः (घृतपदी) घृतं प्रकाशः पदे अधिकारे यस्याः सा (शक्वरी) अ० ३ । १३ । ७ । शक्ता । समर्था (सोमपृष्ठा) अ० ३ । २१ । ६ । ऐश्वर्यसेचिका (उप अस्थित)

देवी) सब उत्तम पदार्थों से सम्बन्ध वाली होकर (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार में (उप अस्थित) उपस्थित हुई है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा शास्त्रविद्या, शस्त्रविद्या, शिल्पविद्या, वाणिज्य-विद्या आदि प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥१॥

सूक्तम् २८ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

यज्ञकर्मोपदेशः—यज्ञ करने का उपदेश ॥

वे॒दः स्व॒स्तिर्द्रु॑घ॒णः स्व॒स्तिः प॑र॒शुर्वेदि॑ः पर॒शुर्नः॑ स्व॒स्ति । ह॒वि॒ष्कृतो॑ य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञका॑मा॒स्ते दे॒वासो॑ य॒ज्ञमि॒मं जु॑षन्ताम् ॥ १ ॥

वे॒दः । स्व॒स्तिः । द्रु॒-घ॒नः । स्व॒स्तिः । प॒र॒शुः । वेदि॑ः । प॒र॒शुः । नः॒ । स्व॒स्ति । ह॒विः॒-कृतः॑ । य॒ज्ञियाः॑ । य॒ज्ञ-का॑माः । ते । दे॒वासः॑ । य॒ज्ञम् । इ॒मम् । जु॒ष॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वेदः) वेद [ईश्वरीय ज्ञान] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (द्रुघणः) मुद्गर [मोंगरी] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (वेदिः) वेदी [यज्ञभूमि, हवनकुण्ड आदि], (परशुः) फरसा [वा गड़ासी] और (परशुः) कुल्हाड़ी (नः) हमें (स्वस्ति) मङ्गलकारी हो। (हविष्कृतः) देने लेने योग्य

उपस्थिता अभवत् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (वैश्वदेवी) दिव्यपदार्थानां सम्बन्धिनी ॥

१—(वेदः) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे–घञ् । संहितात्मकः परमेश्वरोक्तो ग्रन्थभेदः (स्वस्तिः) अ० १ । ३० । २ । मङ्गलकरः (द्रुघणः) करणेऽयोविद्रुषु । पा० ३ । ३ । ८२ । इति द्रु + हन्–अप्, घनादेशश्च । पूर्वपदात्संज्ञायामगः । पा० ८ । ४ । ३ । इति णत्वम् । द्रुमयः काष्ठमयो घनः । मुद्गरः (स्वस्तिः) (परशुः) अ० ३ । १९ । ४ । तृणादिच्छेदनी (वेदिः) इपिषिरुहिवृतिविदि० । उ० ४ ।

व्यवहार करने वाले, (यज्ञियाः) पूजनीय, (यज्ञकामाः) मिलाप चाहने वाले (ते) वे (देवासः) विद्वान् लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय कर्म को] (जुषन्ताम्) स्वीकार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदज्ञान द्वारा सब उचित सामग्री लेकर विद्वानों के सत्संग से अग्नि में हवन तथा शिल्प सम्बन्धी संयोग वियोग आदि क्रिया करके आनन्दित रहें ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-२ ॥ अग्नाविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्युत्सूर्यगुणोपदेशः—बिजुली और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम । दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू इति । महि । तत् । वाम् । महि-त्वम् । पाथः । घृतस्य । गुह्यस्य । नाम । दमे-दमे । सप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्नाविष्णू) हे बिजुली और सूर्य ! (वाम्) तुम दोनों का (तत्) वह (महि) बड़ा (महित्वम्) महत्त्व है, (गुह्यस्य) रक्षणीय,

---

११६ । इति विद ज्ञाने—इन् । यज्ञभूमिः । हवनकुण्डादिः । पण्डितः (परशुः) वृक्षच्छेदनसाधनं कुठारः (नः) अस्मभ्यम् (स्वस्ति) सुखकरः (हविष्कृतः) दातव्यग्राह्यव्यवहारकर्तारः (यज्ञियाः) आदरार्हाः (यज्ञकामाः) संगतिं कामयमानाः (ते) प्रसिद्धाः (देवासः) व्यवहारिणो विद्वांसः (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (इमम्) (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

१—(अग्नाविष्णू) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । पूर्वपदस्यानङ् । हे विद्युत्सूर्यौ (महि) महत् (तत्) प्रसिद्धम् (वाम्) युवयोः (महित्वम्) महत्त्वं प्रभुत्वम् (पाथः) पा रक्षणे—लट् । रक्षथः (घृतस्य) साररसस्य

वा गुप्त (घृतस्य) सार रस के (नाम) झुकाव की (पाथः) तुम दोनों रक्षा करते हो। (दमेदमे) घर घर में [प्रत्येक शरीर वा लोक में] (सप्त) सात (रत्ना) रत्नों [धातुओं अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य] को (दधानौ) धारण करने वाले हो. (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जय शक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) भले प्रकार (चरण्यात्) बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जाठर अग्नि वा बिजुली अन्न को पकाकर उसके सार रस से सात धातु, रस, रुधिर आदि बनाकर शरीर को पुष्ट करता है। और सूर्य पार्थिव जल को खींच कर मेघ बनाकर वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥१

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ। दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अग्नाविष्णू इति। महि। धाम। प्रियम्। वाम्। वीथः। घृतस्य। गुह्या। जुषाणौ। दमे-दमे। सु-स्तुत्या। ववृधानौ। प्रति। वाम्। जिह्वा। घृतम्। उत्। चरण्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्नाविष्णू) हे बिजुली और सूर्य (वाम्) तुम दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) प्रीति करने वाला (धाम) धर्म वा नियम है, तुम

(गुह्यस्य) अ० ३।५।३। गोपनीयस्य। गुप्तस्य (नाम) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४।१४५। इति नमतेर्मनिन्, मलोपो दीर्घश्च। नमनं प्रापणम् (दमेदमे) गृहे गृहे (सप्त रत्ना) रमणीयान् सप्तधातून्। रसोसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। इति शब्दकल्पद्रुमः (दधानौ) धारयन्तौ (प्रति) प्रत्यक्षम् (वाम्) युवयोः (जिह्वा) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १।१५४। इति जि जये—वन्, हुक् च। जयशक्तिः (घृतम्) साररसम् (आचरण्यात्) चरण गतौ कण्ड्वादौ—लेट्। आचरेत्। साधयेत् ॥

२—(अग्नाविष्णू) म० १। विद्युत्सूर्यौ (धाम) धर्मः। नियमः (प्रियम्) प्रीतिकरम् (वीथः) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु।

दोनों (घृतस्य) सार रस के (गुह्या) सूक्ष्मतत्त्वों को (जुषाणौ) सेवन करते हुये (वीथः) प्राप्त होते हो। (दमेदमे) घर घर में (सुष्टुत्या) बड़ी स्तुति के साथ (वावृधानौ) वृद्धि करते हुये [रहते हो,] (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जयशक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (उत्) उत्तमता के साथ (चरण्यात्) प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बिजुली वा शारीरिक अग्नि और सूर्यके नियम बड़े अद्भुत हैं, बिजुली अन्न के रस से शरीर को पुष्टि करती और सूर्य मेघ की जलवृष्टि से संसार को बढ़ाता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शुभकर्मकरणोपदेशः—शुभ कर्म करने का उपदेश ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

सु-आक्तम् । मे । द्यावापृथिवी इति । सु-आक्तम् । मित्रः । अकः । अयम् । सु-आक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सु-आक्तम् । सविता । करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी ने (मे) मेरा (स्वाक्तम्) स्वागत [किया है]; (अयम्) इस (मित्रः) मित्र [माता पिता आदि] ने (स्वाक्तम्) स्वागत (अकः) किया है। (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः)

गच्छथः। प्राप्नुथः (घृतस्य) साररसस्य (गुह्या) गुप्तानि। सूक्ष्मतत्त्वानि (सुष्टुत्या) शोभनया स्तुत्या (वावृधानौ) वर्धमानौ (उत्) उत्तमतया। अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—(स्वाक्तम्) सु+आङ+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त। स्वागतम्। शुभागमनम्, अकार्ष्टाम्, कृतवत्यौ—इति शेषः (मे) मम (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिव्यौ (मित्रः) प्रियः मातापित्रादिः (अकः) अ० १।

रक्षक [आचार्य] (मे) मेरा (स्वाक्तम्) स्वागत, और (सविता) प्रजा प्रेरक शूर पुरुष (स्वाक्तम्) स्वागत (करत्) करे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ऐसे शुभ कर्म करे जिससे संसार के सब पदार्थ और विद्वान् लोग उसके उपकारी होवें ॥१॥

सूक्तम् ३१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व । यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । ऊति-भिः । बहुलाभिः । नः । अद्य । यावत्-श्रेष्ठाभिः । मघ-वन् । शूर । जिन्व । यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । पदीष्ट । यम् । ऊं इति । द्विष्मः । तम् । ऊं इति । प्राणः । जहातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े धनी ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाले राजन् ! (नः) हमें (अद्य) आज (बहुलाभिः) अनेक (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथा सम्भव श्रेष्ठ (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाओं से (जिन्व) प्रसन्न कर । (यः) जो (नः) हमसे (द्वेष्टि) बैर करता है, (सः) वह (अधरः)

---

८ । १ । करोतेर्लुङि, इकारलोपे तलोपः । अकार्षीत् (अयम्) समीपवर्ती (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) रक्षकः आचार्यः । (सविता) प्रजाप्रेरकः शूरः (करत्) लेटि रूपम् । कुर्यात् । अन्यद् गतम् ॥

१—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाभिः (बहुलाभिः) अ० ३ । १४ । ६ । बहुप्रकाराभिः (नः) अस्मान्) (अद्य) अस्मिन् दिने (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथा सम्भवं प्रशस्यतमाभिः (मघवन्) महाधनिन् (शूर) (जिन्व) जिवि प्रीणने । प्रसादय (यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (द्वेष्टि) वैरयति

नीचा हो कर (पदीष्ट) चला जावे, (उ) और (यम्) जिससे (द्विष्मः) हम वैर करते हैं, (तम्) उसको (उ) भी (प्राणः) उसका प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों सहित यथाशक्ति सब प्रकार के उपायों से शिष्टों का पालन और दुष्टों का निवारण करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—३।५३।२१॥

सूक्तम् ३२ ॥

१॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाकर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के कर्म का उपदेश ॥

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् ।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप । प्रियम् । पनिप्नतम् । युवानम् । आहुति-वृधम् । अगन्म । बिभ्रतः । नमः । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नमः) वज्र को (बिभ्रतः) धारण करते हुये [पुरुषार्थ करते हुये] हम लोग (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (पनिप्नतम्) अत्यन्त व्यवहारकुशल, (युवानम्) पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले वा बलवान्, (आहुतिवृधम्) यथावत् देने लेने योग्य क्रिया के बढ़ाने वाले राजा को (उप

(सः) शत्रुः । विसर्गसकारौ सांहितिकौ (पदीष्ट) पद गतौ आशीर्लिङि। छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्वधातुकत्वात्सलोपः, सुट्तिथोः । पा०३ । ४ । १०७ । इति सुडागमः पत्सीष्ट । गम्यात् (यम्) (उ) चार्थे (द्विष्मः) वैरयामः (तम्) (उ) अपि (प्राणः) जीवनहेतुः (जहातु) ओ हाक् त्यागे । त्यजतु ॥

१—(उप) पूजायाम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् (पनिप्नतम्) पन व्यवहारे स्तुतौ च यङ्लुकि शतृ । दाधर्तिदर्धर्ति० । पा०७ । ४ । ६५ । इति सूत्र इति करणस्य प्रदर्शनादत्राभ्यासस्य निगागम उपधालोपश्च । अत्यन्तं व्यवहारकुशलम् (युवानम्) पदार्थानां संयोजकवियोजकं बलवन्तं वा (आहुतिवृधम्) यथावद्

अगन्म) प्राप्त हुये हैं वह (मे) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति कुशल, प्रतापी राजा अनेक विद्याओं के दान से प्रजा की रक्षा करे, उसी प्रकार प्रजा भी उसके उपकारों को सन्मान पूर्वक ग्रहण करे ॥१॥

सूक्तम् ३३ ॥

१ ॥ विश्वें देवा देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिवर्धनोपदेशः—सब सम्पतियों के बढ़ानेका उपदेश ॥

सं मा सिञ्चन्तु मुरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः । सं मायमुग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे १

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मुरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः । सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्र-जया । च । धनेन । च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) वायु के झोंके (मा) मुझे (सम्) भले प्रकार (सिञ्चन्तु) सींचे, (पूषा) पृथिवी (सम्) भले प्रकार और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक सूर्य [वा मेघ] (सम्) भले प्रकार [सींचे] । (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [शारीरिक अग्नि वा बल] (मा) मुझको (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि (च) और (धनेन) धन से (सम्) भले प्रकार (सिञ्चतु) सींचे (च) और (मा) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

दातव्यग्राह्यक्रियावर्धकम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (बिभ्रतः) धारयन्तः (नमः) वज्रम्—निघ० २ । २० (दीर्घम्) चिरम् (आयुः) जीवनम् (कृणोतु) करोतु (मे) मम ॥

१—(सम्) सम्यक् (मा) माम् (सिञ्चन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु । वर्धयन्तु (मरुतः) वायुगणाः (पूषा) पृथिवी—निघ० १ । १ (बृहस्पतिः) बृहतां पालकः सूर्यो मेघो वा (मा) (अयम्) (अग्निः) जाठराग्निः (सिञ्चतु) (प्रजया)

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर शारीरिक आत्मिक बल, सन्तान भृत्य आदि बढ़ा कर यश प्राप्त करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजराजपुरुषकर्तव्योपदेशः—राजा और राजपुरुष के कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्ने॒ जा॒तान् प्र णु॑दा मे स॒पत्ना॒न् प्रत्यजा॑ता॒न् जात॑वेदो नुदस्व । अ॒ध॒स्प॒दं कृ॑णुष्व॒ ये पृ॑त॒न्यवो॒ऽना॑गस॒स्ते व॒यमदि॑तये स्याम ॥ १ ॥

अग्ने॑ । जा॒तान् । प्र । नु॒द॒ । मे॒ । स॒-पत्ना॑न् । प्रति॑ । अजा॑तान् । जा॒त॒-वे॒दः॒ । नु॒द॒स्व॒ । अ॒धः॒-प॒दम् । कृ॒णु॒ष्व॒ । ये । पृ॒त॒न्यवः॑ । अना॑गसः । ते । व॒यम् । अदि॑तये । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे बलवान् राजन् वा सेनापति ! (मे) मेरे (जातान्) प्रसिद्ध (सपत्नान्) वैरियों को (प्रणुद) निकाल दे, (जातवेदः) हे बड़े बुद्धिवाले राजन् ! (अजातान्) अप्रसिद्ध [शत्रुओं] को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे । (ये) जो (पृतन्यवः) संग्राम चाहने वाले [विरोधी] हैं, (उन्हें) (अधस्पदम्) अपने पांव तले (कृणुष्व) करले (ते) वे (वयम्) हम लोग (अदितये) अदीन भूमि के लिये (अनागसः) निर्विघ्न हो कर (स्याम) रहें ॥ १ ॥

सन्तानभृत्यादिना (धनेन) वित्तेन । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(अग्ने) बलवन् राजन् सेनापते वा (जातान्) प्रादुर्भूतान् (प्र णुद) अपसारय (सपत्नान्) वैरिणः (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (नुदस्व) प्रेरय (अधस्पदम्) अ० २ । ७ । २ । पादस्याधस्तात् (कृणुष्व) कुरु (ये) शत्रवः (पृतन्यवः) पृतना—क्यच्, उ प्रत्ययः । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इत्याकारलोपः । संग्रामेच्छवः (अनागसः) निर्विघ्नाः (ते) तादृशाः (वयम्) धार्मिकाः (अदितये) अदीनायै भूम्यै—निघ० १ । १ । (स्याम) ॥

भावार्थ—राजा आदि सब लोग गुप्त दूतों द्वारा प्रकट और गुप्त दुष्टों को वश में करें, जिस से धर्मात्मा लोग निर्विघ्नता से संसार का उपकार करते रहें ॥१॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१५ । १ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ जातवेदा देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व । इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

प्र । अन्यान् । सु-पत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजातान् । जात-वेदः । नुदस्व । इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनवाले राजन् ! (सहसा) अपने बल से (अन्यान्) दूसरे लोगों [विरोधियों] को (प्र सहस्व) हरा दे और (अजातान्) अप्रकट (सपत्नान्) वैरियों को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे । (इदम्) इस (राष्ट्रम्) राज्य को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (पिपृहि) पूर्ण कर, (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (एनम् अनु) इस आप के साथ साथ (मदन्तु) प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से बाहिरी और भीतरी वैरियों का

१—(प्र) प्रकर्षेण (अन्यान्) विरोधिनः (सपत्नान्) शत्रून् (सहसा) स्वबलेन (सहस्व) अभिभव । पराजय (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रभूतधन राजन् (नुदस्व) अपसारय (इदम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (पिपृहि) पूरय (सौभगाय) सौभाग्याय (विश्वे) (एनम्) राजानम् (अनु) अनुसृत्य (मदन्तु) हर्षन्तु (देवाः) व्यवहारकुशलाः ॥

नाश करके प्रजापालन करे। और प्रजागण उस राजा के साथ साथ ऐश्वर्य बढ़ा कर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥

इमाः । याः । ते । शतम् । हिराः । सहस्रम् । धमनीः । उत । तासाम् । ते । सर्वासाम् । अहम् । अश्मना । बिलम् । अपि । अधाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरी (इमाः) यह (याः) जो (शतम्) सौ [बहुत] (हिराः) सूक्ष्म नाड़ियां (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [अनेक] (धमनीः) स्थूल नाड़ियां हैं। (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (बिलम्) छिद्र को (अहम्) मैं [प्रजागण] ने (अश्मना) व्यापक [अथवा पाषाण समान दृढ़] उपाय से (अपि) निश्चय करके (अधाम्) पुष्ट किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा की शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर उसे सदा प्रसन्न रक्खें ॥ २ ॥

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः । अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

२—(इमाः) शरीरस्थाः (याः) (ते) त्वदीयाः (शतम्) बहुसंख्याकाः (हिराः) अ० १ । १७ । १ । सूक्ष्मा नाड्यः (सहस्रम्) अनेकाः (धमनीः) अ० १ । १७ । २। स्थूला नाड्यः (उत) अपि (तासाम्) (ते) त्वदीयानाम् (सर्वासाम्) नाडीनाम् (अहम्) प्रजागणः (अश्मना) अ० १ । २ । २। व्यापकेनोपायेन । यद्वा पाषाणवद्दृढोपायेन (बिलम्) बिल भेदने—क। बिलं भरं भवति बिभर्त्तेः—निरु० २ । १७ । छिद्रम् (अपि) निश्चयेन (अधाम्) धाञो लुङ् । पोषितवानस्मि ॥

परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्र-जा । अभि । भूत् । मा । उत । सूनुः । अस्वम् । त्वा । अप्रजसम् । कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपि-धानम् । कृणोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरे (योनेः) घर के (परम्) शत्रु को (अवरम्) नीच (कृणोमि) बनाता हूं, (त्वा) तुझको (मा) न तो (प्रजा) प्रजा भृत्य आदि (उत) और (मा) न (सूनुः) पुत्र (अभि भूत्) तिरस्कार करे । (त्वा) तुझको (अस्वम्) बुद्धिमान् और (अप्रजसम) अताड़नीय पुरुष (कृणोमि) मैं करता हूं और (ते) तेरे (अपिधानम्) ओढ़ने [कवच] को (अश्मानम्) पत्थर समान दृढ़ (कृणोमि) मैं बनाता हूं ॥३॥

भावार्थ—बुद्धिमान्, बलवान्, दृढ़स्वभाव राजा ऐसी सुनीति का प्रचार करे कि उससे उसकी प्रजा और सन्तान में फूट न पड़े, किन्तु सब प्रीति पूर्वक रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१ ॥ मित्रे देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परमित्रत्वोपदेशः—परस्पर मित्रता का उपदेश ॥

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ १ ॥

अक्ष्यौ । नौ । मधुसंकाशे इति मधु-संकाशे । अनीकम् । नौ । सम्-अञ्जनम् । अन्तः । कृणुष्व । माम् । हृदि । मनः ।

३—(परम्) शत्रुम् (योनेः) गृहस्य (अवरम्) अधमम् (ते) तव (कृणोमि) करोमि (मा) निषेधे (त्वा) राजानम् (प्रजा) भृत्यादिः (अभिभूत्) अभिभवेत् । तिरस्कुर्यात् (मा) निषेधे (उत) अपि (सूनुः) पुत्रः (अस्वम्) असु–अर्श आद्यच् । असुः प्रज्ञाः—निघ ३ । ६ । प्रज्ञावन्तम् (त्वा) राजानम् (अप्रजसम्) जसु हिंसायां ताडने च—पचाद्यच् । अताडनीयम् बलवन्तम् (कृणोमि) (अश्मानम्) पाषाणवद् दृढम् (ते) तव (अपिधानम्) संवरणम् । कवचम् ॥

इत् । नौ । सुह । असति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नौ) हम दोनों की (अक्ष्यौ) दोनों आखें (मधुसंकाशे) ज्ञान की प्रकाश करने वाली और (नौ) हम दोनों का (अनीकम्) मुख (समञ्जनम्) यथावत् विकाश वाला [होवे]। (माम्) मुझको (हृदि अन्तः) अपने हृदय के भीतर (कृणुष्व) कर ले, (नौ) हम दोनों का (मनः) मन (इत्) भी (सह) एकमेल (असति) होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य आपस में प्रीतियुक्त रह कर सदा धर्मयुक्त व्यवहार करके प्रसन्न रहें ॥१॥

सूक्तम् ३७ ॥

१ ॥ दम्पती दवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

अभि त्वा मनु॑जातेन दधा॑मि मम॒ वास॑सा ।
यथासो॑ मम॒ केव॑लो॒ नान्यासां॑ कीर्तया॑श्च॒न ॥ १ ॥

अभि । त्वा । मनु॑-जातेन । दधा॑मि । मम॑ । वास॑सा । यथा॑ । असः॑ । मम॑ । केव॑लः । न । अन्यासा॑म् । कीर्तया॑ः । च॒न ॥१॥

भाषार्थ—[हे स्वामिन् !] (मनुजातेन) मननशील मनुष्यों में प्रसिद्ध (मम वाससा) अपने वस्त्र से (त्वा) तुझे (अभि दधामि) मैं बांधती हूं। (यथा) जिससे तू (केवलः) केवल (मम) मेरा (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥१॥

१—(अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (नौ) आवयोः (मधुसङ्काशे) काश दीप्तौ—अच्। ज्ञानप्रकाशिके (अनीकम्) अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४। १७ । अन जीवने-ईकन् । मुखप्रदेशः (समञ्जनम्) सम्यग्व्यक्तिकरं विकाशकम् (अन्तः) मध्ये (कृणुष्व) कुरु (माम्) मित्रम् (हृदि) हृदये (मनः) चित्तम् (इत्) एव (नौ) आवयोः (सह) परस्परमिलितम् (असति) भूयात् ॥

१—(त्वा) पतिम् (मनुजातेन) मननशीलेषु मनुष्येषु प्रसिद्धेन (अभि दधामि) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । बध्नामि (वाससा) वस्त्रेण यथा

भावार्थ—विवाह में विद्वानों के बीच वस्त्र का गठिबन्धन करके वधू और वर दृढ़प्रतिज्ञा करें कि पत्नी पतिव्रता और पति पत्नीव्रत होकर गृहस्थ आश्रम को प्रीति पूर्वक निबाहें ॥१॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेषजम् । माम्-पश्यम् । अभि-रोरुदम् ।
परा-यतः । नि-वर्तनम् । आ-यतः । प्रति-नन्दनम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्वामिन् ! मैं वधू] (मांपश्यम्) लक्ष्मी के देखने वाले [खोजने वाले], (अभिरोरुदम्) परस्पर संगति देने वाले, (परायतः) दूर जाने वाले के (निवर्तनम्) लौटाने वाले, (आयतः) आने वाले के (प्रतिनन्दनम्) स्वागत करने वाले (इदम्) इस [प्रतिज्ञा रूप] (भेषजम्) भयनिवारक औषध को (खनामि) खोदती हूं [प्रकट करती हूं] ॥ १ ॥

येन प्रकारेण (असः) असेलेटि, अडागमः । भवेः (मम) (केवलः) असाधारणः (न) निषेधे (अन्यासाम्) अन्यस्त्रीणाम् (कीर्तयाः) कृत संशब्दने, णिचि । उपधायाश्च । पा० ७ । १ । १०१ । इत्वम् उपधायां च । पा० ८ । २ । ७८ । इति दीर्घः, लेटि आडागमः । कीर्तयेः । कीर्तनं ध्यानं कुर्याः (चन) चार्थे ॥

१—(इदम्) प्रतिज्ञारूपम् (खनामि) खननेन अन्वेषणेन प्राप्नोमि (भेषजम्) भयनिवारकमौषधम् (मांपश्यम्) इन्दिरा लोकमाता मा—अमर० १ । २९ । मा=लक्ष्मीः । पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति दृशेः शप्रत्ययः । पाघ्राध्मा० । पा० ७ । ३ । ७८ । पश्यादेशः । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति द्वितीयाया अलुक् । मां लक्ष्मीं पश्यत् विलोकयत् (अभिरोरुदम्) अभि+रोरु+दम् । मीपीभ्यां रुः । उ०४ । १०१ । इति रुङ् गतिरेषणयोः—रु+दा—क । अभिरोरोः, अभिगतेः परस्परसंगतेः प्रदम् (परायतः) परा

भावार्थ—जिस प्रकार वैद्य उत्तम ओषधि को खोद कर उपकार लेता है। इसी प्रकार वधू वर प्रतिज्ञा करके परस्पर सुख बढ़ावें ॥१॥

येना॑ निच॒क्र आ॑सु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑ ।
तेन॒ा नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेऽसा॑नि॒ सुप्रि॑या ॥ २ ॥

येन॑ । नि॒-च॒क्रे । आ॒सु॒री । इन्द्र॑म् । दे॒वेभ्यः॑ परि॑ । तेन॑ । नि । कु॒र्वे॒ । त्वाम् । अ॒हम् । यथा॑ । ते॒ । असा॑नि । सु॒-प्रि॑या ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [उपाय] से (आसुरी) बुद्धिमानों वा बलवानों के हित करने वाली बुद्धि ने (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य को (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (परि) सब ओर से (निचक्रे) नियत किया था। (तेन) उसी [उपाय] से (अहम्) मैं (त्वम्) तुझको (नि कुर्वे) नियत करती हूं, (यथा) जिस से मैं (ते) तेरी (सुप्रिया) बड़ी प्रीति करने वाली (असानि) रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य पूर्वकाल में बुद्धि और बल द्वारा उत्तम गुण प्राप्त करते रहे हैं, उसी प्रकार दम्पती प्रयत्न करके परस्पर प्रीति के साथ उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

प्र॒तीची॒ सोम॑मसि प्रती॒च्यु॒त सूर्य॑म् ।
प्र॒तीची॒ विश्वा॑न् दे॒वान् तां त्वा॒च्छाव॑दामसि ॥ ३ ॥

+आङ्+इण गतौ—शतृ। दूरगच्छतः पुरुषस्य (निवर्त्तनम्) पुनरागमनकारणम् (आयतः) आगच्छतः पत्युः (प्रतिनन्दनम्) स्वागतकरम् ॥

२—(येन) उपायेन (निचक्रे) नियतं कृतवती (आसुरी) अ० १। २४। १। असुः प्रज्ञा प्राणो वा-रोमत्वर्थीयः—असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा—निरु० १०। ३४। मायायामण्। पा० ४। ४। १२४। असुर-अण्। प्रज्ञावतां बलवतां वा हिता माया प्रज्ञा-निघ० ३। ६। (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं नरम् (देवेभ्यः) उत्तमगुणानां प्राप्तये (परि) सर्वतः (तेन) उपायेन (नि) नियतम् (कुर्वे) करोमि (त्वाम्) वरम् (अहम्) वधूः (यथा) (ते) तव (असानि) भवानि (सुप्रिया) सुप्रीतिकरा ॥

प्रतीची । सोमम् । असि । प्रतीची । उत । सूर्यम् । प्रतीची । विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छ-आवदामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली तू (सोमम्) चन्द्रमा को, (उत) और (प्रतीची) प्रतिज्ञापूर्वक मार्गवाली तू (सूर्यम्) सूर्य को, और (प्रतीची) प्रतिष्ठा पूर्वक उपायवाली तू (विश्वान्) सब (देवान्) उत्तम गुणों को (असि—असत्सि) प्राप्त होती है, (ताम् त्वा) उस तुझको (अच्छावदामसि) हम स्वागत करके बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष चन्द्रसमान शान्त स्वभाव, सूर्यसमान तेजस्विनी और सर्वगुणवती वधू का यथावत् आदर करें ॥ ३ ॥

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद । मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (न इत्) अभी (वदामि) बोल रही हूं, (त्वम् त्वम्) तू तू (अह) भी (सभायाम्) सभा में (वद) बोल। (त्वम्) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्)

३—(प्रतीची) प्रति+अञ्चु गतौ—क्विन्। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। वा० पा० ४। १। ६। ङीप्। अचः। पा० ६। ४। १३८। अकारलोपः। चौ। पा० ६। ४। २२२। पूर्वपदस्य दीर्घः। प्रति निश्चयेन गतिमती ज्ञानवती (सोमम्) चन्द्रम्, चन्द्रतुल्यशान्तस्वभावम् (असि) असत्सि स्थाने असि रूपम्। अस ग्रहणे गतौ च-लट्। गच्छसि। प्राप्नोषि (प्रतीची) प्रतिज्ञया गतिमती मार्गवती (उत) अपि च (सूर्यम्) सूर्यतुल्यप्रतापम् (प्रतीची) प्रति प्रतिष्ठया गतिमती प्रयत्नवती (विश्वान्) सर्वान् (देवान्) दिव्यगुणान् (ताम्) तथाभूताम् (त्वा) त्वां वधूम् (अच्छावदामसि) अ० ६। ५४। ३। अच्छ सत्कारेण आह्वयामः ॥

४—(अहम्) वधूः (वदामि) प्रतिजानामि (न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१। (इत्) एव (त्वम् त्वम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् (सभायाम्) विद्वत्समाजे (अह)

दूसरी स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वधू और वर पंचों के सन्मुख दृढ़प्रतिज्ञा करके सदाचारी रह कर धर्म पर चलते रहें ॥४॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भेद से आचुका है—अ० ७ । ३७ । १ ॥

यदि॒ वासि॑ तिरोज॒नं यदि॑ वा न॒द्य॑स्ति॒रः ।

इ॒यं ह॒ मह्यं॒ त्वामोष॑धिर्ब॒द्ध्वे॒व॒ न्यान॑यत् ॥ ५ ॥

यदि॑ । वा॒ । असि॑ । ति॒रः॒ऽज॒नम् । यदि॑ । वा॒ । न॒द्यः॑ । ति॒रः । इ॒यम् । ह॒ । मह्य॑म् । त्वाम् । ओष॑धिः । ब॒द्ध्वाऽइ॑व । नि॒ऽआन॑यत् ॥५॥

भाषार्थ—[हे पति !] तू (यदि वा) चाहे (तिरोजनम्) मनुष्यों से अदृष्ट स्थान में (असि) है, (यदि वा) चाहे (नद्यः) नदियां (तिरः) बीच में हैं । (इयम्) यह [प्रतिज्ञारूप] (ओषधिः) ओषधि (मह्यम्) मेरे लिये (ह) ही (त्वाम्) तुझको (बध्वा इव) बांध कर जैसे (न्यानयत्) लेआवे ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य वाणिज्य, युद्ध आदि के लिये दूर परदेशों में जाकर अपने देश को लौटा करें ॥ ५ ॥ (पतिदेव पत्नी के प्रेम से आबद्ध हो शीघ्र ही आ जावें)

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१ ॥ सुपर्णः सूर्यो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

एव (वद) प्रतिजानीहि (मम) (इत्) एव । अन्यत्पूर्ववत् अ० ७ । ३७ ॥१॥

५—(यदि वा) अथवा (असि) भवसि (तिरोजनम्) क्रियाविशेषणमेतत् । तिरोऽन्तर्हितो ऽदृष्टो जनो यस्मिन्स्थाने तस्मिन् (यदि वा) (नद्यः) सरितः (तिरः) तिरोभूत्वा व्यवधानेन वर्तन्ते (इयम्) प्रतिज्ञारूपा (ह) एव (मह्यम्) मदर्थम् (त्वाम्) पतिम् (ओषधिः) (बद्ध्वा) निगृह्य (इव) (न्यानयत्) नयतेर्लेटि, अडागमः । नितरामानयेत् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दि॒व्यं सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ वृष॒भमोष॑धीनाम् । अ॒भी॒प॒तो वृ॒ष्ट्या त॒र्पय॑न्त॒मा नो॑ गो॒ष्ठे र॑यि॒ष्ठां स्था॑पयाति ॥ १ ॥

दि॒व्यम् । सु॒-प॒र्णम् । प॒य॒सम् । बृ॒हन्त॑म् । अ॒पाम् । गर्भ॑म् । वृ॒ष॒भम् । ओष॑धीनाम् । अ॒भी॒प॒तः । वृ॒ष्ट्या । त॒र्पय॑न्तम् । आ । नः॒ । गो॒-स्थे । र॒यि॒-स्थाम् । स्था॒प॒या॒ति॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिव्यम्) दिव्य गुणवाले, (पयसम्) गतिवाले, (बृहन्तम्) विशाल, (अपाम्) अन्तरिक्ष के (गर्भम्) गर्भसमान बीच में रहने वाले, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों के (वृषभम्) वरसाने वाले, (अभीपतः) सब ओर जल वाले मेघ से (वृष्ट्या) वृष्टिद्वारा (तर्पयन्तम्) तृप्त करने वाले, (रयिष्ठाम्) धन के बीच ठहरने वाले, (सुपर्णम्) सुन्दर किरणों वाले सूर्य के समान विद्वान् पुरुष को (नः) हमारे (गोष्ठे) गोठ वा वार्तालाप स्थान में (आ) लाकर (स्थापयाति) [यह पुरुष] स्थान देवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब लोकों के बीच ठहर कर भूगोल आदि लोकों को प्रकाश, वृष्टि आदि से सुखी करता है, वैसेही जो विद्वान् ज्ञान और उपदेश से सब जनों को आनन्दित करे, उसका सब लोग आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ५२ ॥

१—(दिव्यम्) दिव्यगुणम् (सुपर्णम्) रश्मियुक्तसूर्यतुल्यं विद्वांसम् (पयसम्) पय गतौ—असुन्, अर्श आद्यच् । गतिमन्तम् (बृहन्तम्) महान्तम् (अपाम्) अन्तरिक्षस्य—निघ० १ । ३ । (गर्भम् ।) गर्भ इव मध्ये स्थितम् (वृषभम्) वर्षयितारं वर्धयितारम् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (अभीपतः) ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । अभि + अप् शब्दाद्—अ । द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् । पा० ६।३।९७। अकारस्य ईत्वम् । ततस्तसिल् । अभितः सर्वत आपो यस्मिंस्तस्माद् मेघात् (वृष्ट्या) जलवर्षणेन (तर्पयन्तम्) हर्षयन्तम् (आ) आनीय (नः) अस्माकम् (गोष्ठे) वार्तालापस्थाने विद्वत्समाजे (रयिष्ठाम्) धने तिष्ठन्तम् (स्थापयाति) लेटि रूपम् । स्थापयेत् ॥

सूक्तम् ४० ॥

१—२ ॥ सरस्वान् देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर के उपासना का उपदेश ॥

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑। यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्ट॒पति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥ १ ॥

यस्य॑। व्र॒तम्। प॒शवः॑। यन्ति॑। सर्वे॑। यस्य॑। व्र॒ते। उ॒प॒ऽतिष्ठ॑न्ते। आपः॑। यस्य॑। व्र॒ते। पु॒ष्ट॒ऽपतिः॑। निऽवि॑ष्टः। तम्। सर॑स्वन्तम्। अव॑से। ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (व्रतम्) सुन्दर नियम पर (सर्वे) सब (पशवः) पशु अर्थात् प्राणी (यन्ति) चलते हैं, (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (आपः) जल (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित रहते हैं। (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी, पूषा सूर्य (निविष्टः) प्रवेश किये हुये है, (तम्) उस (सरस्वन्तम्) बड़े विज्ञान वाले परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से यह सब लोक लोकान्तर परस्पर आकर्षण में रह कर एक दूसरे का सहाय करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

आ प्र॒त्यञ्चं॑ दा॒शुषे॑ दा॒श्वंसं॒ सर॑स्वन्तं पुष्ट॒पतिं॑ रयि-

---

१—(यस्य) सरस्वतः (व्रतम्) वरणीयं नियमम् (पशवः) अ० २। २६। १। पशवः=व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११। २९। सर्वे प्राणिनः (यन्ति) गच्छन्ति (व्रते) शासने (उपतिष्ठन्ते) अकर्मकाच्च। पा० १। ३। २६। इत्यात्मनेपदम्। उपस्थिताः सन्ति (आपः) जलानि (पुष्टपतिः) पोषणस्य स्वामी। पूषा सूर्यः (तम्) तादृशम् (सरस्वन्तम्) सरांसि श्रेष्ठानि विज्ञानानि सन्ति यस्मिंस्तं परमेश्वरम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आह्वयामः ॥

ष्ठाम् । रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुषे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्ट-पतिम् । रयि-स्थाम् । रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् । रयीणाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षव्यापक, (दाशुषे) आत्मदान करने वाले [भक्त] को (दाश्वंसम्) सुख देने वाले (पुष्टपतिम्) पोषण के स्वामी, (रयिष्ठाम्) धन में स्थिति वाले, (रायः) धन के (पोषम्) बढ़ाने वाले, (श्रवस्युम्) सुनने वाले, (रयीणाम्) अनेक धनों के (सदनम्) भण्डार (सरस्वन्तम्) बड़े ज्ञानवान् परमेश्वर को (वसानाः) स्वीकार करते हुये हम लोग (इह) यहां पर (आ) सब प्रकार (हुवेम) बुलावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक परमेश्वर के अनन्त भण्डार से अनेक प्रकार के धन प्राप्त करके सुखी रहें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

१—२ ॥ श्येनो देवता ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ।

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।

२—(आ) समन्तात् (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षव्यापकम् (दाशुषे) अ० ४ । २४ । १ । आत्मानं दत्तवते (दाश्वंसम्) छान्दसो ह्रस्वः । दाश्वांसम् । सुखस्य दातारम् (सरस्वन्तम्)—म० १ । पूर्णविज्ञानवन्तम् (पुष्टपतिम्) पोषणस्य स्वामिनम् (रयिष्ठम्) धने स्थितम् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष पुष्टौ पचाद्यच् । पोषकम् (श्रवस्युम्) अ० ६ । ६८ । २ । श्रवणशीलम् (वसानाः) वस स्वीकारे चुरादिः, शानचि छान्दसं रूपम् । स्वीकुर्वाणाः (इह) अस्मिन् संसारे (हुवेम) लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति ह्वेञ् आह्वाने—अङ् । बहुलं छन्दसि । पा० ६ । १ । ३४ । सम्प्रसारणम् । ह्वयास्म । आह्वयेम (सदनम्) गृहम् (रयीणाम्) धनानाम् ॥

तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जंगम्यात् ॥ १ ॥

अति । धन्वानि । अति । अपः । ततर्द । श्येनः । नृ-चक्षाः । अवसान-दर्शः । तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण । सख्या । शिवः । आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ–(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाले, (अवसानदर्शः) अन्त के देखने वाले, (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा ने (धन्वानि) निर्जल देशों को (अति) अत्यन्त करके और (अपः) जलों को (अति) अत्यन्त करके (ततर्द) पीड़ित [वशीभूत] किया है । (शिवः) मङ्गलकारी परमेश्वर (अवरा) अत्यन्त श्रेष्ठ (विश्वानि) सब (रजांसि) लोकों को (तरन्) तराता हुआ (सख्या) मित्ररूप (इन्द्रेण) ऐश्वर्य के साथ (आ जगम्यात्) आवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के आधीन वृष्टि, अनावृष्टि, मनुष्यों के कर्मों के फल और श्रेष्ठों को मुक्ति दान आदि हैं। उस परमात्मा की भक्ति करके मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः । स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकं

१—(अति) अत्यन्तम् (धन्वानि) धन्व गतौ—कनिन् । मरुस्थलानि (अति) (अपः) जलानि (ततर्द) तर्द हिंसायाम् । पीडितवान् । वशीकृतवान् (श्येनः) अ० ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४। १३। ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) अ० ४ । १६ । ७ । मनुष्याणां द्रष्टा (अवसानदर्शः) षो अन्तकर्मणि—ल्युट् + दृशिर् दर्शने–अच् । सीमादर्शकः (तरन्) तारयन् । पारयन् (विश्वानि) (अवरा) नास्ति वरं यस्मात्तद् अवरमत्यन्तश्रेष्ठम् । अवराणि । अत्यन्तश्रेष्ठानि (रजांसि) लोकान् (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (सख्या) मित्रभूतेन (शिवः) मङ्गलकारी (आ जगम्यात्) अ० ७ । २६ । २। आगच्छेत् ॥

मस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

श्येनः । नृ-चक्षाः । दिव्यः । सु-पर्णः । सहस्र-पात् । शत-योनिः । वयः-धाः । सः । नः । नि । यच्छात् । वसु । यत् । परा-भृतम् । अस्माकम् । अस्तु । पितृषु । स्वधा-वत् ॥२॥

भाषार्थ—(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाला, (दिव्यः) दिव्य स्वरूप, (सुपर्णः) बड़ी पालन शक्ति वाला, (सहस्रपात्) सहस्रों असीम पाद अर्थात् गति शक्ति वाला, [मन से अधिक वेग वाला—यजु० ४० । ४] (शतयोनिः) सैकड़ों [अगणित] लोकों का घर, (वयोधाः) अन्नदाता (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा है । (सः) वह (नः) हमें (वसु) वह धन (नि) निरन्तर (यच्छात्) देवे, (यत्) जो (पराभृतम्) पराक्रम से धारण किया गया (अस्माकम्) हमारे (पितृषु) पितरों [बड़े बूढ़ों] के बीच (स्वधावत्) आत्मधारण शक्ति वाला (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्यों को विचारकर अनेक उद्योगों के साथ विद्वानों का पालन करके सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-२ ॥ सोमारुद्रौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजवैद्ययोर्गुणोपदेशः—राजा और वैद्य के गुणों का उपदेश ॥

२—(श्येनः) म० १ । ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) नृणां द्रष्टा (दिव्यः) अद्भुतस्वरूपः (सुपर्णः) अ० १ । २४ । १ । शोभनपालनः (सहस्रपात्) पद गतौ—घञ् । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । ४ । १४० । अन्त्यलोपः । सहस्राणि अपरिमिताः पादा गतिशक्तयो यस्य सः । मनसो जवीयः—यजु० ४० । ४ । इति श्रुतेः (शतयोनिः) योनिर्गृहम्—निघ० ३ । ४ । अपरिमितानां लोकानां गृहम् (वयोधाः) अ० ५ । ११ । ११ । अन्नस्य दाता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (नि) निरन्तरम् (यच्छात्) दद्यात् (वसु) धनम् (यत्) (पराभृतम्) पराक्रमेण धृतम (अस्माकम्) (अस्तु) (पितृषु) पित्रादिमान्येषु (स्वधावत्) अ० ३ । २६ । १ । आत्मधारणसामर्थ्ययुक्तम् ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश । बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । वि । वृहतम् । विषूचीम् । अमीवा । या । नः । गयम् । आ-विवेश । बाधेथाम् । दूरम् । निः-ऋतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः । प्र । मुमुक्तम् । अस्मत् ॥१॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान सुखदायक राजा और वैद्य !] तुम दोनों (विषूचीम्) विसूचिका, [हुलकी आदि] को (विवृहतम्) छिन्न भिन्न कर दो, (या अमीवा) जो रोग (नः गयम्) हमारे घर वा सन्तान में (आविवेश) प्रवेश कर गया है । (निर्ऋतिम्) दुःखदायिनी कुनीति को (पराचैः) औंधे मुह करके (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाओ, और (कृतम्) उसके किये हुये (एनः) दुःख को (चित्) भी (अस्मत्) हम से (प्र मुमुक्तम्) छुड़ा दो ॥१॥

भावार्थ—जो राजा और वैद्य कारणों को समझ कर कुनीति और रोग का प्रतिकार करते हैं, वहां प्रजागण दुःख से छूटकर सुखी रहते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ७४ । २, ३ । इनका भाष्य महर्षि दयानन्द के आश्रय पर किया गया है ॥

१—(सोमारुद्रा) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु १४ । १२ । रुद्रो रौतीति सतः—निरु० १० । ५ । मध्यस्थानो मेघः । सूर्यमेघवत् सुखप्रदौ राजवैद्यौ (वि वृहतम्) वृह्ह उद्यमने । छेदयतम् (विषूचीम्) अ० १ । २६ । १ । विषु+अञ्चु गतौ–क्विन् । विषूचिकादिरोगम् (अमीवा) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे पीडने च–वन, ईडागमः, टाप् । रोगः (या) (नः) अस्माकम् (गयम्) गृहमपत्यं वा (आविवेश) प्रविष्टवती (बाधेथाम्) निवारयतम् (दूरम्) (निर्ऋतिम्) दुःखप्रदां कुनीतिम् (पराचैः) अ० २ । १० । ५ । पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) तया सम्पादितम् (एनः) दोषम् (प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) मोचयतम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

सोमा॑रुद्रा यु॒वमे॒तान्य॒स्मद् विश्वा॑ त॒नूषु॑ भेष॒जानि॑ धत्तम् ।
अव॑ स्यतं मु॒ञ्चतं॒ यन्नो॒ अस॑त् त॒नूषु॑ ब॒द्धं कृ॒तमेनो॑ अ॒स्मत् ॥२॥

सोमा॑रुद्रा । यु॒वम् । ए॒तानि॑ । अ॒स्मत् । विश्वा॑ । त॒नूषु॑ । भे॒ष॒जानि॑ । ध॒त्त॒म् । अव॑ । स्य॒त॒म् । मु॒ञ्चत॑म् । यत् । नः॒ । अस॑त् । त॒नूषु॑ । ब॒द्धम् । कृ॒तम् । एनः॑ । अ॒स्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान उपकारी राजा और वैद्य !] (युवम्) तुम दोनों (एतानि विश्वा भेषजानि) इन सब औषधों को (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (धत्तम्) रक्खो। (यत्) जो (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (बद्धम्) लगा हुआ और (कृतम्) किया हुआ (एनः) दोष (असत्) होवे, [उसे] (अस्मत्) हमसे (अव स्यतम्) नष्ट करो और (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥२॥

भावार्थ—राजा और वैद्य वैद्यक विद्या के प्रचार से प्रजा को कुपथ्य आदि दोषों से बचाकर नीरोग और पुरुषार्थी बनाकर सुखी रक्खें ॥१॥

सूक्तम् ४३ ॥

१ ॥ वाचो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कल्याण्या वाचः प्रचारोपदेशः—कल्याणी वाणी के प्रचार का उपदेश ॥

शि॒वास्त॒ एका॒ अशि॑वास्त॒ एकाः॒ सर्वा॑ बिभर्षि सुमन॒स्यमा॑नः। ति॒स्रो वाचो॒ निहि॑ता अ॒न्तर॒स्मिन् तासा॒मेका॒ वि प॑पा॒तानु॒ घोष॑म् ॥ १ ॥

२—(सोमारुद्रा) म० १ (युवम्) युवाम् (एतानि) रोगनिवारकाणि (अस्मत्) षष्ठ्या लुक्। अस्माकम् (विश्वा) सर्वाणि (तनूषु) शरीरेषु (भेषजानि) औषधानि (धत्तम्) धारयतम् (अव स्यतम्) षो अन्तकर्मणि। सर्वथा नाशयतम् (मुञ्चतम्) वियोजयतम् (यत्) दुःखम् (नः) अस्माकम् (असत्) स्यात् (बद्धम्) लग्नम् (कृतम्) (एनः) कुपथ्यादिदोषम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । बिभर्षि । सु-मनस्यमानः । तिस्रः । वाचः । नि-हिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एका । वि । पपात । अनु । घोषम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे पुरुष!] (ते) तेरी (एकाः) कोई [वाचायें] (शिवाः) कल्याणी हैं और (ते) तेरी (एकाः) कोई (अशिवाः) अकल्याणी हैं [और कोई माध्यमिका हैं], (सर्वाः) इन सब को (सुमनस्यमानः) अच्छे प्रकार मनन करता हुआ तू (विभर्षि) धारण करता है। (तिस्रः) यह तीनों (वाचः) वाचायें (अस्मिन् अन्तः) इस [आत्मा] के भीतर (निहिताः) रक्खी रहती हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाः) एक [कल्याणी वाणी] (घोषम् अनु) उच्चारण के साथ साथ (वि) विशेष करके (पपात) ऐश्वर्यवती हुई है॥

भावार्थ- जो मनुष्य अपने हृदय में हित, अहित और उदासीनता का विचार करके एक हित ही बोलते हैं, वही ऐश्वर्यवान् पुरुष संसार को ऐश्वर्यवान् करते हैं॥१॥

सूक्तम् ४४ ॥

१ ॥ इन्द्राविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सभासेनेशकर्मोपदेशः—सभा और सेना के स्वामी के कर्म का उपदेश॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः । इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि

१—(शिवाः) कल्याण्यः। वेदवाचः (ते) तव (एकाः) अन्याः (अशिवाः) अकल्याण्यः। अहिताः (ते) (एकाः) (सर्वाः) शिवा अशिवा माध्यमिका वाचश्च (विभर्षि) धरसि (सुमनस्यमानः) अ० १। ३५। १। शोभनं ध्यायन्। सुमननशीलः (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (वाचः) वाण्यः (निहिताः) अवस्थिताः (अन्तः) मध्ये (अस्मिन्) आत्मनि। मनसि (तासाम्) वाचां मध्ये (एका) शिवा वाक् (वि) विशेषेण (पपात) पत ऐश्वर्ये-लिट्। ईश्वरी बभूव (अनु) अनुसृत्य (घोषम्) उच्चारणध्वनिम्॥

तदैँरयेथाम् ॥ १ ॥

उभा । जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये । कतरः । चन । एनयोः । इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अपस्पृधेथाम् । त्रेधा । सहस्रम् । वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे बिजुली [के समान व्याप्त होने वाले सभापति !] (च) और (इन्द्रः) हे वायु [के समान ऐश्वर्यवान् सेनापति !] (उभा) तुम दोनों ने [शत्रुओं को] (जिग्यथुः) जीता है, और तुम दोनों (न) कभी नहीं (परा जयेथे) हारते हो, (एनयोः) इन [तुम] दोनों में से (कतरः चन) कोई भी (न) नहीं (परा जिग्ये) हारा है । (यत्) जब (अपस्पृधेथाम्) तुम दोनों ललकारे हो, (तत्) तब (सहस्रम्) असंख्य [शत्रु सेनादल] को (त्रेधा) तीन विधि पर [ऊंचे, नीचे और मध्य स्थान में] (वि) विविध प्रकार से (ऐरयेथाम्) तुम दोनों ने निकाल दिया है ॥१॥

भावार्थ—जहां पर सभापति और सेनापति पराक्रमी, प्रतापी और नीतिमान् होते हैं, वहां शत्रु लोग नहीं ठहरते ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ६६ । ८ ॥

इसका भाष्य यहां महर्षि दयानन्द के आशय पर किया गया है ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-२ ॥ भेषजं देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ।

१—(उभा) इन्द्राविष्णू । सभासेनेशौ (जिग्यथुः) लिटि रूपम् । युवां जितवन्तौ शत्रून् (न) निषेधे (परा जयेथे) लटि रूपम् । पराजयं प्राप्नुथः (न) (पराजिग्ये) पराजितो बभूव (कतरः) द्वयोर्मध्ये एकतरः (चन) अपि (एनयोः) अनयोर्मध्ये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वायुवद्वर्तमानः सेनापतिस्त्वम् (विष्णो) विद्युद्वद्व्यापनशील सभापते (यत्) यदा (अपस्पृधेथाम्) अपस्पृधेथामानृचुरा० । पा० ६ । १ । ३६ । स्पर्धतेर्लङि द्विर्वचनं सम्प्रसारणं च । अस्पर्धेथाम् शत्रुभिः सह (त्रेधा) त्रिप्रकारेण, उच्चनीचमध्यस्थानेन (सहस्रम्) असंख्यं शत्रुसैन्यम् (वि) विशेषेण (तत्) तदा (ऐरयेथाम्) ईर—लङ् । बहिष्कृतवन्ता ॥

ईर्ष्यादोषनिवारणोपदेशः—ईर्ष्या दोष के निवारण का उपदेश ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥

जनात् । विश्व-जनीनात् । सिन्धुतः । परि । आ-भृतम् । दूरात् । त्वा । मन्ये । उत्-भृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे भयनिवारक ज्ञान !] (सिन्धुतः) समुद्र [के समान गम्भीर स्वभाव वाले (विश्वजनीनात्) सब जनों के हितकारी (जनात्) जन के पास से (दूरात्) दूर देश से (परि) सब प्रकार (आभृतम्) लाये हुये और (उद्भृतम्) उत्तमता से पुष्ट किये हुये (त्वा) तुझको (ईर्ष्यायाः) दाह का (नाम) प्रसिद्ध (भेषजम्) भयनिवारक औषध (मन्ये) मैं मानता हूं ॥१

भावार्थ—जैसे मनुष्य बहुमूल्य उत्तम औषध को दूर देश से लाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग सर्व हितकारी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके ईर्षा छोड़ कर दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझें ॥१॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अग्नेः-इव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् । एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्ना । अग्निम्-इव । शमय ॥२॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (दहतः) जलती हुई (अग्नेः इव) अग्नि के

१—(जनात्) लोकात् (विश्वजनीनात्) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः । पा० ५ । १ । ६ । इति ख । सर्वजनहितात् (सिन्धुतः) समुद्र इव गम्भीरस्वभावात् (परि) सर्वतः (आभृतम्) हस्य भः । आहृतम् (दूरात्) दूरदेशात् (त्वा) त्वां भेषजम् (मन्ये) जानामि (उद्भृतम्) उत्तमतया पोषितम् (ईर्ष्यायाः) अ० ६ । १८ । १ । परोत्कर्षासहनतायाः (नाम) प्रसिद्धम् (भेषजम्) भयनिवारकमौषधं ज्ञानमित्यर्थः ॥

२—(अग्नेः) पावकस्य (इव) यथा (अस्य) पुरोवर्तिनः (दहतः)

समान, (पृथक्) अथवा (दहतः) जलती हुई (दावस्य) वन अग्नि के [समान] (एतस्य) इस पुरुष की (एनाम्) इस (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (शमय) शान्त कर दे, (इव) जैसे (उद्ना) जल से (अग्निम्) आग को ॥२॥

भावार्थ—ईर्ष्यालु अर्थात् दूसरे के अभ्युदय को न सहने वाला मनुष्य आग के समान भीतर ही भीतर जल कर राख के समान नाश हो जाता है, इससे वह ईर्ष्या दोष को ऐसा शान्त रक्खे जैसे अग्नि को जल से ॥२॥

सूक्तम् ४६ ॥

१-३ ॥ सिनीवाली देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुणों का उपदेश ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथु-स्तुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा ।
जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । दिदिड्ढि । नः ॥१॥

भाषार्थ—(पृथुष्टुके) हे बहुत स्तुतिवाली ! (सिनीवालि) अन्नवाली [वा प्रेमयुक्त बल करने वाली] गृहपत्नी ! (या) जो तू (देवानाम्) दिव्यगुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली वा ग्रहण करनेवाली (असि) है। सो तू (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य, (आहुतम्) सब प्रकार

ज्वलतः (दावस्य) टु दु उपतापे—घञ् । वनाग्नेः (दहतः) (पृथक्) भिन्ने । अथवा (एताम्) (एतस्य) ईर्ष्यालोः पुरुषस्य (ईर्ष्याम्) मत्सरबुद्धिम् (उद्ना) अ० ३ । १२ । ४ । उदकेन (अग्निम्) (इव) (शमय) शान्तां कुरु ॥ ३ ॥

१—(सिनीवालि) अ० २ । २६ । २ । षिञ् बन्धने—नक्, ङीप् + वल जीवने दाने च—अण्, ङीप् । हे अन्नवति—निरु० ११ । ३१ । यद्वा सिनी प्रेमबद्धा चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ (पृथुष्टुके) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति ष्टुञ् स्तुतौ—कक् । बहुस्तुतियुक्ते (या) (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (असि) भवसि (स्वसा) अ० ५ । ५ । १ । सु + अस दीप्तौ ग्रहणे च—ऋन् । सुष्ठु दीपयित्री ग्रहीत्री वा (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) ग्राह्यम् (आहुतम्)

स्वीकार किये व्यवहार का (जुषस्व) सेवन कर और (देवि) हे कामनायोग्य देवी ! (नः) हमारे लिये (प्रजाम्) सन्तान (दिदिड्ढि) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस घर में अन्नवती, सुशिक्षित, व्यवहार कुशल स्त्रियां होती हैं, वहीं उत्तम सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२। ३२। ६। और यजुर्वेद—३४। १०। तथा—निरु० ११। ३२। में व्याख्यात है ॥

या सु॒बा॒हुः स्व॑ङ्गु॒रिः सु॒षूमा॑ बहु॒सूव॑री ।

तस्यै॑ वि॒श्पत्न्यै॑ ह॒विः सि॑नीवा॒ल्यै॑ जु॑होतन ॥ २ ॥

या । सु॒ऽबा॒हुः । सु॒ऽअ॒ङ्गु॒रिः । सु॒ऽसूमा॑ । ब॒हु॒ऽसूव॑री ।

तस्यै॑ । वि॒श्पत्न्यै॑ । ह॒विः । सि॒नी॒वा॒ल्यै॑ । जु॒हो॒त॒न ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (सुबाहुः) शुभकर्मों में भुजा रखने वाली, (स्वङ्गुरिः) सुन्दर व्यवहारों में अङ्गुरी रखने वाली, (सुषूमा) भली भांति आगे चलने वाली, और (बहुसूवरी) बहुत प्रकार से वीरों की उत्पन्न करने वाली, [माता है]। (तस्यै) उस (विश्पत्न्यै) प्रजाओं की पालने वाली, (सिनीवाल्यै) बहुत अन्न वाली [गृहपत्नी] को (हविः) देने योग्य पदार्थ का (जुहोतन) दान करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्रियां गृहकार्य में चतुर वीर सन्तान उत्पन्न करने हारी हैं, उनका सत्कार सब मनुष्यों को सदा करना चाहिये ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२। ३२। ७ ॥

समन्तात् स्वीकृतं व्यवहारम् (प्रजाम्) सुसन्तानरूपाम् (देवि) कमनीये विदुषि (दिदिड्ढि) दिश दाने—लोटि, शपःश्लु। दिश। देहि (नः) अस्मभ्यम् ॥

२—(या) पत्नी (सुबाहुः) शुभकर्मसु बाहू यस्याः सा (स्वङ्गुरिः) शोभनेषु व्यवहारेषु अङ्गुरयो यस्याः सा (सुषूमा) इषियुधीन्धि०। उ० १। १४५। षू प्रेरणे—मक्, टाप्। सुप्रेरयित्री। सुनेत्री (बहुसूवरी) षू प्रसवे—क्वनिप्। वनो र च। पा० ४। १। ७। ङीब्रेफौ। बहुविधं वीराणां जनयित्री (तस्यै) (विश्पत्न्यै) प्रजानां पालयित्र्यै (हविः) दातव्यं पदार्थम् (सिनीवाल्यै) म० १। अन्नवत्यै (जुहोतन) तप्तनप्तनथनाश्च। पा० ७। १। ४५। इति हु दानादिषु लोटि तस्य तनप्। जुहुत। दत्त ॥

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी। विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

या। विश्पत्नी। इन्द्रम्। असि। प्रतीची। सहस्र-स्तुका। अभि-यन्ती। देवी। विष्णोः। पत्नि। तुभ्यम्। राता। हवींषि। पतिम्। देवि। राधसे। चोदयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(या) जो (विश्पत्नी) सन्तानों की पालने वाली, (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली, (सहस्रस्तुका) सहस्रों स्तुतिवाली, (अभियन्ती) चारों ओर चलती हुई (देवी) देवी तू (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (असि=अससि) ग्रहण करती है। (विष्णोः पत्नि) हे कामों में व्यापक वीर पुरुष की पत्नी! (तुभ्यम्) तेरे लिये (हवींषि) देने योग्य पदार्थ (राता) दिये गये हैं, (देवि) हे देवी! (पतिम्) अपने पति को (राधसे) सम्पत्ति के लिये (चोदयस्व) आगे बढ़ा ॥३॥

भावार्थ—स्त्रियां गृहकार्य में चतुर रह कर अपने पतियों द्वारा धन संचय कराकर सन्तान पालन आदि कार्य करती रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-२ ॥ कूहूर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुण का उपदेश ॥

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि। सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु

३—(या) (विश्पत्नी) प्रजानां पालयित्री (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (असि) अस ग्रहणे। अससि गृह्णासि (प्रतीची) अ० ७। ३८। ३। निश्चितज्ञानयुक्ता। (सहस्रस्तुका) म० १। ष्टुञ्-कक्। असंख्यस्तुतियुक्ता (अभियन्ती) अभितो गच्छन्ती (देवी) व्यवहारकुशला (विष्णोः) कार्येषु व्यापकस्य पत्युः (पत्नि) (तुभ्यम्) (राता) दत्तानि (हवींषि) दातव्यानि वस्तूनि (पतिम्) स्वामिनम् (देवि) (राधसे) धनाय—निघ० २। १० (चोदयस्व) प्रेरयस्व। प्रगमय॥

वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सु-कृतम् । विद्मना-अपसम् । अस्मिन् । यज्ञे । सु-हवा । जोहवीमि । सा । नः । रयिम् । विश्व-वारम् । नि । यच्छात् । ददातु । वीरम् । शत-दायम् । उक्थ्यम् ॥

भाषार्थ—(सुकृतम्) सुन्दर काम करने वाली, (विद्मनापसम्) कर्तव्यों को जानने वाली, (देवीम्) दिव्यगुणवाली (कुहूम्) कुहू, अर्थात् अद्भुत स्वभाव वाली स्त्री को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (सुहवा) विनीत बुलावे के साथ (जोहवीमि) मैं बुलाता हूं । (सा) वह (नः) हमें (विश्ववारम्) सब उत्तम व्यवहार वाले (रयिम्) धन को (नि) नित्य (यच्छात्) देती रहे और (शतदायम्) असंख्य धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—गुणवती, समझवार स्त्री गृहकार्य में परिमितव्यय कर धनवती होकर अपने सन्तानों को उत्तम वीर बनावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से-निरु० ११ । ३३ । में व्याख्यात है ॥

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।

१—(कुहूम्) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । कुह विस्मापने-कु, ऊङ् । सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्यौ-निरु० ११ । ३१ । कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयत इति-वा । क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ११—३२ । कुहूः पदनाम-निघ० ५ । ५ । विस्मापनशीलाम् । अद्भुतस्वभावां स्त्रियम् (देवीम्) दिव्यगुणाम् (सुकृतम्) सुकर्माणम् (विद्मनापसम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति विद ज्ञाने—मक् । विद्मो वेदनम्, तद्वत् विज्ञनम्, पामादिलक्षणो न प्रत्ययः, अपः कर्म । विज्ञनानि विदितान्यपांसि कर्माणि यस्यास्ताम् । विदित-कर्माणम्—निरु० ११ । ३३ (अस्मिन्) (यज्ञे) पूजनीये कर्मणि (सुहवा) विभक्तेराकारः । सुहवेन । शोभनाह्वानेन (जोहवीमि) भृशमाह्वयामि (सा) कुहूः (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (विश्ववारम्) सर्ववरणीयव्यवहार-युक्तम् (नि) नित्यम् (यच्छात्) दद्यात् (ददातु) (वीरम्) वीरसन्तानम् (शतदायम्) ददातेर्घञ्, युक् । बहुधनम् (उक्थ्यम्) प्रशस्यम् ॥

शृणोतु युज्ञमु॑श॒ती नो॑ अ॒द्य रा॒यस्पोषं॑ चिकि॒तुषी॑ दधातु २

कु॒हूः । दे॒वाना॑म् । अ॒मृत॑स्य । पत्नी॑ । हव्या॑ । नः॒ । अ॒स्य । ह॒विषः॑ । जु॒षे॒त । शृ॒णोतु॑ । य॒ज्ञम् । उ॒श॒ती । नः॒ । अ॒द्य । रा॒यः । पोष॑म् । चि॒कि॒तुषी॑ । द॒धा॒तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानोंके बीच (अमृतस्य) अमर [पुरुषार्थी] पुरुष की (पत्नी) पत्नी (हव्या) बुलाने योग्य वा स्वीकार करने योग्य, (कुहूः) कुहू अर्थात् विचित्र स्वभाववाली स्त्री (नः) हमारे (अस्य) इस (हविषः) ग्रहण योग्य कर्म का (जुषेत) सेवन करे। (यज्ञम्) सत्संग को (उशती) इच्छा करती हुई (चिकितुषी) विज्ञानवती वह (अद्य) आज (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (दधातु) पुष्ट करे ॥२॥

भावार्थ—जिस घर में यशस्वी पुरुष की पत्नी सब घरवालों की सुधि रखने वाली और परिमित व्ययवाली होती है। वहां वह धन बढ़ाकर सब को आनन्द देती है ॥ २ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२ ॥ राका देवता ॥ जगती छन्दः ॥

स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्यों का उपदेश ॥

रा॒काम॒हं सु॒हवां॑ सुष्टु॒ती हु॑वे शृ॒णोतु॑ नः सु॒भगा॒ बो-
धतु॒ त्मना॑ । सीव्य॒त्वपः॑ सू॒च्याच्छि॑द्यमानया॒ ददा॑तु वी॒रं

२—(कुहूः) म० १ । विचित्रस्वभावा (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अमृतस्य) अमरस्य । पुरुषार्थिनः पुरुषस्य (पत्नी) भार्या (हव्या) आह्वातव्या । स्वीकरणीया वा (नः) अस्माकम् (अस्य) उपस्थितस्य (हविषः) ग्राह्य-कर्मणः (जुषेत) सेवनं कुर्यात् (शृणोतु) आकर्णयतु (यज्ञम्) सत्संगम् (उशती) वश कान्तौ—शतृ । कामयमाना (नः) अस्माकं वचनम् (अद्य) (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (चिकितुषी) अ० ४ । ३० । २ । विज्ञानवती (दधातु) पोषयतु ॥

शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

राकाम् । अहम् । सु-हवा । सु-स्तुती । हुवे । शृणोतु । नः । सु-भगा । बोधतु । त्मना । सीव्यतु । अपः । सूच्या । अच्छिद्यमानया । ददातु । वीरम् । शत-दायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राकाम्) राका, अर्थात् सुख देनेवाली वा पूर्णमासी के समान शोभायमान पत्नी को (सुहवा) सुन्दर बुलावे से और (सुष्टुती) बड़ी स्तुति से (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं, (सुभगा) वह सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्यवाली] (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (त्मना) अपने आत्मा से (बोधतु) समझे। और (अच्छिद्यमानया) न टूटती हुई (सूच्या) सुई से (अपः) कर्म [गृहस्थ कर्तव्य] को (सीव्यतु) सीयें, और (शतदायम्) सैकड़ों धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुष सुखदायिनी, अनेक शुभगुणों से शोभायमान पूर्णमासी के समान पत्नी को आदर से बुलावे और वह ध्यान देकर पति के सम्मति से गृहस्थ कर्तव्य को लगातार प्रयत्न से करती हुई वीर पुरुषार्थी सन्तान उत्पन्न करे, जैसे अच्छी दृढ़ सुई से सींकर वस्त्र को सुन्दर बनाते हैं ॥ १ ॥

१—(राकाम्) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । रा दाने—क, टाप् । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते–निरु० ११ । २६ । राका रातेर्दानकर्मणः—निरु० ११ । ३० । राका पदनाम—निघ० ५ । ५ । सुखदात्रीम् । पौर्णमासीम् । पौर्णमासीसमानशोभायमानाम् (अहम्) पतिः (सुहवा) अ० ७ । ४७ । १ । शुभाह्वानेन (सुष्टुती) शोभनया स्तुत्या (हुवे) आह्वयामि (शृणोतु) (नः) अस्मान् (सुभगा) शोभनैश्वर्ययुक्ता (बोधतु) जानातु (त्मना) स्वात्मना (सीव्यतु) षिवु तन्तुसन्ताने । सन्तनोतु (अपः) कर्म (सूच्या) सिचेष्टेरू च । उ० ४ । ९३ । इति षिवु तन्तुसन्ताने—ष्ट्रन्, ङीप् । स्वनामख्यातया सीवनसाधनया (अच्छिद्यमानया) छेत्तुमनर्हया । अन्यद् व्याख्यातम्–अ० ७ । ४७ । १॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं— २ । ३२ । ४, ५ । और महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि, सीमन्तोन्नयन प्रकरण में हैं । और मन्त्र एक—निरु० ११ । ३१ । में व्याख्यात है ॥

यास्ते॑ रा॒के सु॑म॒तयः॑ सु॒पेश॑सो॒ याभि॒र्ददा॑सि दा॒शुषे॑ वसू॑नि । ताभि॑र्नो अ॒द्य सु॒मना॑ उ॒पाग॑हि सहस्रापो॒षं सु॑भगे॒ ररा॑णा ॥ २ ॥

याः । ते॒ । रा॒के॒ । सु॒ऽम॒तयः॑ । सु॒ऽपेश॑सः । याभिः॑ । ददा॑सि । दा॒शुषे॑ । वसू॑नि । ताभिः॑ । नः॒ । अ॒द्य । सु॒ऽमनाः॑ । उ॒प॒ऽआग॑हि । स॒ह॒स्र॒ऽपो॒षम् । सु॒ऽभ॒गे॒ । ररा॑णा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राके) हे सुखदायिनी ! वा पूर्णमासी समान शोभायमान पत्नी ! (याः) जो (ते) तेरी (सुमतयः) सुमतियें (सुपेशसः) बहुत सुवर्ण वाली हैं, (याभिः) जिनसे तू (दाशुषे) धन देने वाले [मुझ पति] को (वसूनि) अनेक धन (ददासि) देती है। (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (ताभिः) उन [सुमतियों] से (नः) हमें (सहस्रपोषम्) सहस्र प्रकार से पुष्टि को (रराणा) देती हुई, (सुमनाः) प्रसन्न मन होकर (अद्य) आज (उपागहि) समीप आ ॥ २ ॥

भावार्थ—विदुषी, सुलक्षणा, विचारशील, प्रसन्नचित्त पत्नी धन और सम्पत्ति की रक्षा और बढ़ती करती हुई पतिप्रिया होकर घर में सुख बढ़ाती रहे ॥२

२—(याः) (ते) तव (राके) म० १ । सुखप्रदे । पूर्णमासीसमशोभायमाने (सुमतयः) कल्याणबुद्धयः (सुपेशसः) पिश अवयवे, दीप्तौ च-असुन् । पेशः=हिरण्यम्-निघ० १ । २, रूपम्-निघ० ३ । ७ । बहुहिरण्ययुक्ताः (याभिः) (ददासि) (दाशुषे) धनस्य दात्रे पत्ये (वसूनि) धनानि (ताभिः) सुमतिभिः (अद्य) (सुमनाः) प्रसन्नचित्ता (उपागहि) समीपमागच्छ (सहस्रपोषम्) असंख्यपुष्टिम् (सुभगे) हे सौभाग्ययुक्ते (रराणा) अ० ५ । २७ । ११ । प्रयच्छन्ती ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२ देवपत्न्यो देवताः ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः ॥

राजवद्राज्ञीन्यायोपदेशः—राजा के समान रानी को न्याय का उपदेश ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥ १ ॥

देवानाम्। पत्नीः। उशतीः। अवन्तु। नः। प्र। अवन्तु। नः तुजये। वाज-सातये। याः। पार्थिवासः। याः। अपाम्। अपि। व्रते। ताः। नः। देवीः। सु-हवाः। शर्म। यच्छन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (उशतीः) [उपकार की) इच्छा करती हुई (देवानाम्) विद्वानों वा राजाओं की (पत्नीः) पत्नियां (नः) हमें (अवन्तु) तृप्त करें और (तुजये) बल वा स्थान के लिये और (वाजसातये) अन्न देने वाले संग्राम [जीतने] के लिये (नः) हमारी (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करें। और (अपि) भी (याः) जो (पार्थिवासः) और जो पृथिवी की रानियां (अपाम्) जलों के (व्रते) स्वभाव में [उपकारवाली] हैं, (ताः) वे सब (सुहवाः) सुन्दर बुलावे योग्य (देवीः) देवियां (नः) हमें (शर्म) घर वा सुख (यच्छन्तु) देवें ॥ १ ॥

१—(देवानाम्) विदुषां राज्ञां वा (पत्नीः) पत्न्यः (उशतीः) उशत्यः उपकारं कामयमानाः (अवन्तु) तर्पयन्तु (नः) अस्मान् (प्र) प्रकर्षेण (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मान् (तुजये) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२० तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन्। बलाय। निवासाय (वाजसातये) ऊतियूतिजूतिसाति०। पा० ३। ३। ९७। षणु दाने-क्तिन्। वाजोऽन्नं दीयते येन तस्मै। अन्नलाभाय संग्रामाय-निघ० २। १७ (याः) पत्न्यः (पार्थिवासः) तस्येश्वरः। पा० ५। १ ४२। पृथिवी-अण्, असुक्। पार्थिव्यः। पृथिवीराज्ञ्यः (याः) (अपाम्) जलानाम् (अपि) (व्रते) स्वभावे (ताः) (नः) अस्मभ्यम् (देवीः) प्रकाशमानाः (सुहवाः) शोभनाह्वानाः (शर्म) सुखं गृहं वा (यच्छन्तु) ददतु ॥

भावार्थ—विद्वान् और राजा लोगों के समान उनकी स्त्रियां भी उपकार करके प्रजा पालन करें ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—५। ४६। ७, ८; और निरुक्त में भी व्याख्यात हैं—१२। ४५, ४६॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

उत। ग्नाः। व्यन्तु। देवपत्नीः। इन्द्राणी। अग्नायी। अश्विनी। राट्। आ। रोदसी। वरुणानी। शृणोतु। व्यन्तु। देवीः। यः। ऋतुः। जनीनाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उत) और भी (देवपत्नीः) विद्वानों वा राजाओं की पत्नियां, [अर्थात्] (राट्) ऐश्वर्यवाली, (इन्द्राणी) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की पत्नी, (अग्नायी) अग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष की स्त्री, (अश्विनी) शीघ्रगामी पुरुष की स्त्री [प्रजा की] (ग्नाः) वाणियों को (व्यन्तु) व्याप्त हों। (आ) और (रोदसी) रुद्र, ज्ञानवान् पुरुष की स्त्री अथवा (वरुणानी) श्रेष्ठजन की पत्नी [वाणियों को] (शृणोतु) सुने और (यः) जो (जनीनाम्)

२—(उत) अपि च (ग्नाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति गमेर्नः, टिलोपः, टाप्। मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्, ग्ना गच्छन्त्येनाः—निरु० ३। २१। ग्ना गमनादापो देवपत्न्यो वा—निरु० १०। ४७। ग्ना वाक्—निघ० १। ११। वाणीः (व्यन्तु) वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु। व्याप्नुवन्तु (देवपत्नीः) विदुषां राज्ञां वा पत्न्यः (इन्द्राणी) इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य पत्नी (अग्नायी) वृषाकप्यग्नि०। पा० ४। १। ३७। ऐकारादेशः, ङीप् च। अग्नेः पावकवद् वर्तमानस्य पत्नी (अश्विनी) आशुगामिनः स्त्री (राट्) राजति=ईष्टे—निघ० २। २१। राजृ—क्विप्। ऐश्वर्यवती (आ) समुच्चये (रोदसी) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १। ८६। रुधिर् आवरणे—असुन्, धस्य दकारः। उगितश्च। पा० ४। १। ६। ङीप्। रोधनशीला रुद्रस्य पत्नी—निरु० १२। ४६। ज्ञानवतः पत्नी (वरु-

स्त्रियों का [न्याय का] (ऋतुः) काल है, (देवीः) यह सब देवियां [उसकी] (व्यन्तु) चाहना करें ॥ २ ॥

भावार्थ—स्त्रियां स्त्रियों को अपनी न्याय सभा के अधिकारी बनाकर घर और बाहिर के झगड़ों को उचित समय पर निर्णय करें, और बालकों को भी वैसी शिक्षा दें॥ २ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-८ ॥ इन्द्र आत्मा वा देवता ॥ १, २, ५, ८, ८ अनुष्टुप्; ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृक्षम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति । एव । अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । बध्यासम् । अप्रति ॥१॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (अशनिः) बिजुली (विश्वाहा) सब दिनों (अप्रति) बे रोक होकर (वृक्षम्) पेड़ को (हन्ति) गिरा देती है । (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (अद्य) आज (अप्रति) बे रोक होकर (अक्षैः) पाशों से (कितवान्) ज्ञान नाश करने वाले, जुआ खेलने वालों को (बध्यासम्) नाश करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जुआरी लुटेरे आदिकों को तुरन्त दण्ड देकर नाश करें ॥ १ ॥

णानी) श्रेष्ठजनस्य पत्नी (शृणोतु) (व्यन्तु) कामयन्ताम् (देवीः) विदुष्यः (ऋतुः) उपकारकालः (जनीनाम्) स्त्रीणाम् ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (वृक्षम्) तरुम् (अशनिः) विद्युत् (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (हन्ति) नाशयति (अप्रति) अप्रतिपक्षम् (एव) एवम् (अहम्) शूरः (अद्य) (कितवान्) कि ज्ञाने—क्त+वा गतिगन्धनयोः—क । कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान् वाशीर्नामकः—निरु० ५ । २२ । ज्ञाननाशकान् । वञ्चकान् । द्यूतकारकान् (अक्षैः) द्यूतसाधनैः पाशकादिभिः (बध्यासम्) हन्तेर्लिङि । नाशयेयम् ॥

तुराणामतु'राणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु' विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

तुराणाम् । अतु'राणाम् । विशाम् । अवर्जुषीणाम् । सम्-एतु' । विश्वतः । भगः । अन्तः-हुस्तम् । कृतम् । मम ॥२॥

भाषार्थ—(तुराणाम्) शीघ्रकारी, (अतुराणाम्) अशीघ्रकारी (अवर्जुषीणाम्) [शत्रुओं को] न रोक सकने वाली (विशाम्) प्रजाओं का (भगः) धन (विश्वतः) सब प्रकार (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) हाथ में आये हुये (कृतम्) कर्म को (समैतु) यथावत् प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् राजा सब प्रकार प्रजा के धन को अपने वश में रख कर रक्षा करे ॥ २ ॥

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥३॥

ईडे । अग्निम् । स्व-वसुम् । नमः-भिः । इह । प्र-सक्तः । वि । चयत् । कृतम् । नः । रथैः-इव । प्र । भरे । वाजयत्-भिः । प्र-दक्षिणम् । मरुताम् । स्तोमम् । ऋध्याम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्ववसुम्) बन्धुओं को धन देने वाले (अग्निम्) विद्वान् राजा को (नमोभिः) सत्कारों के साथ (ईडे) मैं ढूढ़ता हूं, (प्रसक्तः) सन्तुष्ट वह (इह) यहां पर (नः) हमारे (कृतम्) कर्म का (वि चयत्)

२—(तुराणाम्) तुर त्वरणे—क । शीघ्रकारिणीनाम् (अतुराणाम्) अशीघ्रकारिणीनाम् (विशाम्) प्रजानाम् (अवर्जुषीणाम्) पॄनहिकलिभ्य उषच् । उ० ४ । ७५ । नञ्+वृजी वर्जने—उषच्, ङीप् । शत्रूणामवर्जनशीलानाम् (समैतु) सम्यक् प्राप्नोतु (विश्वतः) सर्वतः (भगः) धनम् (अन्तर्हस्तम्) हस्तमध्ये गतम् (कृतम्) कर्म (मम) ॥

३—(ईडे) अन्विच्छामि । ईडिरध्येषणकर्मा पूजा कर्मा वा—निरु० ७ । १५ । (अग्निम्) विद्वांसं राजानम् (स्ववसुम्) स्वेभ्यो बन्धुभ्यो धनं यस्य तम् (नमोभिः) सत्कारैः (इह) अत्र (प्रसक्तः) षञ्ज सङ्गे—क्त । सन्तुष्टः (विच-

विवेचन करे। (प्रदक्षिणम्) उसकी प्रदक्षिणा [आदर से पूज्य को दाहिनी ओर रखकर घूमना] (प्र) अच्छे प्रकार (भरे) मैं धारण करता हूं (इव) जैसे (वाजयद्भिः) शीघ्र चलने वाले (रथैः) रथों से, [जिससे] (महताम्) शूरवीरों में (स्तोमम्) स्तुति को (ऋध्याम्) मैं बढ़ाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण विद्वानों के सत्कार करने वाले विवेकी राजा के अधीन रह कर आदरपूर्वक उसकी आज्ञा मानकर शूरवीरों में अपना यश बढ़ावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५। ६०। १॥

व॒यं ज॑येम॒ त्वया॑ यु॒जा वृत॑म॒स्माक॒मंश॒मुद॑वा॒ भरे॑भरे। अ॒स्मभ्य॑मिन्द्र॒ वरी॑यः सु॒गं कृ॑धि॒ प्र शत्रू॑णां मघव॒न् वृष्ण्या॑ रुज ॥ ४ ॥

व॒यम्। ज॒ये॒म॒। त्वया॑। यु॒जा। वृत॑म्। अ॒स्माक॑म्। अंश॑म्। उत्। अ॒व। भरे॑-भरे। अ॒स्मभ्य॑म्। इ॒न्द्र॒। वरी॑यः। सु॒-गम्। कृ॒धि॒। प्र। शत्रू॑णाम्। म॒घ॒-व॒न्। वृष्ण्या॑। रु॒ज॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र राजन्! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक वा ध्यानी के साथ (वयम्) हम लोग (वृतम्) घेरने वाले शत्रु को (जयेम) जीत लेवें, (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) भाग को (भरेभरे) प्रत्येक संग्राम में (उत्) उत्तमता से (अव) रख। (अस्मभ्यम्) हमारे लिये

यत्) विचिनुयात्। विवेकेन प्राप्नुयात् (कृतम्) कर्म (नः) अस्माकम् (रथैः) (इव) यथा (प्र) प्रकर्षेण (भरे) धरामि (वाजयद्भिः) वाज शब्दात् करोत्यर्थे णिच्। वाजं वेगं कुर्वद्भिः (प्रदक्षिणम्) तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। पा० २। १। १७। इत्यव्ययीभावसमासः। प्रगतं दक्षिणमिति। दक्षिणावर्त्तेन पूज्यमुद्दिश्य भ्रमणम् (मरुताम्) शूराणां मध्ये—अ० १। २०। १ (स्तोमम्) स्तुतिम् (ऋध्याम्) अर्धयेयम्। वर्धयेयम् ॥

४—(वयम्) योद्धारः (जयेम) अभिभवेम (त्वया) (युजा) सहायेन ध्यानिना वा (वृतम्) वृणोतेः—क्विप्। आवरकं शत्रुम् (अस्माकम्) (अंशम्) धनजनविभागम् (उत्) उत्कर्षेण (अव) रक्ष (भरेभरे) सर्वस्मिन् संग्रामे

(वरीयः) विस्तीर्ण देश को (सुगम्) सुगम (कृधि) कर दे, (मघवन्) हे बड़े धनी ! (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (वृष्ण्या) साहसों को (प्र रुज) तोड़ दे ॥४॥

भावार्थ—सब योधा लोग सेनापति की सहायता लेकर अपने धन जन आदि की रक्षा करके शत्रुओं को जीतें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १०२ । ४॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मंथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैषम् । त्वा । सम्-लिखितम् । अजैषम् । उत । सम्-रुधम् ।
अविम् । वृकः । यथा । मथत् । एव । मथ्नामि । ते । कृतम् ॥५॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (संलिखितम्) यथावत् लिखे हुये (त्वा) तुझको (अजैषम्) मैंने जीत लिया है, (उत) और (संरुधम्) रोक डालने वाले को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है। (यथा) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविम्) बकरी को (मथत्) मथ डालता है, (एव) वैसे ही (ते) तेरे (कृतम्) कर्म को (मथ्नामि) मैं मथ डालूं ॥५॥

भावार्थ—जिस दुष्ट जन का नाम राजकीय पुस्तकों में लिखा हो, और बड़ा विघ्नकारी हो उसको यथावत् दण्ड मिलना चाहिये ॥ ५ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (वरीयः) उरु—ईयसुन्, वरादेशः । उरुतरम् । विस्तीर्णतरं देशम् (सुगम्) सुगमम् (कृधि) कुरु (प्र) (शत्रूणाम्) (मघवन्) हे बहुधनवन् (वृष्ण्या) वृष्णि भवानि । सामर्थ्यानि (रुज) रुजो भङ्गे । भङ्ग्धि ॥

५—(अजैषम्) अहं जितवानस्मि (त्वा) त्वां शत्रुम् (संलिखितम्) राजकीय पुस्तकेषु सम्यग् लिखितम् (अजैषम्) (उत) अपि च (संरुधम्) रुधेः—क्विप् । निरोधकम् । विघ्नकारिणम् (अविम्) अजाम् (वृकः) अरण्यश्वा (यथा) (मथत्) मथ्नाति (एव) एवम् (मथ्नामि) नाशयामि (ते) तव (कृतम्) कर्म ॥

काले । यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्र-हाम् । अति-दीवा । जयति । कृतम्-इव । श्व-घ्नी । वि । चिनोति । काले । यः । देव-कामः । न । धनम् । रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥६॥

भाषार्थ—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहारकुशल पुरुष (प्रहाम्) उपद्रवी शत्रु को (जयति) जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करनेवाला जुआरी (काले) [हार के] समयपर (इव) ही (कृतम्) अपने काम का (वि चिनोति) विवेक करता है। (यः) जो (देवकामः) शुभगुणों का चाहनेवाला (धनम्) धन को [शुभ काम में] (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, (रायः) अनेक धन (तम्) उसको (इत्) ही (स्वधाभिः) आत्म धारण शक्तियों के साथ (सम् सृजति) मिलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय करा देता है, शुभगुण चाहनेवाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्मबल पाता है ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, ७ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ४२ । ६, १० ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।

६—(उत) अपि च (प्रहाम्) जनसनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति बाहुलकात् हन्तेर्विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नस्य आत्वम् । प्रहन्तारम् । उपद्रविणम् (अतिदीवा) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० । १ । १५६ । दिवु क्रीडाव्यवहारादिषु—कनिन्, दीर्घश्च । अतिव्यवहारकुशलः (जयति) (कृतम्) कर्म (इव) अवधारणे (श्वघ्नी) अ० ४ । १६ । ५ । धनहन्ता कितवः (वि चिनोति) विवेकेन प्राप्नोति (काले) पराजयकाले (यः) (देवकामः) शुभगुणान् कामयमानः (न) निषेधे (धनम्) (रुणद्धि) वर्जयति (इत्) एव (तम्) देवकामम् (रायः) धनानि (सम् सृजति) बहुवचनस्यैकवचनम् । सं सृजन्ति । संयोजयन्ति (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः ॥

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥७॥

गोभिः। तरेम। अमतिम्। दुः-एवाम्। यवेन। वा। क्षुधम्। पुरु-हूत। विश्वे। वयम्। राज-सु। प्रथमाः। धनानि। अरिष्टासः। वृजनीभिः। जयेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गये राजन्! (विश्वे) हम सब लोग (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गतिवाली (अमतिम्) कुमति को (तरेम) हटावें, (वा) जैसे (यवेन) जव आदि अन्न से (क्षुधम्) भूख को। (वयम्) हम लोग (राजसु) राजाओं के बीच (प्रथमाः) पहिले और (अरिष्टासः) अजेय होकर (वृजनीभिः) अनेक वर्जन शक्तियों से (धनानि) अनेक धनों को (जयेम) जीतें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशंसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

कृतम्। मे। दक्षिणे। हस्ते। जयः। मे। सव्ये। आ-हितः। गो-जित्। भूयासम्। अश्व-जित्। धनम्-जयः। हिरण्य-जित् ८

भाषार्थ—(कृतम्) कर्म (मे) मेरे (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथ

७—(गोभिः) वाग्भिः। विद्याभिः (तरेम) अभिभवेम (अमतिम्) दुर्बुद्धिम् (दुरेवाम्) इणशीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इण् गतौ—वन्। दुर्गतियुक्ताम् (यवेन) यवादिना (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (पुरुहूत) बह्वाह्वान (विश्वे) सर्वे वयम् (वयम्) (राजसु) नृपेषु (प्रथमाः) मुख्याः (धनानि) (अरिष्टासः) अहिंसिताः। अजेयाः (वृजनीभिः) कृपृवृजि०। उ० २। ८१। वृजी वर्जने—क्युन्। वर्जनशक्तिभिः। सेनाभिः ॥

८—(कृतम्) विहितं कर्म (मे) मम (दक्षिणे) (हस्ते) पाणौ (जयः)

में और (जयः) जीत (मे) मेरे (सव्ये) बायें हाथ में (आहितः) स्थित है। मैं (गोजित्) भूमि जीतनेवाला, (अश्वजित्) घोड़े जीतनेवाला, (धनंजयः) धन जतीनेवाला और (हिरण्यजित्) सुवर्णजीतनेवाला (भूयासम्) रहूं ॥ ८॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी होकर सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कर सुखी होवें ॥ ८ ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फल-वतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्-इव ।
सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नाव्ना-इव । नह्यत ॥ ९

भाषार्थ—(अक्षाः) हे व्यवहारकुशल पुरुषो ! (क्षीरिणीम्) बड़ी दुधेल (गाम् इव) गऊ के समान (फलवतीम्) उत्तम फलवाली (द्युवम्) व्यवहार शक्ति (दत्त) दानकरो। (कृतस्य) कर्म की (धारया) धारा [प्रवाह] से (मा) मुझको (सम् नह्यत) यथावत् बांधो (इव) जैसे (स्नाव्ना) डोरी से (धनुः) धनुष को [बांधते हैं] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से अनेक विद्यायें प्राप्त करके अपना जीवन सुफल करें ॥ ९ ॥

उत्कर्षः (मे) (सव्ये) वामे (आहितः) स्थापितः (गोजित्) भूमिजेता (भूयासम्) (अश्वजित्) अश्वानां जेता (धनञ्जयः) अ० ३ । १४ । २ । धनानां जेता (हिरण्यजित्) सुवर्णस्य जेता ॥

९—(अक्षाः) अक्ष—अर्श आद्यच्। व्यवहारकुशलाः (फलवतीम्) उत्तमफलयुक्ताम् (द्युवम्) दीव्यतेर्भावे—क्विप्। च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६ । ४ । १९ । इत्यूठ्। अमि उवङादेशः । व्यवहारशक्तिम् (दत्त) प्रयच्छत (गाम्) धेनुम् (क्षीरिणीम्) बहुदोग्ध्रीम् (इव) यथा (मा) माम् (कृतस्य) विहितस्य कर्मणः (धारया) प्रवाहेण (धनुः) चापम् (स्नाव्ना) स्नामदिपद्यर्ति० उ० ४ । ११३ । स्ना शौचे—वनिप्। वायुवाहिन्या नाड्या । स्नायुनिर्मितया मौर्व्या (इव) यथा (सम् नह्यत) संयोजयत ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्-तर-स्मात् । अधरात् । अघ-योः । इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरीयः । कृणोतु ॥१॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बड़े शूरों का रक्षक सेनापति (नः) हमें (पश्चात्) पीछे, (उत्तरस्मात्) ऊपर (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतनेवाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण स्थान (कृणोतु) करे, (सखा) जैसे मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियोंमें महाप्रतापी होकर दुष्टोंसे प्रजा की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है ॥ १० । ४२ । ११ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

१—(बृहस्पतिः) बृहतां शूराणां पालकः सेनापतिः (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (पश्चात्) (उत) अपि च (उत्तरस्मात्) ऊर्ध्वाल्लोकात् (अधरात्) अधस्तनाल्लोकात् (अघायोः) अ० १ । २० । २ । पापेच्छुकात् । दुराचारिणः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (पुरस्तात्) अग्रे (उत) (मध्यतः) मध्यात् (नः) अस्मभ्यम् (सखा) सुहृत् (सखिभ्यः) मित्राणां हिताय (वरीयः) उरुतरं स्थानम् (कृणोतु) करोतु ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

परस्परैकमत्योपदेशः—आपस में एकता का उपदेश ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

सम्-ज्ञानम् । नः । स्वेभिः । सम्-ज्ञानम् । अरणेभिः । सम्-ज्ञानम् ।
अश्विना । युवम् । इह । अस्मासु । नि । यच्छतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वेभिः) अपनों के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) एक मत और (अरणेभिः) बाहिर वालों के साथ (संज्ञानम्) एकमत हो। (अश्विना) हे माता पिता ! (युवम्) तुम दोनों (इह) यहां पर (अस्मासु) हम लोगों में (संज्ञानम्) एक मत (नि) निरन्तर (यच्छतम्) दान करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिकों से शिक्षा पाकर वेद द्वारा संसार में एकता फैलावें ॥ १ ॥

संजानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ २ ॥

सम् । जानामहै । मनसा । सम् । चिकित्वा । मा । युष्महि ।
मनसा । दैव्येन । मा । घोषाः । उत् । स्थुः । बहुले । वि-निर्हते ।

१—(संज्ञानम्) संगतं ज्ञानम् । ऐकमत्यम् (नः) अस्माकम् (स्वेभिः) स्वकीयैः पुरुषैः (अरणेभिः) अ० १ । १९ । ३ । विदेशिभिः (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । हे मातापितरौ (युवम्) युवाम् (इह) अस्मिन् संसारे (अस्मासु) (नि) निरन्तरम् (यच्छतम्) दत्तम् ॥

मा । इषु॑ः । पुप्तत् । इन्द्र॑स्य । अह॑नि । आ-ग॑ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मनसा) आत्मबल के साथ (सम् जानामहै) हम मिले रहें, (चिकित्वा) ज्ञान के साथ (सम्) मिले रहें, (दैव्येन) विद्वानों के हितकारी (मनसा) विज्ञान से (मा युष्महि) हम अलग न होवें। (बहुले) बहुत (विनिर्हते) विविध वध के कारण युद्ध होने पर (घोषाः) कोलाहल (मा उत् स्थुः) न उठें, (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्यवान् राजा का (इषुः) बाण (अहनि) दिन [न्याय दिन] (आगते) आने पर [हम पर] (मा पप्तत्) न गिरे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ से एकमत रहने का प्रयत्न करें, और ऐसा काम न करें जिससे आपस में युद्ध होवे और पाप के कारण राजा के दण्डनीय होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-७॥ १-३ अग्निः; ४-६ प्राणापानौ; ७ सूर्यो देवता ॥
१-३ त्रिष्टुप्; ४ आस्तारपङ्क्तिः; ५-७ अनुष्टुप् ॥

विदुषां कर्त्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृह॑स्पतेरभिश॑स्तेरमु॑ञ्चः ।
प्रत्यौ॑हतामश्विना॑ मृत्युमस्मद् दे॒वाना॑मग्ने भिषजा शची॑भिः ॥ १ ॥

२—(सम् जानामहै) समानज्ञाना भवाम (मनसा) आत्मबलेन (सम्) संजानामहै (चिकित्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। कित ज्ञाने- क्वनिप्। छान्दसं द्विर्वचनम्, तृतीयाया डादेशः। चिकित्वना। ज्ञानेन (मा युष्महि) यु मिश्रणामिश्रणयोः, माङि लुङि सिचि रूपम्। मा वियुक्ता भूम (मनसा) विज्ञानेन (दैव्येन) देवहितेन (घोषाः) कोलाहलाः (मा उत् स्थुः) माङि लुङि रूपम्। उत्थिता मा भूवन् (बहुले) प्रचुरे (विनिर्हते) विविधं वधनिमित्ते युद्धे सति (इषुः) बाणः (मा पप्तत्) पत—लुङ्। मा पततु (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो राज्ञः (अहनि) दिने। न्यायदिने (आगते) प्राप्ते ॥

अमुत्र-भूयात् । अधि । यत् । यमस्य । बृहस्पतेः । अभि-शस्तेः । अमुञ्चः । प्रति । औहताम् । अश्विना । मृत्युम् । अस्मत् । देवानाम् । अग्ने । भिषजा । शचीभिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्व व्यापक परमेश्वर! (यत्) जिस कारण से (अमुत्रभूयात्) परलोक में होनेवाले भय से और (बृहस्पतेः) बड़ों के रक्षक (यमस्य) नियम कर्ता राजा के [सम्बन्धी] (अभिशस्तेः) अपराध से (अधि) अधिकारपूर्वक (अमुञ्चः) तू ने छुड़ाया है। (देवानाम्) विद्वानों में (भिषजा) वैद्यरूप (अश्विना) माता पिता [वा अध्यापक, उपदेशक] ने (मृत्युम्) मृत्यु [मरण के कारण दुःख] को (अस्मत्) हम से (शचीभिः) कर्मों द्वारा (प्रति) प्रतिकूल (औहताम्) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ-परमेश्वर ने वेदद्वारा बताया है कि मनुष्य गुप्त मानसिक कुविचार छोड़कर परलोक में नरक पतन से, और प्रकट शारीरिक पाप छोड़कर राजा के दण्ड से बचकर आनन्दित रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७ । ९ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् । शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

सम् । क्रामतम् । मा । जहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ ।

१—(अमुत्रभूयात्) भुवो भावे । पा० ३ । १ । १०७ । अमुत्र + भू—क्यप् । परजन्मनि भाविनो भयात् । परलोकगमनान्मरणाद् वा (अधि) अधिकृत्य (यत्) यस्मात्कारणात् (यमस्य) नियन्तृ राज्ञः (बृहस्पतेः) महतां पालकस्य (अभिशस्तेः) अपराधात् (अमुञ्चः) लङि रूपम् । मोचितवानसि (प्रति) प्रतिकूलम् (औहताम्) उहिर् अर्दने—लङ् । नाशितवन्तौ (अश्विना) मातापितरौ । अध्यापकोपदेशकौ (मृत्युम्) मरणकारणम् (अस्मत्) अस्मत्तः (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (भिषजा) अ० २ । ९ । ३ । भिषजौ वैद्यरूपौ (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० २ । १ ॥

ते । सु-युजौ । इह । स्ताम् । शतम् । जीव । शरदः ।
वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधि-पाः । वसिष्ठः ॥२॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (सं क्रामतम्) मिलकर चलो, (शरीरम्) इसके शरीर को (मा जहीतम्) मत छोड़ो। [हे मनुष्य !] वे दोनों (ते) तेरे लिये (सयुजौ) मिले हुये (इह) यहां पर (स्ताम्) रहें, (शतम् शरदः) सौ बरस तक (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (जीव) तू जीता रहे, (अग्निः) सर्व व्यापक परमेश्वर [वा जाठराग्नि] (ते) तेरा (गोपाः) रक्षक, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला और (वसिष्ठः) अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर प्राण, अपान और जाठराग्नि को सम रख सब प्रकार बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगें ॥२॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् । अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥

आयुः । यत् । ते । अति-हितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः । पुनः । आ । तौ । इताम् । अग्निः । तत् । आ । अहाः । निः-ऋतेः । उप-स्थात् । तत् । आत्मनि । पुनः । आ । वेशयामि । ते ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (आयुः) जीवन

२—(संक्रामतम्) संगतौ भवतम् (मा जहीतम्) ओ हाक् त्यागे-लोट् । मा त्यजतम् (शरीरम्) देहम् (प्राणापानौ) प्राणितीति प्राणो नासिका विवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः, अपानितीति अपानो हृदयस्य अधोभागे संचरन् वायुः, तौ (ते) तुभ्यम् (सयुजौ) संयुक्तौ (इह) अस्मिन् देहे (स्ताम्) भवताम् (शतम्) (जीव) प्राणान् धारय (शरदः) सम्वत्सरान् (वर्धमानः) वृद्धिं कुर्वाणः (अग्निः) परमेश्वरो जाठराग्निर्वा (गोपाः) अ० ५ । ३ । २ । गोपायिता । रक्षकः (अधिपाः) अधिकं पालकः (वसिष्ठः) अ० ४ । २६ । ३ । अतिश्रेष्ठः ॥

३—(आयुः) जीवनबलम् (यत्) (ते) तव (अतिहितम्) धा—क्त ।

सामर्थ्य (पराचैः) पराङ्मुख होकर (अतिहितम्) घट गया है, (तौ) वे दोनों (प्राणः) प्राण और (अपानः) अपान (पुनः) फिर (आ इताम्) आवें। (अग्निः) वैद्य वा शरीराग्नि (तत्) उस [आयु] को (निर्ऋतेः) महा विपत्ति के (उपस्थात्) पास से (आ अहाः) लाया है, (तत्) उसको (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पुनः) फिर (आ वेशयामि) प्रविष्ट करता हूं ॥३॥

भावार्थ—जो रोग आदि के कारण शरीरबल में हानि हो जावे, मनुष्य वैद्यों की सम्मति से जाठराग्नि की समता से स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्। सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४॥

मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवहाय । परा । गात् । सप्तर्षि-भ्यः । एनम् । परि । ददामि । ते । एनम् । स्वस्ति । जरसे । वहन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण (इमम्) इस [प्राणी] को (मा हासीत्) न छोड़े, (मो) और न (अपानः) अपान वायु (अवहाय) छोड़ कर (परा गात्) चला जावे। (एनम्) इस पुरुष को (सप्तर्षिभ्यः) सात व्यापनशीलों वा दर्शनशीलों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को

हानिं गतम् (पराचैः) पराङ्मुखम् (अपानः)–म० २ (प्राणः) (पुनः) (तौ) (आ इताम्) इण गतौ—लोट्। आगच्छताम् (अग्निः) वैद्यः शरीराग्निर्वा (तत्) आयुः (आ अहाः) अ० ६ । १०३ । २ । हरतेर्लुङ्। अहार्षीत्। आनीतवान् (निर्ऋतेः) अ० २ । १० । १ । अलक्ष्म्याः । कृच्छ्रापत्तेः (उपस्थात्) समीपात् (तत्) आयुः (आत्मनि) शरीरे (पुनः) (आवेशयामि) प्रवेशयामि (ते) तव ॥

४—(इमम्) प्राणिनम् (प्राणः) श्वासः (मा हासीत्) ओहाक् त्यागे—लुङ्। मा त्यजतु (मो) नैव (अपानः) प्रश्वासः (अवहाय) ओ हाक् त्यागे। प्रत्यज्य (परा गात्) दूरे गच्छेत् (सप्तर्षिभ्यः) अ० ४ । ११ । ६ । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे–यजु० ३४ । ५५ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिभ्यः

(परि ददामि) मैं समर्पण करता हूं, (ते) वे (एनम्) इसको (स्वस्ति) आनन्द के साथ (जरसे) स्तुति के लिये (वहन्तु) ले चलें ॥४॥

भावार्थ– मनुष्य शारीरिक इन्द्रियों को प्राणायाम, व्यायाम आदि से स्वस्थ रख कर धर्म में प्रवृत्त रहें ॥४॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौ-इव । व्रजम् । अयम् । जरिम्णः । शेव-धिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (इव) जैसे (अनड्वाहौ) रथ ले चलने वाले दो बैल (व्रजम्) गोशाला में । (अयम्) यह जीव (जरिम्णः) स्तुति का (शेवधिः) निधि, (अरिष्टः) दुःखरहित होकर (इह) यहां पर (वर्धताम्) बढ़ती करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥ ५ ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते । प्राणम् । सुवामसि । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ।

(एनम्) जीवम् (परि ददामि) समर्पयामि (ते) सप्तर्षयः (एनम्) (स्वस्ति) क्षेमेण (जरसे) अ० १ । ३० । २ । जॄ स्तुतौ—असुन् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । स्तुतये (वहन्तु) नयन्तु ॥

५—(प्र विशतम्) प्रवेशं कुरुतम् (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासौ (अनड्वाहौ) अ० ४ । ११ । १ । अनस् + वह प्रापणे-क्विप् , अनसोडश्च । शकट—वहनशक्तौ बलीवर्दौ (इव) यथा (व्रजम्) गोष्ठम् (अयम्) जीवः (जरिम्णः) अ० २ । २८ । १ । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जरतेः—इमनिन् । स्तुत्यस्य कर्मणः (शेवधिः) अ० ५ । २२ । १४ । निधिः—निरु० २ । ४ । (अरिष्टः) अहिंसितः (इह) अस्मिँल्लोके (वर्धताम्) समृद्धो भवतु ॥

आयुः । नः । विश्वतः । दधत् । अयम् । अग्निः । वरेण्यः ॥६॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (आ सुवामसि) हम अच्छे प्रकार आगे बढ़ाते हैं, और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (परा सुवामि) मैं दूर निकालता हूं । (अयम्) यह (वरेण्यः) स्वीकरणीय (अग्निः) जाठराग्नि (नः) हमारे (आयुः) आयु को (विश्वतः) सब प्रकार (दधत्) पुष्ट करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक निर्बलता आदि रोगों को नाश करके अपना जीवन सब प्रकार सुफल करें ॥ ६ ॥

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

उत् । वयम् । तमसः । परि । रोहन्तः । नाकम् । उत्-तमम् ।

देवम् । देव-त्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्-तमम् ॥७

भाषार्थ—(तमसः) अन्धकार से (परि) पृथक् होकर (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) सुख में (उद् रोहन्तः) ऊपर चढ़ते हुये (वयम्) हमने (देवत्रा) प्रकाशमानों में (देवम्) प्रकाशमान, (उत्तमम्) उत्तम (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप, (सूर्यम्) सब के प्रेरक सूर्य जगदीश्वर को (अगन्म) पाया है॥७॥

६—(आ) समन्तात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (सुवामसि) षू प्रेरणे । वयं प्रेरयामः (परा) दूरे (यक्ष्मम्) राजरोगम् (सुवामि) प्रेरयामि (ते) तव (आयुः) जीवनम् (नः) अस्माकम् (विश्वतः) सर्वतः (दधत्) दधातेर्लेटि, अडागमः । पोषयेत् (अयम्) (अग्निः) जाठराग्निः (वरेण्यः) अ० ७ । १४ । ४ । स्वीकरणीयः । सम्भजनीयः ॥

७—(उत्) उत्कर्षेण (वयम्) योगिनः (तमसः) अन्धकारात् (परि) पृथग्भूय (रोहन्तः) आरूढाः सन्तः (नाकम्) दुःखरहितं मोक्षसुखम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् (देवम्) प्रकाशमानम् (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरु० । पा० ५ । ४ । ५६ । सप्तम्यर्थे-त्रा । प्रकाशमानेषु (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकं परमात्मानम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (ज्योतिः) ज्योतीरूपं द्योतमानम् (उत्तमम्) ॥

भावार्थ—विद्वान् योगीजन विद्या के प्रकाश से मुक्ति सुख को भोगते हुये ज्योतिस्वरूप परमात्मा में निरन्तर विचरते हैं ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २१; २७। १०; ३५।१४; ३८।२४॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-२ ॥ शचीपतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याग्रहणोपदेशः—वेद विद्या के ग्रहण का उपदेश ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।
एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥१॥

भाषार्थ—(ऋचम्) स्तुति विद्या [ईश्वर से लेकर समस्त पदार्थों के ज्ञान], (साम) दुःख नाशक मोक्ष विद्या का (यजामहे) हम सत्कार करते हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों के द्वारा (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वते) वे [सब प्राणी] करते हैं। (एते) यह दोनों (सदसि) [संसार रूपी] बैठक में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों के बीच (यज्ञम्) सङ्गति (यच्छतः) दान करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेद द्वारा विद्या प्राप्त करके संसार में प्रतिष्ठित होवें ॥ १ ॥

१—(ऋचम्) ऋच स्तुतौ—क्विप् । ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । ऋगर्चनी—निरु० १ । ८ । स्तुतिविद्या । ईश्वरमारभ्य समस्तपदार्थज्ञानम् (साम) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । षो अन्तकर्मणि—मनिन् । साम सम्मितमृचास्यतेर्वर्चा समं मेन इति नैदानाः—निरु० ७ । १२ । दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (याभ्याम्) ऋक्सामाभ्याम् (कर्माणि) कर्तव्यानि (कुर्वते) कुर्वन्ति प्राणिनः (एते) ऋक्सामे (सदसि) संसाररूपे समाजे (राजतः) दीप्येते (यज्ञम्) सङ्गतिकरणम् (देवेषु) विद्वत्सु (यच्छतः) दत्तः ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्षम् । हविः । ओजः । यजुः । बलम् । एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः । शची-पते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये (ऋचम्) पदार्थों की स्तुतिविद्या, (साम) दुःखनाशक मोक्षविद्या और (यजुः) विद्वानों के सत्कार, विद्यादान और पदार्थों के सङ्गति करण द्वारा (हविः) ग्राह्यकर्म, (ओजः) मानसिक बल और (बलम्) शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) मैंने पूछा है [विचारा है]। (तस्मात्) इसलिये, (शचीपते) हे वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक आचार्य ! (एषः) यह (पृष्टः) पूछा हुआ (वेदः) वेद (मा) मुझको (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विचार पूर्वक वेदों का अध्ययन करके उत्तम कर्म से मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाकर आनन्दित होवे ॥२॥

सूक्तम् ५५ ॥

१ ॥ वसुर्देवता ॥ विराडुष्णिक् छन्दः ॥

२—(ऋचम्) म० १। पदार्थस्तुतिविद्याम् (साम) म० १। दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (यत्) यस्मात्कारणात् (अप्राक्षम्) प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—लुङ्, द्विकर्मकः। प्रश्नेन विचारितवानस्मि (हविः) ग्राह्यं कर्म (ओजः) मानसं बलम् (यजुः) अर्तिपृवपियजि० । उ० २। ११७। इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—उसि। यजुर्यजतेः—निरु० ७। १२। विदुषां सत्कारं विद्यादानं पदार्थसङ्गतिकरणं च (बलम्) शरीरबलम् (एषः) प्रसिद्धः (मा हिंसीत्) मा दुःखयेत् (तस्मात्) कारणात् (मा) माम् (वेदः) अ० ७। २८। १। ईश्वरोक्तज्ञानम् (पृष्टः) विचारितः। अधीतः (शचीपते) शची=वाक्—निघ० १। ११; कर्म २। १; प्रज्ञा ३। ६। हे वाचः कर्मणः प्रज्ञायाः पालक ॥

वेदमार्गग्रहणोपदेशः—वेदमार्ग के ग्रहण का उपदेश ॥

ये ते॒ पन्था॒नोऽव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः ।
तेभि॑: सुम्न॒या धे॑हि नो वसो ॥ १ ॥

ये । ते॒ । पन्था॑नः । अव॑ । दि॒वः । येभि॑: । विश्व॑म् । ऐर॑यः ।
तेभि॑: । सु॒म्न॒-या । आ । धे॒हि॒ । न॒: । व॒सो॒ इति॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (ये) जो (ते) तेरे (दिवः) प्रकाश के (पन्थानः) मार्ग (अव) निश्चय करके हैं, (येभिः) जिनके द्वारा (विश्वम्) संसार को (ऐरयः) तूने चलाया है । (तेभिः) उनसे ही (सुम्नया) सुख के साथ (नः) हमें (आ धेहि) सब ओर से पुष्टकर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के वेदमार्ग पर चलकर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक पुष्टि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १-३,५-८ अनुष्टुप्; ४ बृहती ॥

विषहरणोपदेशः—विष नाश का उपदेशः ॥

ति॒रश्चि॑राजेरसि॒तात् पृदा॑कोः परि॒ संभृ॑तम् ।
तत् क॒ङ्कप॑र्वणो वि॒षमि॒यं वी॒रुद॑नीनशत् ॥ १ ॥

ति॒रश्चि॑-राजेः । अ॒सि॒तात् । पृदा॑कोः । परि॑ । सम्-भृ॑तम् ।
तत् । क॒ङ्क-प॑र्वणः । वि॒षम् । इ॒यम् । वी॒रुत् । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ १ ॥

१—(ये) (ते) तव (पन्थानः) वेदमार्गाः (अव) निश्चयेन (दिवः) प्रकाशस्य (येभिः) यैः (विश्वम्) जगत् (ऐरयः) ईर गतौ—लङ् । प्रेरितवानसि (तेभिः) तैः पथिभिः (सुम्नया) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १३६ । इति सु+म्ना अभ्यासे—क । विभक्तेर्याजादेशः । सुम्नं सुखम्—निघ० ३ । ६ । सुम्नेन सुखेन (आ) सम्यक् (धेहि) पोषय (नः) अस्मान् (वसो) हे श्रेष्ठपरमात्मन् ॥

भाषार्थ—(इयम्) इस (वीरुत्) जड़ी बूटी ने (तिरश्चिराजेः) तिरछी रेखाओं वाले, (असितात्) कृष्णवर्ण वाले, (कङ्कपर्वणः) काक वा चिल्ह पक्षी के समान जोड़ वाले (पृदाकोः) फुसकारते हुये सांप से (सम्भृतम्) पाये हुये (तत्) उस (विषम्) विष को (परि) सब प्रकार (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा सर्प आदि के विष को नाश करता है, वैसे ही विद्वान् विद्या द्वारा मानसिक दोषों का नाश करे ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु-जाता । मधुश्चुत् । मधुला । मधूः ।
सा । वि-ह्रुतस्य । भेषजी । अथो इति । मशक-जम्भनी ॥२

भाषार्थ—(इयम्) यह [ब्रह्मविद्या] (वीरुत्) जड़ी बूटी (मधुजाता) मधुरपन से उत्पन्न हुई, (मधुश्चुत्) मधुरपन टपकानेवाली (मधुला) मधुरपन देने वाली और (मधूः) मधुर स्वभाव वाली है। (सा) वही (विह्रुतस्य) बड़े कुटिल विष की (भेषजी) ओषधि (अथो) और (मशकजम्भनी) मच्छरों

१—(तिरश्चिराजेः) अ० ३। २७। २। तिर्यग्रेखायुक्तात् (असितात्) अ० ३। २७। १। कृष्णवर्णात् (पृदाकोः) अ० ३। २७। ३। कुत्सितशब्दकारिणः सर्पात् (परि) सर्वतः (सम्भृतम्) प्राप्तम् (तत्) (कङ्कपर्वणः) ककि गतौ—अच्+पॄ पालनपूरणयोः—वनिप्। लोहपृष्ठस्तु कङ्कः स्यात्—अमर० १५। १६। कङ्कपक्षिसदृशपर्वाणि सन्धयो यस्य तस्मात् (विषम्) हलाहलम् (इयम्) (वीरुत्) ओषधिः (अनीनशत्)अ० १।२४।२। नाशितवती ॥

२—(इयम्) ब्रह्मविद्या (वीरुत्) ओषधिः (मधुजाता) माधुर्याद् निष्पन्ना (मधुश्चुत्) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप्। मधुररसस्य क्षरणशीला (मधुला) ला दाने-क। माधुर्यदात्री (मधूः) मधुरस्वभावा (सा) वीरुत् (विह्रुतस्य) विशेषकुटिलस्य विषस्य (भेषजी) ओषधिः (अथो) अपि च (मशकजम्भनी)

[मच्छर के समान गुणों] की नाश करनेवाली हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से बड़े बड़े विष और क्लेश नाश होते हैं, वैसेही मनुष्य ब्रह्म विद्या द्वारा अपने दोषों का नाश करे ॥ २ ॥

यतो॑ दृ॒ष्टं यतो॑ धी॒तं तत॑स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृप्रदं॒शिनो॑ म॒शक॒स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । दृ॒ष्टम् । यतः॑ । धी॒तम् । ततः॑ । ते॒ । निः । ह्व॒या॒म॒सि॒ ।
अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्र॒ऽदं॒शिनः॑ । म॒शक॑स्य । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यतः) जहां पर (दृष्टम्) काटा गया है और (यतः) जहां पर (धीतम्) [रुधिर] पिया गया है, (ते) तेरे (ततः) उसी [अङ्ग] से (अर्भस्य) छोटे (तृप्रदंशिनः) तीव्र काटनेवाले (मशकस्य) मच्छर के (अरसम्) निर्बल [किये हुये] (विषम्) विष को (निः) निकालकर (ह्वयामसि) हम वचन देते हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य सुपरीक्षित ओषधियों से प्रयत्न पूर्वक विष आदि रोग नाश करें ॥ ३ ॥

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑ । तानि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥४

अ॒यम् । यः । व॒क्रः । वि॒ऽप॑रुः । वि॒ऽअ॑ङ्गः । मुखा॑नि । व॒क्रा । वृ॒जि॒ना । कृ॒णोषि॑ । तानि॑ । त्वम् । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । इ॒षी॒काम्ऽइ॑व । सम् । न॒मः॒ ॥ ४ ॥

जभि नाशने—ल्युट् । मशकानां मशकस्वभावानां नाशयित्री ॥

३—(यतः) सप्तम्यर्थे तसिः । यस्मिन् देशे (दष्टम्) हिंसितम् (यतः) यस्मिन्नङ्गे (धीतम्) धेट् पाने—क्त । रुधिरं पीतम् (ततः) तस्मादङ्गात् (ते) तव (निः) निःसार्य (ह्वयामसि) कथयामः (अर्भस्य) अल्पस्य (तृप्रदंशिनः) तृप संदीपने प्रीणने च—रक्+दंश दंशने—णिनि । तीव्रदंशनशीलस्य (मशकस्य) मश ध्वनौ कोपे च—वुन् । कीटभेदस्य (अरसम्) निर्बलं कृतम् (विषम्) ॥

भाषार्थ—(अयम् यः) यह जो [विषरोगी] (वक्रः) टेढ़े शरीरवाला (विपरुः) विकृत जोड़ों वाला (व्यङ्गः) ढीले अङ्गों [हाथ पैरों] वाला (मुखानि) अपने मुख के अवयवों [दांत नाक नेत्र आदि] को (वक्रा) टेढ़ा और (वृजिना) ऐंठे मरोड़े (कृणोषि—कृणोति) करता है। (ब्रह्मणः पते) हे बड़े ज्ञान के स्वामी [वैद्यराज !] (त्वम्) तू (तानि) उन [अङ्गों] को (सम् नमः) मिलाकर ठीक करदे (इव) जैसे (इषीकाम्) कांस वा मूंजको [रसरी के लिये] ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग विष रोगी को औषध आदि से शीघ्र स्वस्थ करें॥

अ॒र॒सस्य॑ श॒र्कोट॑स्य नी॒चीन॑स्योप॒सर्प॑तः ।
वि॒षं ह्य१॒॑स्यादि॒ष्यथो॑ ए॒नम॑जीजभम् ॥ ५ ॥

अ॒र॒सस्य॑ । श॒र्कोट॑स्य । नी॒चीन॑स्य । उ॒प॒-सर्प॑तः। वि॒षम् । हि । अ॒स्य॒ । आ॒-अदि॑षि । अथो॒ इति॑ । ए॒नम् । अ॒जी॒ज॒भ॒म् ॥ ५ ॥

भाषार्थ-(अस्य) इस (अरसस्य) निर्बल [तुच्छ वा काटनेवाले], (नीचीनस्य) नीचे पड़े हुये, (उपसर्पतः) रेंगते हुये, (शर्कोटस्य) काटकर टेढ़ा कर देनेवाले [बीछू आदि] के (विषम्) विष को (हि) निश्चय करके (आ—अदिषि)

४—(अयम्) (यः) विषरोगी (वक्रः) कुटिलावयवः (विपरुः) विश्लिष्टपर्वा विकृतसन्धिः (व्यङ्गः) विकृताङ्गः (मुखानि) मुखावयवान् (वक्रा) कुटिलानि (वृजिना) अ० १ । १० । ३ । क्लिष्टानि (कृणोषि) प्रथमस्य मध्यमपुरुषः । कृणोति । करोति (तानि) अङ्गानि (त्वम्) (ब्रह्मणस्पते) प्रवृद्धस्य ज्ञानस्य रक्षक वैद्यराज (इषीकाम्) ईषेः किद् ह्रस्वश्च । उ० ४ । २१ । ईष हिंसने—ईकन्, टाप् । काशं मुञ्जं वा (इव) यथा (सम्) संगत्य (नमः) णम प्रह्वत्वे शब्दे च—लेटि, अडागमः । सं नमय । ऋजूकुरु ॥

५—(अरसस्य) निर्बलस्य तुच्छस्य । यद्वा । अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । ऋ हिंसायाम्-असच् । हिंसकस्य (शर्कोटस्य) अन्येभ्योपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शॄ हिंसायां-विच्+कुट कौटिल्ये—घञ् । शरा हिंसनेन कुटिलीकरस्य (नीचीनस्य) नीच—ख । नीचदेशे भवस्य (उपसर्पतः) समीपं गच्छतः (विषम्) (हि) अवश्यम् (आ—अदिषि) दो खण्डने लुङ्, आत्मने-

मैंने खण्डित करदिया है (अथो) और (एनम्) इस [जन्तु] को (अजीजभम्) मैंने कुचिल डाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—बीछू आदि के विष को हटाकर उस विषैले जन्तु को भी मार डालें जिससे वह औरों को न सतावे ॥ ५ ॥

न ते॑ बा॒ह्वोर्बल॑मस्ति॒ न शी॒र्षे नोत म॑ध्य॒तः ।
अथ॒ किं पा॒पया॑मु॒या पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ॥ ६ ॥

न । ते॒ । बा॒ह्वोः । बल॑म् । अ॒स्ति॒ । न । शी॒र्षे । न । उ॒त । म॒ध्य॒तः ।
अथ॑ । किम् । पा॒पया॑ । अ॒मु॒या । पुच्छे॑ । बि॒भ॒र्षि॒ । अ॒र्भ॒कम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू !] (न) न तो (ते) तेरे (बाह्वोः) दोनों भुजाओं में (बलम्) बल (अस्ति) है, (न) न (शीर्षे) शिर में (उत) और (न) न (मध्यतः) बीच में है। (अथ) फिर (किम्) क्यों (अमुया पापया) उस पाप बुद्धि से (पुच्छे) पूंछ में (अर्भकम्) थोड़ा सा [विष] (बिभर्षि) तू रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे बीछू सामने से निर्विष होता है और पीछे से वह डंक मारता है, मनुष्यों को ऐसी कुटिलता छोड़ कर सर्वथा सरल स्वभाव होना चाहिये ॥ ६ ॥

अ॒दन्ति॑ त्वा पि॒पीलि॑का॒ वि वृ॑श्चन्ति मयू॒र्यः॑ ।
सर्वे॑ भल ब्रवाथ॒ शार्को॑टमर॒सं वि॒षम् ॥ ७ ॥

अ॒दन्ति॑ । त्वा॒ । पि॒पीलि॑काः । वि । वृ॒श्च॒न्ति॒ । म॒यू॒र्यः॑ ।

पदं छान्दसम्। सर्वतः खण्डितवानस्मि (अथो) अपि च (एनम्) जन्तुम् (अजीजभम्) जभि हिंसने। अनीनशम् ॥

६—(न) निषेधे (ते) तव (बाह्वोः) हस्तयोः (बलम्) सामर्थ्यम् (अस्ति) (न) (शीर्षे) शिरसि (न) (उत) अपि (मध्यतः) सप्तम्यर्थे तसिः। मध्ये। कटिभागे (अथ) पुनः (किम्) किमर्थम् (पापया) पापिष्ठया बुद्ध्या (अमुया) अनया (पुच्छे) पुछ प्रमादे—अच्। लाङ्गले (बिभर्षि) धरसि (अर्भकम्) अल्पे। पा० ५।३।८५। अल्पार्थे कन्। अत्यल्पं विषम् ॥

सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू वा सर्प !] (त्वा) तुझको (पिपीलिकाः) चिउंटियें (अदन्ति) खा जाती हैं और (मयूर्यः) मोरनियें (वि वृश्चन्ति) काट डालती हैं । [हे मनुष्यो !] (सर्वे) तुम सब (शार्कोटम्) बीछू वा सर्प के (विषम्) विष के (अरसम्) निर्बल (भल) भली भांति (ब्रवाथ) बतलाओ ॥

भावार्थ—जैसे चिउंटी, मोर मोरनी आदि विषैले जीवों का आहार कर जाते हैं, वैसेही मनुष्य ओषधि द्वारा विष को निर्बल करके हटावें ॥ ७ ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्र-हरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च । आस्ये । न । ते । विषम् । किम् । ऊं इति । ते । पुच्छ-धौ । असत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू !] (यः) जो तू (उभाभ्याम्) दोनों (पुच्छेन) पूंछ से (च च) और (आस्येन) मुख से (प्रहरसि) चोट मारता है । (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषम्) विष (न) नहीं है, (उ) तौ, (ते) (पुच्छधौ) पूंछ की थैली में (किम्) क्या (असत्) होवे ॥ ८ ॥

७—(अदन्ति) भक्षयन्ति (त्वा) त्वां वृश्चिकं सर्पं वा (पिपीलिकाः) अपि +पील रोधने—एवुल्, अल्लोपः, टापि, अत इत्वम् । पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः—निरु० ७ । १३ । क्षुद्रजन्तुविशेषाः (वि) विशेषेण (वृश्चन्ति) छिन्दन्ति (मयूर्यः) मीनातेरूरन् । उ० १ । ६७ । मीञ् हिंसायाम्—ऊरन्, ङीष् । मयूरस्त्रियः (सर्वे) यूयं सर्वे विषनिर्हारकाः । (भल) भल परिभाषणहिंसादानेषु—पचाद्यच् । साधु (ब्रवाथ) लेटि आडागमः । ब्रूत (शार्कोटम्) शर्कोट—म० ५, अण् । शर्कोटस्य वृश्चिकस्य सर्पस्य वा सम्बन्धि (अरसम्) निर्बलम् (विषम्) ॥

८—(यः) (उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (प्रहरसि) बाधसे (पुच्छेन) म० ६ । लाङ्गलेन (आस्येन) मुखेन (च च) समुच्चये (आस्ये) मुखे (न) निषेधे (ते) तव (विषम्) (किम् असत्) किं स्यात्, न भवेदित्यर्थः (ते) तव (पुच्छधौ) पुच्छ + डुधाञ्—कि । पुच्छधान्याम् ॥

भावार्थ—बीछू के मुख में तो विष नहीं होता, उसकी पूंछ के विष को भी विद्वान् लोग ओषधि द्वारा नाश करें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-२ ॥ सरस्वती देवता ॥ जगती छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

यदा॒शसा॒ वद॑तो मे विचुक्षु॒भे यद् याच॑मानस्य॒ चर॑तो जना॒ँ अनु॑ । यदा॒त्मनि॑ त॒न्वो॑ मे॒ विरि॑ष्टं॒ सर॑स्वती॒ तदा पृ॑णद् घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

यत् । आ॒-शसा॑ । वद॑तः । मे॒ । वि॒-चु॒क्षु॒भे । यत् । याच॑मानस्य । चर॑तः । जना॑न् । अनु॑ । यत् । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वः॑ । मे॒ । वि-रि॑ष्टम् । सर॑स्वती । तत् । आ । पृ॒ण॒त् । घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वदतः मे) मुझ बोलने वाले का (यत्) जो [मन] (आशसा) किसी हिंसा से (विचुक्षुभे) व्याकुल होगया है, [अथवा] (जनान् अनु) मनुष्यों के पास (चरतः) चलकर (याचमानस्य) मुझ मांगने वाले का (यत्) जो [मन व्याकुल होगया है] । [अथवा] (मे तन्वः) मेरे शरीर के (आत्मनि) आत्मा में (यत् विरिष्टम्) जो कष्ट है, (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (तत्) उसको (घृतेन) प्रकाश वा सारतत्त्व से (आ) भली भांति (पृणत्) भर देवे ॥ १ ॥

१—(यत्) मनः (आशसा) शसु हिंसायाम् क्विप् । आशसनेन । आशा-भङ्गेन (वदतः) भाषमाणस्य (मे) मम (विचुक्षुभे) विशेषेण क्षुभितं व्याकुलं बभूव (यत्) मनः (याचमानस्य) प्रार्थयमानस्य (चरतः) गच्छतः (जनान् अनु) जनान् प्रति (यत्) (आत्मनि) स्वस्मिन् (तन्वः) शरीरस्थ (मे) मम (विरिष्टम्) रिष्ट हिंसायाम्—क्त । विशेषेण क्लिष्टम् (तत्) दुःखम् (सरस्वती) वाक्—निघ० १ । ११ । विज्ञानवती विद्या (तत्) (आ) समन्तात् (पृणत्) पृण प्रीणने—लेटि, अडागमः । पूरयेत् ॥

भावार्थ—मनुष्य अविद्या के कारण से प्राप्त हुये क्लेशों को विद्या द्वारा नाश करें ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि । उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

सप्त । क्षरन्ति । शिशवे । मरुत्वते । पित्रे । पुत्रासः । अपि । अवीवृतन् । ऋतानि । उभे इति । इत् । अस्य । उभे इति । अस्य । राजतः । उभे इति । यतेते इति । उभे इति । अस्य । पुष्यतः २

भाषार्थ—(सप्त) सात [इन्द्रियां अर्थात् दो कान, दो नथुने, दो आंख, एक मुख] (मरुत्वते) सुवर्ण वाले (शिशवे) दुःखनाशक बालक [वा प्रशंसनीय वा उदार विद्वान्] के लिये [सुख से] (क्षरन्ति) बरसती हैं, (अपि) और (पुत्रासः) पुत्रों [पुत्र समान हितकारी पुरुषों] ने (पित्रे) उस पिता [पिता तुल्य माननीय] के लिये (ऋतानि) सत्य धर्मों को (अवीवृतन्) प्रवृत्त किया है । (उभे) दोनों [वर्तमान और भविष्यत् जन्म वा अवस्था] (इत्) ही (अस्य) इस [विद्वान्] के होते हैं, (अस्य) इसके (उभे) दोनों

२—(सप्त) सप्त ऋषयः—अ० ४ । ११ । ६ । कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ० । १० । २ । ६ । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (क्षरन्ति) सुखं वर्षन्ति (शिशवे) शः कित् सन्वच । उ० । १ । २० । शो तनूकरणे—उ । शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः-निरु० १० । ३६ । दुःखस्य अल्पीकर्त्रे नाशयित्रे बालकाय दात्रे विदुषे वा (मरुत्वते) मरुत्=हिरण्यम्—निघ० १ । २ । सुवर्णवते (पित्रे) पितृतुल्यमाननीयाय विदुषे (पुत्रासः) पुत्रवदुपकारिणः पुरुषाः (अपि) च (अवीवृतन्) वर्ततेर्ण्यन्ताल्लुङि चङि रूपम् । प्रवर्तितवन्तः (ऋतानि) सत्यधर्माणि (उभे) उभ पूरणे—क । उभौ समुब्धौ भवतः—निरु० ४।४। उभे निपासि जन्मनी—यजु० ८ । ३ । द्वे वर्तमानभविष्यती जन्मनी अवस्थे वा (इत्) एव (अस्य) शिशोर्विदुषः पुरुषस्य (उभे) (अस्य) (राजतः) राजतिरै=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ऐश्वर्य-

(राजतः) ऐश्वर्यवान् होते हैं, (उभे) दोनों (यतेते) प्रयत्नशाली होते हैं, (उभे) दोनों (अस्य) इसका (पुष्यतः) पोषण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—धनी, परोपकारी, विद्वान् पुरुष इस जन्म और परजन्म और वर्तमान और भविष्यत् काल में पूर्ण सुख भोगते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में कुछ भेद से है—१० । १३ । ५ ।

सूक्तम् ५८ ॥

१-२ ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाजनकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा जन के कर्त्तव्य का उपदेश है ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये॥१॥

इन्द्रावरुणा । सुत-पौ । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिबतम् । मद्यम् । धृत-व्रतौ । युवोः । रथः । अध्वरः । देव-वीतये । प्रति । स्वसरम् । उप । यातु । पीतये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुतपौ) हे पुत्रों के रक्षा करने वाले ! (धृतव्रतौ) उत्तम कर्मों के धारण करने वाले ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान वर्त्तमान राजा और प्रजाजन (इमम् सुतम्) इस पुत्र को (मद्यम्) आनन्द-दायक (सोमम्) ऐश्वर्य [वा बड़ी बड़ी ओषधियों का रस] (पिबतम्= पाययतम्) पान कराओ, (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) मार्ग बताने वाला (रथः) विमान आदि यान (देववीतये) दिव्य पदार्थों की प्राप्ति के

युक्ते भवतः (यतेते) यती प्रयत्ने । प्रयत्नं कुरुतः (पुष्यतः) पोषणं कुरुतः ॥

१—(इन्द्रावरुणा) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ (सुतपौ) पुत्रपालकौ (इमम्) प्रत्यक्षम् (सुतम्) पुत्रम् (सोमम्) ऐश्वर्यम् । महौषधि-रसं वा (पिबतम्) अन्तर्गतण्यर्थः । पाययतम् (मद्यम्) आनन्दकम् (धृतव्रतौ) धृतकर्माणौ (युवोः) युवयोः (रथः) विमानादियानम् (अध्वरः) अध्वन्+ रा दाने-क । मार्गप्रदः (देववीतये) दिव्यपदार्थप्राप्तये (प्रति) वीप्सायाम् (स्वसरम्) दिनम्—निघ० १ । ६ । गृहम्—निघ० ३ । ४ (उप) समीपे

लिये और (पीतये) वृद्धि के लिये (प्रति स्वसरम्) प्रतिदिन वा प्रतिघर (उप यातु) आया करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजागणों को चाहिये कि परस्पर रक्षक होकर परस्पर उन्नति करें ॥ १ ॥

म० १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—६ । ६८ । १०,११ ॥

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृष॒णा वृषे॑थाम् । इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तमा॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम् ॥ २ ॥

इन्द्रा॑वरुणा । मधु॑मत्-तमस्य । वृष्णः॑ । सोम॑स्य । वृ॒ष॒णा॒ । आ । वृ॒षे॒था॒म् । इ॒दम् । वा॒म् । अन्धः॑ । परि॑-सिक्तम् । आ॒-सद्य॑ । अ॒स्मिन् । ब॒र्हिषि॑ । मा॒द॒ये॒था॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृषणा) हे बलिष्ठ ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान राजा और प्रजाजनों तुम (मधुमत्तमस्य) अत्यन्तज्ञानयुक्त, (वृष्णः) बल करने वाले (सोमस्य) ऐश्वर्य की (वृषेथाम्) वरसा करो । (वाम्) तुम दोनों का (इदम्) यह (परिषिक्तम्) सब प्रकार सींचा हुआ (अन्धः) अन्न है, (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयेथाम्) आनन्दित करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा और प्रजागण सब की उन्नति के लिये पुरुषार्थ करते हैं, वे ही सत्कार योग्य होते हैं ॥ २ ॥

(यातु) गच्छतु (पीतये) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । ११५ । इति बाहुलकात् प्यैङ् वृद्धौ—क्तिनि प्रत्यये सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति दीर्घः । वृद्धये ॥

२—(इन्द्रावरुणा) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ (मधुमत्तमस्य) अतिशयेन ज्ञानयुक्तस्य (वृष्णः) बलकरस्य (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (वृषणा) बलिष्ठौ (वृषेथाम्) वर्षणं कुरुतम् (इदम्) (वाम्) युवयोः (अन्धः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । (परिषिक्तम्) सर्वतः सिक्तम् (आसद्य) उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) वृद्धिकर्मणि (मादयेथाम्) आनन्दयतम् ॥

सूक्तम् ५९ ॥

१ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

वृक्षः-इव । वि-द्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

भाषार्थ—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (विद्युता) बिजुली से (हतः) मारे गये (वृक्षः इव) वृक्ष के समान वह (आ मूलात्) जड़ से लेकर (अनु) निरन्तर (शुष्यतु) सूख जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट धर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अ० ६ । ३७ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥



अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-७ ॥ गृहपतिर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-७ अनुष्टुप् ॥

१—(यः) दुष्टः (नः) अस्मान् (शपात्) शपेत् । निन्देत् (अशपतः) अशापिनः (शपतः) शापकारिणः (यः) (च) (नः) (शपात्) (वृक्षः) (इव) (विद्युता) अशन्या (हतः) भस्मीकृतः (आ मूलात्) मूलमारभ्य (अनु) निरन्तरम् (शुष्यतु) शुष्को भवतु ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण। गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

ऊर्जम्। बिभ्रत्। वसु-वनिः। सु-मेधाः। अघोरेण। चक्षुषा। मित्रियेण। गृहान्। आ। एमि। सु-मनाः। वन्दमानः। रमध्वम्। मा। बिभीत। मत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जम्) पराक्रम (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (वसुवनिः) धन ऊपार्जन करने वाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला, (अघोरेण) अभयानक, (मित्रियेण) मित्र के (चक्षुषा) नेत्र से [देखता हुआ] (सुमनाः) सुन्दर मन वाला, (वन्दमानः) [तुम्हारे] गुण बखानता हुआ मैं (गृहान्) घर के लोगों में (आ एमि) आता हूं। (रमध्वम्) तुम प्रसन्न होओ, (मत्) मुझ से (मा बिभीत) भय मत करो ॥१॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष शरीर और आत्मा का बल और धन आदि पदार्थ प्राप्त करके बड़ी प्रीति से प्रसन्नचित्त रह कर गृहस्थाश्रम को सिद्ध करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३। ४१ ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः। पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

१—(ऊर्जम्) पराक्रमम् (बिभ्रत्) धारयन् (वसुवनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। वसु + वन सम्भक्तौ-इन्। वसुनो धनस्य सम्भक्ता, उपार्जकः (सुमेधाः) अ० ५। ११। ११। सुबुद्धियुक्तः (अघोरेण) अभयानकेन (चक्षुषा) नेत्रेण पश्यन्ति शेषः (मित्रियेण) अ० २। २८। १। मित्र-घ। मित्रसम्बन्धिना (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (ऐमि) आगच्छामि (सुमनाः) शोभनज्ञानः (वन्दमानः) युष्मान् स्तुवन् (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत (मत्) मत्तः ॥

इमे । गृहाः । मयः-भुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः । पूर्णाः ।
वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इमे) यह (गृहाः) घर के लोग (मयोभुवः) आनन्द देने वाले, (ऊर्जस्वन्तः) बड़े पराक्रमी, (पयस्वन्तः) उत्तम जल, दुग्ध आदि वाले, (वामेन) उत्तम धन से (पूर्णाः) भरपूर (तिष्ठन्तः) खड़े हुये हैं। (ते) वे लोग (आयतः) आते हुये (नः) हमको (जानन्तु) जानें ॥ २ ॥

भावार्थ—घर के लोग बाहिर से आये हुये गृहस्थों और अतिथियों का यथावत् सत्कार करें ॥२॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥

येषाम् । अधि-एति । प्र-वसन् । येषु । सौमनसः । बहुः ।
गृहान् । उप । ह्वयामहे । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवसन्) परदेश वसता हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन [गृहस्थों] का (अध्येति) स्मरण करता है, और (येषु) जिन में (बहुः) अधिक (सौमनसः) प्रीतिभाव है, (गृहान्) उन घर वालों को (उप ह्वयामहे) हम प्रीति से बुलाते हैं, (ते) वे लोग (आयतः) आते हुये (नः) हम को (जानन्तु) जानें ॥ ३ ॥

२—(इमे) (गृहाः) गृहस्थाः (मयोभुवः) अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयितारः (ऊर्जस्वन्तः) अ० ३ । १२ । २ । प्रभूतपराक्रमिणः (पयस्वन्तः) उत्तमजलदुग्धादिसमृद्धाः (पूर्णाः) समृद्धाः (वामेन) प्रशस्येन धनेन । वामः प्रशस्यः—निघ० ३ । ८ (तिष्ठन्तः) (ते) गृहाः (जानन्तु) अवबुध्यन्ताम् (आयतः) इण् गतौ-शतृ । आगच्छतः ॥

३—(येषाम्) गृहस्थानाम् (अध्येति) इक् स्मरणे । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । स्मरणं करोति (प्रवसन्) देशान्तरे वसन् पुरुषः (येषु) गृहेषु (सौमनसः) अ० ३ । ३० । ७ । सुप्रीतिभावः (बहुः) अधिकः (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (उप) सत्कारेण (ह्वयामहे) आह्वयामः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परदेश गया हुआ पुरुष प्रीति से घर वालों का स्मरण करता रहता है, वैसे ही घर वाले प्रीति से उसका स्मरण रक्खें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-३। ४२ और संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

उप॑हूता भूरि॑धनाः सखा॑यः स्वा॒दुसं॑मुदः ।

अ॒क्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद्विभी॑तन ॥ ४ ॥

उप॑-हूताः । भूरि॑-धनाः । सखा॑यः । स्वा॒दु-सं॑मुदः । अ॒क्षु॒ध्याः । अ॒तृ॒ष्याः । स्त॒ । गृहाः॑ । मा । अ॒स्मत् । वि॒भी॒त॒न॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(भूरिधनाः) बड़े धनी, (स्वादुसंमुदः) स्वादिष्ट पदार्थों से आनन्द करने वाले (सखायः) मित्र लोग (उपहूताः) स्वागत किये गये हैं। (गृहाः) हे घर के लोगो ! (अक्षुध्याः, अतृष्याः, स्त) तुम भूखे प्यासे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा विभीतन) मत भय करो ॥४॥

भावार्थ—वाहिर से आये हुये और घर वाले सब पुरुष प्रसन्न हो कर परस्पर आनन्द करें ॥ ४ ॥

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वयः॑ ।

अथो॒ अन्न॑स्य की॒ला॒ल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ ५ ॥

उप॑-हूताः । इ॒ह । गावः॑ । उप॑-हूताः । अ॒ज-अ॒वयः॑ । अथो॒ इति॑ । अन्न॑स्य । की॒लालः॑ । उप॑-हूतः । गृ॒हेषु॑ । नः॒ ॥ ५ ॥

४—(उपहूताः) सत्कारेण प्रार्थिताः (भूरिधनाः) प्रभूतधनाः (सखायः) सुहृदः (स्वादुसंमुदः) स्वादुभी रोचकैः पदार्थैः संमोदमानाः (अक्षुध्याः) तदर्हति। पा० ५। १। ६३। इत्यर्थे। छन्दसि च । पा० ५। १। ६७। क्षुध्-य प्रत्ययः। क्षुधं बुभुक्षामर्हन्तीति क्षुध्याः, न क्षुध्या अक्षुध्याः। क्षुधारहिताः (अतृष्याः) पूर्ववत् तृष्—य प्रत्ययः। तृष्णारहिताः (स्त) भवत (गृहाः) गृहस्थाः (अस्मत्) अस्मत्तः (मा विभीतन) ञि भी भये लोटि तस्य तनादेशः। भयं मा प्राप्नुत ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (गावः) गौयें (उपहूताः) आदर से बुलायी गयीं, और (अजावयः) भेड़ बकरी (उपहूताः) पास में बुलायी गयीं होवें । (अथो) और भी (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) रसीला पदार्थ (उपहूतः) पास लाया गया हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूध वाले गौ आदि पशु और भोजन के उत्तम पदार्थ संग्रह करके परस्पर रक्षा करें ॥५॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—३ । ४३ । और संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥

सूनृता-वन्तः । सु-भगाः । इरा-वन्तः । हसामुदाः । अतृष्याः । अक्षुध्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतन ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सूनृतावन्तः) प्रिय सत्य वचन वाले, (सुभगाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (इरावन्तः) उत्तम भोजन वाले, (हसामुदाः) हंस हंस कर प्रसन्न करने वाले, (गृहाः) हे घर के लोगो ! तुम (अतृष्याः, अक्षुध्याः स्त) प्यासे भूखे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतन) मत भय करो ॥६॥

भावार्थ—जो मनुष्य परस्पर सत्यभाषी, धर्मात्मा होते हैं, वे ही ऐश्वर्य बढ़ाकर सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ६ ॥

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।

५—(उपहूताः) सत्कारेण समीपे वा प्राप्ताः (इह) गृहाश्रमे (गावः) गवादिदुग्धपशवः (उपहूताः) (अजावयः) अजाश्च अवयश्च (अथो) अपि (अन्नस्य) भोजनस्य (कीलालः) अ० ४ । ११ । १० । सारपदार्थः (उपहूतः) (गृहेषु) गेहेषु (नः) अस्माकम् ॥

६—(सूनृतावन्तः) अ० ३ । १२ । २ । सत्यप्रियवागयुक्ताः (सुभगाः) शोभनैश्वर्यवन्तः (इरावन्तः) अन्नवन्तः—निघ० २ । ७ (हसामुदाः) हस हसने—क्विप+मुद मोदे क, अन्तर्गतण्यर्थः । हासेन मोदयमानाः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

इह । एव । स्त । मा । अनु । गात । विश्वा । रूपाणि । पुष्यत । आ । एष्यामि । भद्रेण । सह । भूयांसः । भवत । मया ॥७॥

भाषार्थ—(इह एव) यहां ही (स्त) रहो, (अनु) पीछे पीछे (मा गात) मत चलो, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूप वाली वस्तुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो। (भद्रेण सह) कुशल के साथ (आ एष्यामि) मैं आऊंगा, [फिर] (मया) मेरे साथ (भूयांसः) अधिक अधिक होकर (भवत) रहो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य परदेश जाने पर प्रतिज्ञा करके स्वदेशवृद्धि की चिन्ता रक्खे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-२ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्राप्त्युपदेशः—वेद विद्या प्राप्ति का उपदेश ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥

यत् । अग्ने । तपसा । तपः । उप-तप्यामहे । तपः । प्रियाः । श्रुतस्य । भूयास्म । आयुष्मन्तः । सु-मेधसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! (यत्) जिस कारण से (तपसा) तप [शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों के सहन] से (तपः) ऐश्वर्य के हेतु (तपः)

७—(इह) अत्र (एव) (स्त) भवत (अनु) मम पश्चात् (मा गात) इण् गतौ—माङि लुङि रूपम्। मा गच्छत (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि (पुष्यत) समर्धयत (ऐष्यामि) आगमिष्यामि (भद्रेण) कुशलेन (सह) सहितः (भूयांसः) अतिप्रभूताः (भवत) (मया) पुनरागतेन ॥

१—(यत्) यस्मात् कारणात् (अग्ने) विद्वन्। आचार्य (तपसा) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च-असुन्। श्रमेण। शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहनेन (तपः) ऐश्वर्यकारणम् (उपतप्यामहे) यथावदनुतिष्ठामः (तपः) ब्रह्मचर्या-

तप [ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रत] को (उपतप्यामहे) हम ठीक ठीक काम में लाते हैं। [इसीसे] हम (श्रुतस्य) वेदशास्त्र के (प्रियाः) प्रीति करने वाले, (आयुष्मन्तः) प्रशंसनीय आयु वाले और (सुमेधसः) तीव्रबुद्धि (भूयास्म) होजावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य तप अर्थात् द्वन्द्वों का सहन और पूर्ण ब्रह्मचर्य का सेवन से वेद विद्या प्राप्त करके यशस्वी और तीव्रबुद्धि होकर संसार का उपकार करें ॥ १ ॥

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑ ।

श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सुमे॒धसः॑ ॥ २ ॥

अग्ने॑ । तपः॑ । त॒प्या॒म॒हे॒ । उप॑ । त॒प्या॒म॒हे॒ । तपः॑ । श्रु॒तानि॑ । शृ॒ण्वन्तः॑ । व॒यम् । आयु॑ष्मन्तः । सु॒-मे॒धसः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! हम (तपः) तप [द्वन्द्व सहन] (तप्यामहे) करते हैं, और (तपः) ब्रह्मचर्यादि व्रत (उप तप्यामहे) यथावत् साधते हैं। (श्रुतानि) वेदशास्त्रों को (शृण्वन्तः) सुनते हुये (वयम्) हम (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन वाले और (सुमेधसः) तीव्र बुद्धि वाले [हो जावें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्वन्द्व सहन और ब्रह्मचर्य सेवन से वेदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके संसार में कीर्त्तिमान् होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

अ॒यम॒ग्निः सत्प॑तिर्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत् पु॒रोहि॑तः । नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं

दिसत्यव्रतम् (प्रियाः) प्रीतिकर्तारः (श्रुतस्य) वेदशास्त्रस्य (भूयास्म) (आयुष्मन्तः) श्रेष्ठजीवनयुक्ताः (सुमेधसः) सुमेधावन्तः ॥

२—(तप्यामहे) साधयामः (श्रुतानि) वेदशास्त्राणि (शृण्वन्तः) श्रवणेन स्वीकुर्वन्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्-पतिः । वृद्ध-वृष्णः । रथी-इव । पत्तीन् । अजयत् । पुरः-हितः । नाभा । पृथिव्याम् । नि-हितः । दविद्युतत् । अधः-पदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस (सत्पतिः) श्रेष्ठों के रक्षक, (वृद्धवृष्णः) बड़े बल वाले, (पुरोहितः) सब के अगुआ (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति ने (रथी इव) रथ वाले योधा के समान (पत्तीन्) [शत्रु की] सेनाओं को (अजयत्) जीत लिया है। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (नाभा) नाभि में (निहितः) स्थापित किया हुआ (दविद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान वह [उनको] (अधस्पदम्) पांव के तले (कृणुताम्) कर लेवे, (ये) जो (पृतन्यवः) सेना चढ़ाने वाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूरवीर पुरुष सब शत्रुओं को जीत कर सज्जनों की रक्षा करे, वही गोलाकार पृथिवी के बीच में सब ओर से चक्रवर्ती राजा होकर संसार में उपकारी बने ॥ १ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकर्त्तव्योदेशः—सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सध-

१—(अयम्) प्रसिद्धः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी सेनापतिः (सत्पतिः) सतां सज्जनानां पालकः (वृद्धवृष्णः) इण्सिञ्जि०। उ० ३। २। वृषु सेचने-नक्। वृष्णं बलम्। प्रवृद्धबलः (रथी) रथ—इनि। रथवान् योद्धा (इव) यथा (पत्तीन्) पदिप्रथिभ्यां नित्। उ० ४। १८३। पद गतौ स्थैर्ये च—ति। शत्रुसेनाः (अजयत्) जितवान् (पुरोहितः) अ० ३। १६। १ अग्रगामी (नाभा) नाभौ मध्यदेशे (पृथिव्याम्) भूमौ (निहितः) स्थापितः। अभिषिक्तः (दविद्युतत्) दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति०। पा० ७। ४। ६५ द्युत दीप्तौ यङ्लुकि शतृ। अत्यर्थं द्योतमानः (अधस्पदम्) पादस्याधो देशे (कृणुताम्) करोतु (ये) शत्रवः (पृतन्यवः) अ० ७। ३४। १। संग्रामेच्छवः ॥

स्थात् । स नः पर्ष॒दति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॒ क्षाम॑द् दे॒वोऽति॑ दुरि॒तान्य॒ग्निः ॥ १ ॥

पृत॒ना-जित॑म् । सह॑मानम् । अ॒ग्निम् । उ॒क्थैः । ह॒वा॒म॒हे॒ । प॒र॒मात् । स॒ध-स्था॑त् । सः । नः॒ । प॒र्ष॒त् । अति॑ । दुः॒-गानि॑ । विश्वा॑ । क्षाम॑त् । दे॒वः । अति॑ । दुः॒-इ॒तानि॑ । अ॒ग्निः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृतनाजितम्) संग्राम जीतने वाले, (सहमानम्) विजयी, (अग्निम्) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति को (उक्थैः) स्तुतियों के साथ [उसके] (परमात्) बहुत ऊंचे (सधस्थात्) निवास स्थान से (हवामहे) हम बुलाते हैं। (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल (अग्निः) तेजस्वी सेनापति (विश्वा) सब (दुर्गाणि) दुर्गों को (अति) उलांघ कर और (दुरितानि) विघ्नों को (अति) हटाकर (नः) हमें (पर्षत्) पार लगावे, और (क्षामत्) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति शत्रुओं के गढ़ तोड़ कर विजय पाता है वही प्रजापालन में समर्थ होता है ॥१॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-२ ॥ १ आपः; २ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुभ्यो रक्षोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

इ॒दं यत् कृ॒ष्णः श॒कुनि॑रभिनि॒ष्पत॒न्नपी॑पतत् ।
आपो॑ मा॒ तस्मा॒त् सर्व॑स्माद् दुरि॒तात् पा॒न्त्वंह॑सः ॥१॥

१—(पृतनाजितम्) संग्रामजेतारम् (सहमानम्) षह अभिभवने नैरुक्तो धातुः । अभिभवन्तम् । विजयिनम् (अग्निम्) अग्निवत्तेजस्विनं सेनापतिम् (उक्थैः) वक्तव्यैः स्तोत्रैः (हवामहे) आह्वयामः (परमात्) उत्कृष्टात् (सधस्थात्) निवासात् (सः) (नः) अस्मान् (पर्षत्) अ० ६ । ३४ । १ । पारयेत् (अति) उल्लंघ्य (दुर्गाणि) दुर्गमनान् शत्रुकोट्टान् (विश्वा) सर्वाणि (क्षामत्) क्षमूष् सहने णिचि, लेटि, अडागमः । क्षामयेत् समर्थयेत् (देवः) व्यवहारकुशलः (अति) अतीत्य (दुरितानि) विघ्नान् (अग्निः) सेनापतिः ॥

इ॒दम् । यत् । कृ॒ष्णः । श॒कुनिः । अ॒भि-नि॒ष्पत॑न् । अपी॑पतत् ।
आपः॑ । मा॒ । तस्मा॑त् । सर्व॑स्मात् । दुः-इ॒तात् । पा॒न्तु॒ । अंह॑सः ॥ १

भाषार्थ—(कृष्णः) कौवे वा (शकुनिः) चिल्ह के समान निन्दित उपद्रव ने (अभिनिष्पतन्) सन्मुख आते हुये (इदम् यत्) यह जो कष्ट (अपीपतत्) गिराया है । (आपः) उत्तम कर्म (मा) मुझको (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब (दुरितात्) कठिन (अंहसः) कष्ट से (पान्तु) बचावें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके सब बाहिरी और भीतरी विपत्तियों से बचें ॥ १ ॥

इ॒दं यत् कृ॒ष्णः श॒कुनि॑रवामृ॒क्षन्निर्ऋ॑ते ते॒ मुखे॑न ।
अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो गार्ह॑पत्यः॒ प्र मु॑ञ्चतु ॥ २ ॥

इ॒दम् । यत् । कृ॒ष्णः । श॒कुनिः । अ॒व-अमृ॑क्षत् । निः-ऋ॒ते॒ । ते॒ । मुखे॑न । अ॒ग्निः । मा॒ । तस्मा॑त् । एन॑सः । गार्ह॑-पत्यः । प्र । मु॒ञ्च॒तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे कठिन आपत्ति ! (ते) तेरे (मुखेन) मुख के सहित (कृष्णः) कौवे अथवा (शकुनिः) चिल्ह के समान निन्दित उपद्रव ने (इदम्) यह (यत्) जो कुछ कष्ट (अवामृक्षत्) एकत्र किया है । (गार्हपत्यः)

१—(इदम्) (यत्) कष्टम् (कृष्णः) श्वाकाक इति कुत्सायाम्—निरु० ३ । १८ । काक इव निन्दित उपद्रवः । शकेरुनोन्तोन्त्युनयः । उ० ३ । ४९ । शक्लृ शक्तौ—उनि । चिल्ह इव निन्दितः (अभिनिष्पतन्) अभिमुखमागच्छन् (अपीपतत्) पत्लृ अधः पतने—णिचि लुङि रूपम् । पातितवान् । प्रापितवान् (आपः) अ० ६ । ९१ । ३ । उत्तमानि कर्माणि (मा) माम् (तस्मात्) (सर्वस्मात्) (दुरितात्) दुर्गतात् । कठिनात् (पान्तु) रक्षन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(इदम्) (यत्) कष्टम् (कृष्णः) म० १ । काक इव निन्दित उपद्रवः (शकुनिः) चिल्ह इव निन्दितः (अवामृक्षत्) मृक्ष संघाते—लङ् । राशीकृतवान् (निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते (ते) तव (मुखेन) (अग्निः) व्यापकः

गृहपति [आत्मा] से संयुक्त (अग्निः) पराक्रम (तस्मात्) उस (एनसः) कष्ट से (मा) मुझ को (प्र मुञ्चतु) छुड़ा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्म पराक्रम करके विघ्नों को हटा कर सुखी रहें॥२॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वैद्यकर्मोपदेशः—वैद्य के कर्म का उपदेश ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीन-फलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिथ । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवयाः । इतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपामार्ग) हे सर्व संशोधक वैद्य ! [वा अपामार्ग औषध !] (त्वम्) तू (हि) निश्चय करके (प्रतीचीनफलः) प्रतिकूलगतिवाले रोगों का नाश करने वाला (रुरोहिथ) उत्पन्न हुआ है । (इतः मत्) इस मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [दोषों] को (अधि) अधिकार पूर्वक (वरीयः) अति दूर (यवयाः) तू हटाता देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य अपामार्ग आदि औषध से रोगों को दूर करता हैं, वैसे ही विद्वान् अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को हटावे ॥१॥

अपमार्ग औषध विशेष है जिससे कफ़ बवासीर, खुजिली, उदररोग और विष रोग का नाश होता है—देखो अ० ४ । १७ । ६ ॥

पराक्रमः (मा) माम् (तस्मात्) (एनसः) कष्टात् (गार्हपत्यः) अ० ५ । ३१ । ५ । गृहपतिना आत्मना संयुक्तः (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चतु) मोचयतु ॥

१—(प्रतीचीनफलः) अ० ५ । १६ । ७ प्रतिकूलगतिवानां रोगाणां विदारकः (हि) निश्चयेन (त्वम्) (अपामार्ग) अ० ४ । १७ । ६ । हे सर्वथा संशोधक वैद्य । औषधविशेष (रुरोहिथ) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—लिट् उत्पन्नो बभूविथ (सर्वान्) (मत्) मत्तः (शपथान्) शापान् दोषान् (अधि) अधिकृत्य (वरीयः) उरुतरम् । अति दूरम् (यावयाः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—लेटि, आडागमः, सांहितिको दीर्घः । पृथक् कुर्याः (इतः) अस्मात् ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुः-कृतम् । यत् । शमलम् । यत् । वा । चेरिम । पापया ।
त्वया । तत् । विश्वतः-मुख । अपामार्ग । अप । मृज्महे ॥२॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (दुष्कृतम्) दुष्कर्म (यद् वा) अथवा (यत्) जो कुछ (शमलम्) मलिन कर्म (पापया) पाप बुद्धि से (चेरिम) हमने किया है। (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख रखने वाले ! [अतिदूरदर्शी] (अपामार्ग) हे सर्वथा संशोधक ! (त्वया) तेरे साथ (तत्) उसको (अप मृज्महे) हम शोधते हैं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य दुष्कर्म और मलिनकर्म से उत्पन्न रोगों को सद्वैद्य की सम्मति से औषध द्वारा निवृत्त करें ॥२॥

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत् सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

श्याव-दता । कुनखिना । बण्डेन । यत् । सह । आसिम ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥३॥

भाषार्थ—(श्यावदता) काले दांत वाले, (कुनखिना) दूषितनख वाले (बण्डेन) बण्डे [टेढ़े मेढ़े अङ्ग वाले रोगी] के (सह) साथ (यत्) जो (आसिम) रहे हैं। (अपामार्ग) हे सर्वथा संशोधक ! [वैद्य वा अपामार्ग

२—(यत्) यत् किञ्चित् (दुष्कृतम्) दुष्कर्म (यत्) (शमलम्) अ० ४ । ६ । ६ मालिन्यम् (यद् वा) अथवा (चेरिम) चर गतिभक्षणयोः—लिट्। वयं कृतवन्तः (पापया) पापबुद्ध्या (त्वया) (तत्) दुष्कृतं शमलं वा (विश्वतोमुख) सर्वदिङ्मुख। अतिदूरदर्शिन् (अपामार्ग) म० १ । सर्वथा संशोधक (अप मृज्महे) सर्वथा शोधयामः ॥

३—(श्यावदता) विभाषा श्यावारोकाभ्यां च पा०।पा० ५ । ४ । १४४। श्यावपदादुत्तरस्य दन्तस्य दतृ इत्यादेशः। कृष्णदन्तयुक्तेन (कुनखिना) दूषितनखयुक्तेन (बण्डेन) वडि विभाजने, वेष्टने च—अच्। विकलाङ्गेन (यत्)

औषध !] (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सब को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥३८॥

भावार्थ—यदि रोग की व्याकुलता से शरीर अङ्गभङ्ग हो जावे, उसे ओषधि द्वारा स्वस्थ करें ॥३॥

सूक्तम् ६६ ॥

१ ॥ ब्राह्मणं देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविज्ञानव्याप्त्युपदेशः—वेद विज्ञान की व्याप्ति का उपदेश ॥

यद्य॒न्तरि॑क्षे॒ यदि॒ वात॒ आस॒ यदि॑ वृ॒क्षेषु॒ यदि॒ वोल॑पेषु ।
यद॑श्र॑वन् प॒शव॑ उ॒द्यमा॑नं॒ तद् ब्रा॑ह्म॒णं पुन॑र॒स्मानु॒पैतु॑ ॥१

यदि॑ । अ॒न्तरि॑क्षे । यदि॑ । वाते॑ । आस॑ । यदि॑ । वृ॒क्षेषु॑ । यदि॑ । वा॒ । उल॑पेषु । यत् । अश्र॑वन् । प॒शव॑: । उ॒द्यमा॑नम् । तत् । ब्रा॒ह्म॑णम् । पुन॑: । अ॒स्मान् । उ॒प॒-ऐतु॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यदि=यत्) जो [ब्रह्मज्ञान] (अन्तरिक्षे) आकाश में, (यदि) जो (वाते) वायु में (यदि) जो (वृक्षेषु) वृक्षों में, (वा) और (यदि) जो (उलपेषु) कोमल तृणों [अन्न आदि] में (आस) व्याप्त था। (यत्) जिस (उद्यमानम्) उच्चारण किये हुये को (पशवः) सब प्रा-

---

(सह) (आसिम) अस भुवि-लङ्, इत्वं छान्दसम्। आस्म। अभवाम। अन्यत् स्पष्टम् ॥

१—(यदि) यत्। ब्राह्मणम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (यदि) (वाते) वायौ (आस) अस गतिदीप्त्यादानेषु—लिट्। व्याप्तं बभूव (यदि) (वृक्षेषु) सेवनीयेषु तरुषु (यदि) (वा) अवधारणे। समुच्चये (उलपेषु) विटपविष्ट-पविशिपोलपाः। उ० ३। १४५। वल संवरणे—कपप्रत्ययः, सम्प्रसरणम्। कोमलतृणेषु। अन्नादिषु (यत्) ब्राह्मणम् (अश्रवन्) शृणोतेर्लङि छान्दसः शप्। अशृण्वन् (पशवः) अ० २। २६। १। मनुष्यादिप्राणिनः (उद्यमानम्) वद व्यक्तायां वाचि कर्मणि शानच्, यक्, यजादित्वात् सम्प्रसारणम्। उच्चार्यमाणम् (तत्) (ब्राह्मणम्) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। ब्रह्मन्—अण्। अन्। पा० ६। ४। १६७। नटिलोपः। ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ब्राह्मणस्य

षियों ने (अश्रवन्) सुना है; (तत्) वह (ब्राह्मणम्) वेद विज्ञान (पुनः) बारंबार [अथवा परजन्म में] (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञान सब पदार्थों में, और सब पदार्थ ईश्वर ज्ञान में हैं, मनुष्य उस ईश्वर ज्ञान को नित्य और जन्म जन्म में प्राप्त करके मोक्षपद भागी होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्तदेवताः ॥ बृहती छन्दः ॥

सुकर्मकरणायोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

पुन॒र्मैत्वि॑न्द्रि॒यं पुन॑रा॒त्मा द्रवि॑णं॒ ब्राम्ह॑णं च ।
पुन॑र॒ग्नयो॒ धिष्ण्या॑ यथास्था॒म क॑ल्पयन्तामि॒हैव ॥१॥

पुनः॑ । मा॒ । आ । ए॒तु॒ । इ॒न्द्रि॒यम् । पुनः॑ । आ॒त्मा । द्रवि॑णम् । ब्राह्म॑णम् । च॒ । पुनः॑ । अ॒ग्नयः॑ । धिष्ण्याः॑ । य॒था॒-स्था॒म । क॒ल्प॒य॒न्ता॒म् । इ॒ह । ए॒व ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रियम्) इन्द्रत्व [परम ऐश्वर्य] (मा) मुझको (पुनः) अवश्य [वा फिर जन्म में], (आत्मा) आत्मबल, (द्रविणम्) धन (च) और (ब्राह्मणम्) वेदविज्ञान (पुनः) अवश्य [वा परजन्ममें] (आ एतु) प्राप्त होवे (धिष्ण्याः) बोलने में चतुर (अग्नयः) विद्वान् लोग (यथास्थाम) यथास्थान [कर्म अनुसार मुझको] (इह) यहाँ (एव) ही (पुनः) अवश्य

वेदम् । वेदविज्ञानम् (पुनः) वारं वारम् । परजन्मनि वा (अस्मान्) उपासकान् (उपैतु) उप+आ+एतु । प्राप्नोतु ॥

१—(पुनः) अवश्यं परजन्मनि वा (मा) मां प्राणिनम् (ऐतु) आगच्छतु (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । धनम्—निघ० २ । १० । (पुनः) (आत्मा) आत्मबलम् (द्रविणम्) धनम् (ब्राह्मणम्) अ० ७ । ६६ । १ । वेदविज्ञानम् (च) (पुनः) (अग्नयः) अ० २ । ३५ । १ । ज्ञानिनः पुरुषाः (धिष्ण्याः) अ० २ । ३५ । १ । धिष शब्दे—ण्य । शब्दकुशलाः (यथास्थाम) आतोमनिन्० । पा० ३ । २ । ७४ । तिष्ठतेर्मनिन् । यथास्थानम् ।

[वा पर जन्म में] (कल्पयन्ताम्) समर्थ करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा सुकर्मी होकर इस लोक और परलोक का आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका, पुनर्जन्म विषय, पृष्ठ २०२ में में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ सरस्वती देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री ॥

सरस्वत्याराधनोपदेशः—सरस्वती की आराधना का उपदेश ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धाम-सु । जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी (सरस्वति) सरस्वती ! [विज्ञानवती वेद विद्या] (ते) अपने (दिव्येषु) दिव्य (व्रतेषु) व्रतों [नियमों] में और (धामसु) धर्मों [धारण शक्तियों] में [हमारे] (आहुतम्) दिये हुये (हव्यम्) ग्राह्य कर्म को (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) [उत्तम] प्रजा (ररास्व) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों से उत्तम विद्या प्राप्त करके सब प्रजा प्राणीमात्र को उत्तम बनावें ॥ १ ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं१

यथाकर्मफलम् (कल्पयन्ताम्) समर्थयन्तु (इह) अस्मिन् संसारे (एव) हि ॥

१—(सरस्वति) विज्ञानवति (व्रतेषु) नियमेषु (ते) तव । स्वेषु (दिव्येषु) उत्तमेषु (देवि) दिव्यगुणे (धामसु) धारणसामर्थ्येषु । धर्मसु (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) हु—यत् ग्राह्यं कर्म (आहुतम्) सम्यग् दत्तम् (प्रजाम्) मनुष्यादिरूपाम् (देवि) (ररास्व) रा दाने, शपः श्लुः । देहि (नः) अस्मभ्यम् ॥

यत्। इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ २ ॥

इदम्। ते। हव्यम्। घृत-वत्। सरस्वति। इदम्। पितृणाम्। हविः। आस्यम्। यत्। इमानि। ते। उदिता। शम्-तमानि। तेभिः। वयम्। मधु-मन्तः। स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! (इदम्) यह (यत्) जो (ते) तेरा (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (हव्यम्) ग्राह्य कर्म है, और (इदम्) यह [जो] (पितृणाम्) पिता समान माननीय विद्वानों के (आस्यम्) मुख पर रहनेवाला (हविः) ग्राह्य पदार्थ है। और [जो] (ते) तेरे (इमानि) यह सब (शंतमानि) अत्यन्त शान्ति देनेवाले (उदिता) वचन हैं, (तेभिः) उनसे (वयम्) हम (मधुमन्तः) उत्तम ज्ञानवाले (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस वेदविद्या का प्रकाश सारे संसार भर में फैलरहा है, और विद्वान् लोग जिसका अभ्यास करके उपदेश करते हैं, उस विद्या से सब मनुष्य लाभ उठावें ॥ २ ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

शिवा।। नः। शम्-तमा। भव। सु-मृडीका। सरस्वति। मा। ते। युयोम। सम्-दृशः ॥ ३ ॥

२—(इदम्) प्रत्यक्षम् (ते) तव (हव्यम्) ग्राह्यं ज्ञानम् (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (.सरस्वति) विज्ञानवति विद्ये (इदम् (पितृणाम्) पितृसममाननीयानां विदुषाम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (आस्यम्) आस्य—यत्, यलोपः। आस्ये मुखे भवम्। विधिवदभ्यस्तम् (यत्) (इमानि) (ते) तव (उदिता) वद व्यक्तायां वाचि—क्त, यजादित्वात् संप्रसारणम्। उक्तानि वचनानि (शंतमानि) अत्यर्थं सुखकराणि (तेभिः) (तैः) वचनैः (मधुमन्तः) उत्तमज्ञानयुक्ताः (स्याम) भवेम ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) कल्याणी, (शंतमा) अत्यन्त शान्ति देनेवाली और (सुमृडीका) अत्यन्त सुख देनेवाली (भव) हो। हम लोग (ते) तेरे (संदृशः) यथावत् दर्शन [यथार्थ स्वरूप के ज्ञान] से (मा युयोम) कभी अलग न होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य नित्य अभ्यास से विद्या का ठीक ठीक स्वरूप जान कर आत्मा को सदा शान्त रक्खें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१ ॥ वातादयो देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सुखाय प्रयत्नोपदेशः—सुख के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः । अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥१॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः । अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् । शम् । उषाः । नः । वि । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शम्) सुखकारी (वातः) वायु (नः) हमारे लिये (वातु) चले, (शम्) सुखकारी (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शम्) (तपतु) तपे। (अहानि) दिन (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (भवन्तु) होवें, (रात्री) रात्रि (शम् प्रति) सुख के लिये (धीयताम्) धारण की जावे (शम्)

३—(शिवा) कल्याणी (नः) अस्मभ्यम् (शंतमा) अत्यर्थं रोगनिवारिका (भव) (सुमृडीका) अत्यन्तं सुखदा (सरस्वति) (ते) तव (मा युयोम) यौतेर्लोटि शपः श्लुः। पृथग्भूता मा भवेम (संदृशः) दृशिर्—क्विप्। समीचीनाद् दर्शनात्। यथार्थस्वरूपज्ञानात् ॥

१—(शम्) सुखकरः (नः) अस्मभ्यम् (वातः) वायुः (वातु) संचरतु (शम) (नः) (तपतु) तापं करोतु (सूर्यः) (अहानि) दिनानि (शम्) सुखकराणि (भवन्तु) (नः) (शम्) सुखम् (रात्री) (प्रति) व्याप्य (धीयताम्)

सुखकारी (उषाः) उषा [प्रभात वेला] (नः) हमारे लिये (वि) विविध प्रकार (उच्छतु) चमके ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा से ऐसे काम करें जिसमें वायु, सूर्य आदि पदार्थों से प्रतिक्षण सुख मिलता रहे ॥ १ ॥

सूक्तम् ७० ॥

१-५ ॥ इन्द्रोऽग्निर्वा देवता ॥ १,२ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

शत्रुदमनोपदेशः—शत्रु के दमन का उपदेश ॥

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा । तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च । असौ । मनसा । यत् । च । वाचा । यज्ञैः । जुहोति । हविषा । यजुषा । तत् । मृत्युना । निः-ऋतिः । सम्-विदाना । पुरा । सत्यात् । आ-हुतिम् । हन्तु । अस्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह [शत्रु) (यत् किम्) जो कुछ (मनसा) मन से, (चच) और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से, (यज्ञैः) सङ्गति कर्मों से, (हविषा) भोजन से और (यजुषा) दान से (जुहोति) आहुति करता है। (मृत्युना) मृत्यु के साथ (संविदाना) मिली हुई (निर्ऋतिः)

डुधाञ् धारणपोषणयोः—कर्मणि लोट्। धियताम् (शम्) सुखप्रदा (उषाः) प्रभातवेला, (नः) अस्मभ्यम् (वि) विविधम् (उच्छतु) उच्छी विवासे विवासिता प्रकाशिता भवतु ॥

१—(यत् किम्) यत् किञ्चित् (च) (असौ) शत्रुः (मनसा) अन्तःकरणेन (यत्) (च) (वाचा) वाण्या (यज्ञैः) सङ्गतिकर्मभिः (जुहोति) आहुतिं करोति (हविषा) भोजनेन (यजुषा) दानेन (तत्) ताम् (मृत्युना) (निर्ऋतिः) अ० २। १०। १। कृच्छ्रापत्तिः। दरिद्रतादिः (संविदाना) अ

निर्ऋति, दरिद्रता आदि अलक्ष्मी (सत्यात् पुरा) सफलता से पहिले (अस्य) इसकी (तत्) उस (आहुतिम्) आहुति को (हन्तु) नाश करे ॥१॥

भावार्थ—जो शत्रु मन, वचन और कर्म से प्रजा को सताने का उपाय करे, निपुण सेनापति शीघ्र ही उसे धनहरण आदि दण्ड देकर रोक देवे ॥ १ ॥

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् । इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् संपादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातु-धानाः । निः-ऋतिः । आत् । ऊं इति । रक्षः । ते । अस्य । घ्नन्तु । अनृतेन । सत्यम् । इन्द्र-इषिताः । देवाः । आज्यम् । अस्य । मथ्नन्तु । मा । तत् । सम् । पादि । यत् । असौ । जुहोति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (आत् उ) और भी (ते) वे सब (यातुधानाः) दुःखदायी (रक्षः) राक्षस (अस्य) इस [शत्रु] की (सत्यम्) सफलता को (अनृतेन) मिथ्या आचरण के कारण (घ्नन्तु) नाश करें (इन्द्रेषिताः) इन्द्र, परम ऐश्वर्य वाले सेनापति के भेजे हुये (देवाः) विजयी शूर (अस्य) इसके (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (मथ्नन्तु) विध्वंस करें, (असौ) वह [शत्रु] (यत्) जो कुछ (जुहोति) आहुति दे, (तत्) वह (मा सम् पादि) सम्पन्न [सफल] न होवे ॥ २ ॥

२।२८।२। संगच्छमाना (पुरा) पूर्वम् (सत्यात्) कर्मसाफल्यात् (आहुतिम्) होमक्रियाम् (हन्तु) नाशयतु (अस्य) शत्रोः ॥

२—(यातुधानाः) अ० १।७।१। पीडाप्रदाः (निर्ऋतिः) म० १। कृच्छ्रापत्तिः। दरिद्रतादिः (आत् उ) अपि च (रक्षः) राक्षसः (ते) सर्वे (अस्य) शत्रोः (घ्नन्तु) नाशयन्तु (अनृतेन) मिथ्याचरणेन (सत्यम्) कर्मसाफल्यम् (इन्द्रेषिताः) इन्द्रेण परमैश्वर्यवता सेनापतिना प्रेरिताः (देवाः) विजयिनः शूराः (आज्यम्) घृतम्। तत्त्वपदार्थम् (अस्य) शत्रोः (मथ्नन्तु) नाशयन्तु (तत्) (मा सम् पादि) पद गतौ माङि लुङिरूपम्। सम्पन्नं सफलं मा भवेत् (यत्) यत् किञ्चित् (असौ) शत्रुः (जुहोति) आहुतिं करोति ॥

भावार्थ—सेना पति की नीति निपुणता से शत्रुओं में निर्धनता और परस्पर फूट पड़ जाने से शत्रु लोग निर्बल होकर आधीन हो जावें ॥ २ ॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव । आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अजिर-अधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौ-इव । आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभि-अघायति ॥३॥

भाषार्थ—(अजिराधिराजौ) शीघ्रगामी दोनों बड़े राजा [दरिद्रता और मृत्यु—म० १] (सम्पातिनौ) झपट मारने वाले (श्येनौ इव) दो श्येन वा बाज पक्षी के समान (पृतन्यतः) उस चढ़ाई करने वाले शत्रु के (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (हताम्) नाश करें (यः कः च) जो कोई (नः) हम से (अभ्यघायति) दुष्ट आचरण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—दुःखदायी शत्रुओं के नाश करने में राजा शीघ्रता करे ॥३॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते । उभौ । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् । अग्नेः । देवस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ४॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरे (अपाञ्चौ) पीछे को चढ़ाये गये

३—(अजिराधिराजौ) अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । अज गतिक्षेपणयोः—किरच् । अजिरः शीघ्रगामी । अधिराजः । राजाहः सखिभ्यष्टच् पा० ५ । ४ । ६१ । इति टच् । अधिको राजा । तौ निर्ऋतिमृत्यू (श्येनौ) अ० ३ । ३ । ३ । पक्षिविशेषौ (सम्पातिनौ) निष्पतनशीलौ (इव) यथा (आज्यम्) घृतम् । तत्त्वपदार्थम् (पृतन्यतः) अ० १ । २१ । २ । सङ्ग्रामेच्छोः (हताम्) नाशयताम् (यः) (नः) अस्मान् (कः च) कश्चित् (अभ्यघायति) अ० ५ । ६ । ६ । पापं कर्तुमिच्छति ॥

४—(अपाञ्चौ) अपाञ्चनौ पृष्ठे सम्बद्धौ (ते) तव (उभौ) द्वौ (बाहू)

(उभौ) दोनों (बाहू) भुजाओं को (अपि) और (आस्यम्) मुखको (नह्यामि) मैं बांधता हूं । (देवस्य) विजयी (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजन आदि ग्राह्यपदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को दण्ड देकर कारागार में रखकर प्रजा की रक्षा करे ॥ ४ ॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अपि । नह्यामि । ते । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।
अग्नेः । घोरस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (बाहू) दोनों भुजाओं को (अपि नह्यामि) बांधे देता हूं और (आस्यम्) मुख को (अपि) भी (नह्यामि) बन्द करता हूं । (घोरस्य) भयंकर (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजनादि ग्राह्य पदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र चार के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिगुणोपदेशः—सेनापति के गुणों का उपदेश ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

भुजौ (अपि) एव (नह्यामि) बध्नामि (आस्यम्) मुखम् (अग्नेः) तेजस्विनः सेनापतेः (देवस्य) विजयमानस्य (मन्युना) तेजसा । क्रोधेन (ते) तव (अवधिषम्) हन्तेर्लुङ् । नाशितवानस्मि (हविः) होतव्यम् । ग्राह्यं द्रव्यम् ॥

५—(घोरस्य) भयङ्करस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भङ्गुर-वतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धृषद्वर्णम्) अभयस्वभाव, (भङ्गुरवतः) नाश करने वाले कर्म से युक्त [कपटी] के (हन्तारम्) नाश करने वाले (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि) परिधी बनाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८७ । २२ ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । अव । पश्यत । इन्द्रस्य । भागम् । ऋत्वियम् ।
यदि । श्रातम् । जुहोतन । यदि । अश्रातम् । ममत्तन ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (उत् तिष्ठत) खड़े हो जाओ, (इन्द्रस्य)

१—(परिधीमहि) अ० ७ । १७ । २ । परिधिरूपेण धारयेम (त्वा) त्वाम् (अग्ने) तेजस्विन् सेनापते (पुरम्) दुर्गरूपम् (वयम्) प्रजागणाः (विप्रम्) मेधाविनम् (सहस्य) अ० ४ । ५ । १ । सहसे बलाय हित (धृषद्वर्णम्) धर्षकरूपम् (दिवे दिवे) प्रति दिनम् (हन्तारम्) नाशयितारम् (भङ्गुरवतः) भञ्जभासमिदो घुरच् । पा० ३ । २ । १६१ । भञ्जो आमर्दने—घुरच् । चजोः कु घिण्यतोः पा० ७ । ३ । ५२ । कुत्वम् । भञ्जनकर्मयुक्तस्य कपटिनः पुरुषस्य ॥

१—(उत्तिष्ठत) ऊर्ध्वं तिष्ठत । पौरुषं कुरुत (अवपश्यत) निरीक्ष-

बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य के (ऋत्वियम्) सब काल में मिलनेवाले (भागम्) ऐश्वर्य समूह को (अव पश्यत) खो जो। (यदि) जो (श्रातम्) वह परिपक्व [निश्चित] है, (जुहोतन) ग्रहण करो, (यदि) जो (अश्रातम्) अपरिपक्व [अनिश्चित] है, [उसे पक्का, निश्चित करके] (ममत्तन) तृप्त [भरपूर] करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े मनुष्यों के समान निश्चित ऐश्वर्य प्राप्त करें, और अनिश्चितकर्म को विवेक पूर्वक निश्चित करके समाप्त करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १७९। १—३ ॥

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम् । परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥

श्रातम् । हविः। ओ इति । सु । इन्द्र । प्र । याहि । जगाम । सूरः। अध्वनः। वि । मध्यम् । परि । त्वा । आसते । निधिभिः । सखायः । कुल-पाः । न । व्राज-पतिम् । चरन्तम् ॥ २ ॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (श्रातम्) परिपक्व [निश्चित] (हविः) ग्राह्यकर्म को (ओ) अवश्य (सु) भले प्रकार से (प्र याहि) प्राप्त हो, [जैसे] (सूरः) सूर्य (अध्वनः) अपने मार्ग के (मध्यम्)

ध्वम् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो मनुष्यस्य (भागम्) भग—अण्, समूहे। ऐश्वर्यसमूहम् (ऋत्वियम्) अ० ३। २०। १। सर्वेषु ऋतुषु कालेषु भवम् (यदि) सम्भावनायाम् (श्रातम्) श्रीञ् पाके—क्त । अपस्पृधेथामानृचुः०। पा० ६। १। ३६। इति श्राभावः। पक्वम्। निश्चितम् (जुहोतन) हु दाना—दानादनेषु। लोटितस्य तनप्, जुहुत। गृह्णीत (यदि) (अश्रातम्) अपक्वम्। अनिश्चितम् (ममत्तन) मद तृप्तियोगे। लोटि शपः श्लु। मदयत। तर्पयत। समाधत्त ॥

२—(श्रातम्) म० १। पक्वम्। निश्चितम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (ओ) अवश्यम् (सु) सुष्ठु (प्र याहि) प्राप्नुहि (जगाम) प्राप (सूरः) अ० ४।

मध्य भाग को (वि) विशेष करके (जगाम) प्राप्त हुआ है। (सखायः) सब मित्र (निधिभिः) अनेक निधियों के साथ (त्वा) तेरे (परि आसते) चारो ओर बैठते हैं, (न) जैसे (कुलपाः) कुल रक्षक लोग (चरन्तम्) चलते फिरते (व्राजपतिम्) घर के स्वामी को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुपहर के सूर्य के समान तेजस्वी होकर अपने कर्तव्य को पूरा करें, पुरुषार्थी मनुष्य के ही अन्य सब लोग सहायक होते हैं ॥२॥

आ॒तं म॑न्य॒ ऊध॑नि आ॒तम॒ग्नौ सुशृ॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः। माध्य॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र वज्रिन् पुरु॒कृज्जु॑षा॒णः ॥ ३ ॥

आ॒तम्। म॒न्ये॒। ऊध॑नि। आ॒तम्। अ॒ग्नौ। सु-श्रृ॑तम्। म॒न्ये॒। तत्। ऋ॒तम्। नवी॑यः। माध्य॑न्दिनस्य। सव॑नस्य। द॒ध्नः। पिब॑। इ॒न्द्र॒। व॒ज्रि॒न्। पु॒रु-कृ॒त्। जु॒षा॒णः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊधनि) [दूसरों को] चलाने वा सींचने में (आतम्) परिपक्वता [निश्चय पन], (अग्नौ) अग्नि अर्थात् पराक्रम में (आतम्) परिपकता (मन्ये) मैं मानता हूं, [जो] (ऋतम्) सत्य धर्म है, (तत्) उसको (नवीयः) अधिक स्तुतियोग्य, (सुश्टतम्) सुपरिपक [सुनिश्चित

२। ४। लोकप्रेरकः सूर्यः (अध्वनः) अ० १। ४। १। मार्गस्य (वि) विशेषेण (मध्यम्) मध्याह्नकालम् (परि) व्याप्य (त्वा) इन्द्रम् (आसते) उपविशन्ति (निधिभिः) धनकोषैः (सखायः) सुहृदः (कुलपाः) वंशरक्षकाः (न) इव (व्राजपतिम्) व्रज-गतौ—घञ्। गृहस्वामिनं प्रधानम् (चरन्तम्) गच्छन्तम्। उद्योगिनम् ॥

३—(आतम्) —म० १। भावे—क्त। परिपचनम् सुनिश्चयम् (मन्ये) अहं जाने (ऊधनि) अ० ४। ११। ४। श्वेः सम्प्रसारणं च। उ० ४। १९३। वह प्रापणे—असुन्। यद्वा। उन्दी क्लेदने—असुन्, इति ऊधस्, पृषोदरादि रूपम्। छन्दस्यपि दृश्यते। पा० ७। १। ७६। ऊधस् शब्दस्यापि अनङ् आदेशः। यद्वा। ऊधसोऽनङ्। पा० ५। ४। १३१। समासे विधीयमानोऽनङ् छन्दसि केवला-

कर्म] (मन्ये) मैं मानता हूं। (वज्रिन्) हे वज्रधारी ! (पुरुकृत्) हे अनेक कर्म करनेवाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य! (जुषाणः) प्रसन्न होकर (माध्यन्दिनस्य) मध्य दिन के (सवनस्य) काल वा स्थान की (दध्नः) धारण शक्ति का (पिब) पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा रखकर परोपकार और पराक्रम करके सूर्य के समान तेजस्वी हो ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७३ ॥

१-११ ॥ १-५ अश्विनौ; ६,७ सविता; ८, ११ अघ्न्या; ९, १० अग्निर्देवता ॥ १,४ जगती; २ बृहती; ३, ५-११ त्रिष्टुप्॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

समि॑द्धो अ॒ग्निर्वृ॑षणा र॒थी दि॒वस्त॒प्तो घ॒र्मो दु॑ह्यते वामि॒षे मधु॑ । व॒यं हि वां॑ पुरु॒दमा॑सो अश्विना॒ हवा॑महे सध॒मादे॑षु का॒रवः॑ ॥ १ ॥

सम्-इ॑द्धः। अ॒ग्निः । वृ॒ष॒णा । र॒थी । दि॒वः । त॒प्तः । घ॒र्मः ।

दपि । ऊधसि । वहने नयने । सेचने (श्रातम्) (अग्नौ) पराक्रमे (सुश्रृतम्) शृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । श्रा पाके—क्त । परिपक्वम् । निश्चितम् (मन्ये) (तत्) (ऋतम्) यत्सत्यं धर्म (नवीयः) णु स्तुतौ—अप्+ईयसुन् । स्तुत्यतरम् (माध्यन्दिनस्य) अन्तः पूर्वपदात् ठञ् । पा० ४ । ३ । ६० । मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् । इति वार्तिकम् । मध्य-दिनण्प्रत्ययः । मध्ये भवस्य । यद्वा । उत्सादिभ्योऽञ् । पा० ४ । १ । ८६ । मध्यन्दिन—अञ् । मध्यंदिने भवस्य (सवनस्य) षू प्रेरणे—ल्युट् । सवनानि स्थानानि—निरु० ५ । २५ । कालस्य स्थानस्य (दध्नः) भाषायां धाञ्कृञ्सृजनि । वा० पा० ३।२।१७१ । डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । दध धारणे—इन् । अस्थिदधि० । पा० ७ । १ । ७५ । इत्यनङ् । धारणस्य । आलम्बनस्य (पिब) पानं कुरु । स्वीकुरु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (वज्रिन्) वज्रधारक (पुरुकृत्) हे बहुकर्मन् (जुषाणः) प्रीयमाणः ॥ १६

दुह्यते । वाम् । इषे । मधु । वयम् । हि । वाम् । पुरु-दमासः । अश्विना । हवामहे । सध-मादेषु । कारवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी], (दिवः) आकाश के [मध्य] (रथी) रथवाला (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है]; (वाम्) तुम दोनों की (इषे) इच्छापूर्ति के लिये (मधु) ज्ञान (दुह्यते) परिपूर्ण किया जाता है। (पुरुदमासः) बड़े दमनशील, (कारवः) काम करने वाले (वयम्) हम लोग (वाम्) तुम दोनों को (हि) ही, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुष ! (सधमादेषु) अपने उत्सवों पर (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष विज्ञानी शिक्षकों से विविध विद्यायें प्राप्त करें। और सब लोग ऐसे विद्वान् स्त्री पुरुषों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

सम्-इद्धः । अग्निः । अश्विना । तप्तः । वाम् । घर्मः । आ । गतम् । दुह्यन्ते । नूनम् । वृषणा । इह । धेनवः । दस्रा । मदन्ति । वेधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों के लिये (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्नि) अग्नि समान तेजस्वी (तप्तः) ऐश्वर्य-

१—(समिद्धः) प्रदीप्तः (अग्निः) अग्निरिव तेजस्वी (वृषणा) पराक्रमिणौ (रथी) रथ-इनि । रथिकः (दिवः) आकाशस्य मध्ये (तप्तः) तप ऐश्वर्ये—क्त । ऐश्वर्ययुक्तः (घर्मः) अ० ४ । १ । २ । प्रकाशमान आचार्यः (दुह्यते) प्रपूर्यते (वाम्) युवयोः (इषे) इच्छापूर्तये (मधु) ज्ञानम् (वयम्) (हि) अवधारणे (वाम्) युवाम् (पुरुदमासः) असुगागमः । बहुदमनशीलाः (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । कर्मसु व्यापकौ स्त्रीपुरुषौ (हवामहे) आह्वयामः (सधमादेषु) उत्सवेषु (कारवः) उ० १ । १ । करोतेः—उण् । कर्मकर्तारः ॥

२—(आ गतम्) आगच्छतम् (दुह्यन्ते) प्रपूर्यन्ते (नूनम्) निश्चयेन (इह) अस्मिन् समाजे (धेनवः) अ० ३ । १० । १ । धेनुर्वाङ्नाम-निघ०

युक्त, (घर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है], (आ गतम्) तुम दोनों आवो। (वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! और (दस्रा) हे दर्शनीयो वा रोगनाशको ! (धेनवः) वेदवाणियां (नूनम्) अवश्य (इह) यहां पर (दुह्यन्ते) दुही जाती हैं, और (वेधसः) बुद्धिमान् लोग (मदन्ति) आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष वेद विद्या द्वारा विज्ञानी होकर कीर्तिमान् होते हैं, बुद्धिमान् उनसे उपदेश पाकर लाभ उठाते हैं ॥ २ ॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः। तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहा-कृतः। शुचिः। देवेषु। यज्ञः। यः। अश्विनोः। चमसः। देव-पानः। तम्। ऊं इति। विश्वे। अमृतासः। जुषाणाः। गन्धर्वस्य। प्रति। आस्ना। रिहन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवेषु) उत्तम गुणों में वर्तमान; (अश्विनोः) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों का (यः) जो (स्वाहाकृतः) सुन्दरवाणी से सिद्ध किया गया, (शुचिः) पवित्र (देवपानः) विद्वानों से रक्षा योग्य (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (चमसः) मेघ [के समान उपकारी] है। (तम् उ) उसी [उत्तम व्यवहार को (जुषाणः] सेवन करते हुये (विश्वे) सब (अमृतासः) अमर [निरा-

---

१। ११। तर्पयित्र्यो वेदवाचः (दस्रा) स्फायीतञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। दसु उपक्षये, दस दर्शने-रक्। रोगनिवारकौ। दर्शनीयौ—निरु० ६। २६ (मदन्ति) हृष्यन्ति (वेधसः) अ० १। ११। १। विध विधाने—असुन्। मेधाविनः—निघ० ३। १५। अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(स्वाहाकृतः) अ० २। १६। १। सुवाचा निष्पन्नः (शुचिः) पवित्रः (देवेषु) दिव्यगुणेषु वर्तमानयोः (यज्ञः) पूजनीयो व्यवहारः (अश्विनोः) उत्तमस्त्रीपुरुषयोः (चमसः) अ० ६। ४७। ३। मेघः—निघ० १। १०। मेघ इवोपकारी (देवपानः) विद्वद्भिः पानं रक्षणं यस्य सः (तम्) यज्ञम् (उ) एव (विश्वे) सर्वे (अमृतासः) अमराः। निरलसाः (ज्जुषाणाः) सेवमानाः। प्रीय-

लसी] लोग (गन्धर्वस्य) पृथिवी रक्षक सूर्य के (आस्ना) मुख से [महा तेजस्वी होकर] (प्रति) प्रत्यक्ष (रिहन्ति) पूजते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुषों के उत्तम व्यवहारों का अनुकरण करके पुरुषार्थी लोग उनको सराहते हैं ॥ ३ ॥

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम् । माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥

यत् । उस्रियासु । आ-हुतम् । घृतम् । पयः । अयम् । सः । वाम् । अश्विना । भागः । आ । गतम् । माध्वी इति । धर्तारा । विदथस्य । सत्पती इति सत्-पती । तप्तम् । घर्मम् । पिबतम् । रोचने । दिवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (उस्रियासु) गौवों में (घृतम्) घृत और (पयः) दूध (आहुतम्) दिया गया है, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (आ गतम्) आवो, (अयम् सः) वही (वाम्) तुम दोनों का (भागः) भाग [सेवनीय व्यवहार] है । (माध्वी) हे मधुविद्या [वेद विद्या] के जानने वाले, (विदथस्य) जानने योग्य कर्म के (धर्तारा) धारण करने वाले, (सत्पती) सत्पुरुषों के रक्षा करने वाले ! तुम दोनों (दिवः) सूर्य के (रोचने)

माणाः (गन्धर्वस्य) अ० २ । १ । २ । भूमिधारकस्य सूर्यस्य (प्रति) प्रत्यक्षम् (आस्ना) मुखेन । प्रकाशेनेत्यर्थः (रिहन्ति) अर्चन्ति—निघ० ३ । १४ ॥

४—(यत्) यथा (उस्रियासु) अ० ४ । २६ । ५ । गोषु (आहुतम्) सम्यग् दत्तम् (घृतम्) (पयः) दुग्धम् (अयम्) (सः) (वाम्) युवयोः (अश्विना) उत्तमस्त्रीपुरुषौ (भागः) सेवनीयो व्यवहारः (आ गतम्) आगच्छतम् (माध्वी) मधु+ई गतौ—क्विप्, छान्दसो दीर्घः । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मधु मधुविद्यां वेदविद्यामीयेते जानीतो मध्व्यौ मधुविद्यावेदितारौ (धर्तारा) धारकौ (विदथस्य) अ० १ । १३ । ४ । ज्ञातव्यस्य कर्मणः (सत्पती) सज्जनानां पालकौ (तप्तम्)

प्रकाश में (तप्तम्) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मम्) प्रकाशमान [धर्म] का (पिबतम्) पान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे गौ से घृत दुग्ध आदि सार पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष संसार के सब पदार्थों से तत्त्व ज्ञान प्राप्त करें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म विद्या का प्रकाश करके आनन्दित होवें ॥ ४ ॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्। मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥

तप्तः। वाम्। घर्मः। नक्षतु। स्व-होता। प्र। वाम्। अध्वर्युः। चरतु। पयस्वान्। मधोः। दुग्धस्य। अश्विना। तनायाः। वीतम्। पातम्। पयसः। उस्रियायाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों को (स्वहोता) धन देनेवाला, (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मः) प्रकाशमान धर्म (नक्षतु) व्याप्त होवे, (पयस्वान्) ज्ञानवान् (अध्वर्युः) अहिंसा कर्म चाहनेवाला [वह धर्म] (वाम्) तुम दोनों के लिये (प्रचरत्) प्रचरित होवे। तुम दोनों (तनायाः) उपकारी विद्या के (दुग्धस्य) परिपूर्ण (मधोः) मधु-

---

ऐश्वर्ययुक्तम् (घर्मम्) प्रकाशमानं धर्मम् (पिबतम्) स्वीकुरुतम् (रोचने) प्रकाशे (दिवः) सूर्यस्य ॥

५—(तप्तः) ऐश्वर्ययुक्तः (वाम्) युवाम् (घर्मः) प्रकाशमानो धर्मः (नक्षतु) व्याप्नोतु—निघ० २। १८। (स्वहोता) धनदाता (वाम्) युवाभ्याम् (अध्वर्युः) मृगय्वादयश्च। उ० १, ३७। अध्वर+या प्रापणे—कु। अथवा सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८ अध्वर-क्यच्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७० उप्रत्ययः, अलोपः। अहिंसाप्रापकः। अहिंसामिच्छुः। याजकः (प्रचरतु) प्रचरितो भवति (पयस्वान्) ज्ञानवान् (मधोः) मधुनः। मधुविद्यायाः (दुग्धस्य) प्रपूरितस्य (अश्विना) हे उत्तमस्त्रीपुरुषौ (तनायाः) तनु

विद्या [ईश्वरज्ञान] की (वीतम्) प्राप्ति करो और (पातम्) रक्षा करो, [जैसे] (उस्त्रियायाः) गऊ के (पयसः) दूध की [प्राप्ति और रक्षा करते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि वे धर्मनिष्ठ होकर विद्या प्राप्त करके सर्वहितकारी कामों में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ५ ॥

उप॑ द्रव॒ पय॑सा गोधुगो॒षमा घ॒र्मे सि॑ञ्च॒ पय॑ उ॒स्रिया॑याः । वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योऽनुप्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥ ६ ॥

उप॑ । द्र॒व । पय॑सा । गो॒-धु॒क् । ओ॒षम् । आ । घ॒र्मे । सि॒ञ्च॒ । पय॑ः । उ॒स्रिया॑याः । वि । नाक॑म् । अ॒ख्य॒त् । स॒वि॒ता । वरे॑ण्यः । अ॒नु॒-प्र॒याण॑म् । उ॒षस॑ः । वि । रा॒ज॒ति॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गोधुक्) हे विद्या के दोहने वाले विद्वान्! (पयसा) विज्ञान से (ओषम्) अन्धकार दाहक व्यवहार को (घर्मे) प्रकाशमान यज्ञ के बीच (उप) आदर से (द्रव) प्राप्त हो, और (आ) सब ओर से (सिञ्च) सींच [जैसे] (उस्त्रियायाः) गऊ के (पयः) दूध को। (वरेण्यः) श्रेष्ठ (सविता) सब के चलानेवाले परमेश्वर ने (नाकम्) मोक्षसुख का (वि अख्यत्) व्याख्यान किया है, वही (उषसः) अन्धकार नाशक उषा के (अनुप्रयाणम्) निरन्तर गमन का (वि) विशेष करके (राजति) राजा होता है ॥ २ ॥

विस्तारे, तन उपकारे—पचाद्यच्, टाप्। उपकारिकाया विद्यायाः (वीतम्) प्राप्तिं कुरुतम् (पातम्) रक्षां कुरुतम् (पयसः) दुग्धस्य (उस्त्रियायाः) धेनोः॥

६—(उप) सादरम् (द्रव) गच्छ। प्राप्नुहि (पयसा) ज्ञानेन (गोधुक्) विद्यादोहकः (ओषम्) उष दाहे—घञ्। अन्धकारदाहकं व्यवहारम् (आ) समन्तात् (घर्मे) प्रकाशमाने यज्ञे—निघ० ३। १७ (सिञ्च) वर्धय (पयः) दुग्धम् (उस्त्रियायाः) गोः (नाकम्) मोक्षसुखम् (वि अख्यत्) ख्या प्रकथने—लुङ्। अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्। पा० ३। १। ५२। इति च्लेरङ्। व्याख्यातवान् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (वरेण्यः) श्रेष्ठः (अनुप्रयाणम्) निरन्तरप्रगमनम् (उषसः) अन्धकारदाहकस्य प्रभातप्रकाशस्य (वि) विशेषेण (राजति) राजयति। शास्ति ॥

भावार्थ—मनुष्य गऊ के दूध के समान तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रकाश करे। जैसे सूर्य का प्रकाश लगातार सब देशों पर चला आता है, उसी प्रकार परमात्मा ने सब के लिये मोक्ष का उपदेश वेद द्वारा किया है ॥ ६ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॑ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ७ ॥

उप॑। ह्व॒ये॒। सु॒ऽदुघा॑म्। धे॒नुम्। ए॒ताम्। सु॒ऽहस्तः॑। गो॒ऽधुक्। उ॒त। दो॒ह॒त्। ए॒ना॒म्। श्रेष्ठ॑म्। स॒वम्। स॒वि॒ता। सा॒वि॒ष॒त्। नः॒। अ॒भिऽइ॑द्धः। घ॒र्मः। तत्। ऊं॒ इति॑। सु। प्र। वो॒च॒त् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सुदुघाम्) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करनेवाली (पताम्) इस (धेनुम्) विद्या को (उप ह्वये) मैं स्वीकार करता हूं, (उत्) वैसेही (सुहस्तः) हस्तक्रिया में चतुर (गोधुक्) विद्या को दोहने वाला [विद्वान्] (पनाम्) इस [विद्या] को (दोहत्) दुहे। (सविता) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ (सवम्) ऐश्वर्य को (नः) हमारे लिये (साविषत्) उत्पन्न करे। (अभीद्धः) सब ओर प्रकाशमान (घर्मः) प्रतापी परमेश्वर ने (तत् उ) उस सब को (सु) अच्छे प्रकार (प्र वोचत्) उपदेश किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य कल्याणी वेदवाणी का पठन पाठन करके ऐश्वर्य-प्राप्त करें। जिस प्रकार परमेश्वर ने इसका उपदेश किया है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। २६।

७—(उप) सादरम् (ह्वये) स्वीकरोमि (सुदुघाम्) दुहः कब्घश्च। पा० ३। २। ७०। सु+दुह प्रपूरणे—कप्, हस्य घः। सुष्ठु कामप्रपूरिकाम् (धेनुम्) वाचम्। विद्याम्—म० २ (पताम्) (सुहस्तः) अत्यन्तहस्तक्रिया-कुशलः (गोधुक्) विद्यादोहकः (उत्) (दोहत्) लेटिरूपम्। दोग्धु (पनाम्) वाचम् (श्रेष्ठम्) (सवम्) ऐश्वर्यम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (साविषत्) अ० ६। १। ३। उत्पादयेत् (नः) अस्मभ्यम् (अभीद्धः) सर्वतः दीप्तः (घर्मः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (तत्) पूर्वोक्तं सर्वम् (उ) (सु) (प्र) (वोचत्) ब्रूञ्—लुङ्, अडभावश्छान्दसः। उपदिष्टवान् ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन् । दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ८ ॥

हिङ्-कृण्वती । वसु-पत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा । नि-आगन् । दुहाम् । अश्वि-भ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् । महते । सौभगाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हिङ्कृण्वती) गति वा वृद्धि करने वाली, (वसुपत्नी) धन की रक्षा करने वाली, (वसूनाम्) श्रेष्ठों के बीच (वत्सम्) उपदेशक पुरुष को (इच्छन्ती) चाहने वाली [वेदवाणी] (मनसा) विज्ञान के साथ (न्यागन्) निश्चय करके प्राप्त हुई है। (इयम्) यह (अघ्न्या) हिंसा न न करने वाली विद्या (अश्विभ्याम्) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों के लिये; (पयः) विज्ञान को (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (सा) वही [विद्या] (महते) अत्यन्त (सौभाग्य) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (वर्धताम्) बढ़े ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह जो वेदवाणी संसार का उपकार करती है, उसको सब स्त्री पुरुष प्राप्त होकर यथावत् वृद्धि करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । २७ ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि

८—(हिङ्कृण्वती) हि गतिवृद्ध्योः—डि । गतिं वृद्धिं वा कुर्वती (वसुपत्नी) धनानां पालिका (वसूनाम्) श्रेष्ठानां मध्ये (वत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । वद कथने—सप्रत्ययः । उपदेशकम् (इच्छन्ती) कामयमाना (मनसा) विज्ञानेन (न्यागन्) गमेर्लुङि रूपम् । निश्चयेनागतवती (दुहाम्) दुहु लोटि, आत्मने पदम्, तलोपः । दुग्धाम् । प्रपूरयेत् (अश्विभ्याम्) स्त्रीपुरुषयोर्हिताय (पयः) विज्ञानम् (अघ्न्या) अ० ३ । ३० । १ । अहिंसिका वेदविद्या (इयम्) प्रसिद्धा (सा) (वर्धताम्) समृद्धा भवतु (महते) प्रभूताय (सौभगाय) शोभनैश्वर्याणां भावाय ॥

विद्वान् । विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्यं शत्रूयतामा भंरा भोजनानि ॥ ९ ॥

जुष्टः । दमूनाः । अतिथिः । दुरोणे । इमम् । नः । यज्ञम् । उपं । याहि । विद्वान् । विश्वाः । अग्ने । अभि-युजः । वि-हत्यं । शत्रु-यताम् । आ । भर । भोजनानि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे बिजुली सदृश उत्तम गुण वाले राजन् ! (जुष्टः) सेवा किया गया वा प्रसन्न किया गया, (दमूनाः) शम दम आदि से युक्त, (अतिथिः) सदा गतिशील [महापुरुषार्थी], (विद्वान्) विद्वान् तू (नः) हमारे (दुरोणे) घर में वर्तमान (इमम्) इस (यज्ञम्) उत्तम दान को (उप याहि) सादर प्राप्त हो। और (शत्रुयताम्) शत्रु समान आचरण करने वालों की (विश्वाः) सब (अभियुजः) चढ़ाई करतीहुई सेनाओं को (विहत्य) अनेक प्रकार से मार कर (भोजनानि) पालन साधनों को (आ) सब ओर से (भर) धारण कर ॥ ९ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण धर्मात्मा पराक्रमी राजा को सदा प्रसन्न रक्खें, जिससे वह शत्रुओं को जीत कर प्रजापालन करता रहे ॥ ९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ४ । ५ ॥

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तवं द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु । सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥ १० ॥

९—(जुष्टः) सेवितः प्रीतो वा (दमूनाः) अ० ७ । १४ । ४ । शमदमादियुक्तः (अतिथिः) अ० ७ । २१ । १ । अतनशीलः । महापुरुषार्थी (दुरोणे) अ० ५ । २ । ६ । गृहे वर्तमानम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) उत्तमपदार्थदानम् (उप) (याहि) (विद्वान्) (विश्वाः) समग्राः (अग्ने) विद्युदिव शुभगुणाढ्य राजन् (अभियुजः) अभियोक्त्रीः परसेनाः (विहत्य) विविधं हत्वा (शत्रुयताम्) अ० ३ । १ । ३ । शत्रुवदाचरताम् (आ) समन्तात् (भर) धर (भोजनानि) पालनसाधनानि ॥

अग्ने । शर्ध । महते । सौभगाय । तव । द्युम्नानि । उत्-तमानि । सन्तु । सम् । जाः-पत्यम् । सु-यमम् । आ । कृणुष्व । शत्रु-यताम् । अभि । तिष्ठ । महांसि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(शर्ध) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् राजन्! (महते) हमारे बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (तव) तेरे (द्युम्नानि) यश वा धन (उत्तमानि) अति ऊंचे (सन्तु) होवें। (जास्पत्यम्) [हमारे] पत्नी-पतिधर्म [गृहस्थ आश्रम] को (सुयमम्) सुन्दर नियम युक्त (सम् आ) बहुत ही भले प्रकार (कृणुष्व) कर, (शत्रुयताम्) शत्रुसमान आचरण करते वालों के (महांसि) बलों को (अभि तिष्ठ) परास्त कर दे ॥ १० ॥

भावार्थ—संयमी पुरुषार्थी स्त्री पुरुष बड़ा ऐश्वर्य, कीर्ति, बल प्राप्त करके शत्रुओं को जीत कर प्रजा पालन करें ॥ १० ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । २८ । ३ । और यजु०—३३ । १२ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ११ ॥

सुयवस-अत् । भग-वती । हि । भूयाः । अध । वयम् । भग-वन्तः । स्याम । अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्व-दानीम् । पिब । शुद्धम् । उदकम् । आ-चरन्ती ॥ ११ ॥

१०—(अग्ने) विद्वन् राजन् (शर्ध) शृधु उन्दे उत्साहे वा—पचाद्यच्। बलवन्। शर्धः=बलम्—निघ० २ । ६ । (महते) प्रभूताय (सौभगाय) शोभनैश्वर्याय (तव) (द्युम्नानि) अ० ६ । ३५ । ३ । धनानि यशांसि वा (उत्तमानि) उद्गततमानि । उन्नततमानि (सन्तु) (सम्) सम्यक् (जास्पत्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । जायापति—यक्, छान्दसो याशब्दलोपः सुडागमश्च । जायापत्यम् । पत्नीपतिधर्म (सुयमम्) ईषद्दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । इति खल् । जितेन्द्रियत्वादिनियमयुक्तम् (आ) समन्तात् (कृणुष्व) कुरु (शत्रुयताम्) शत्रुवदाचरताम् (अभि तिष्ठ) आक्रमस्व । अभिभव (महांसि) तेजांसि । बलानि ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा, सब स्त्री पुरुषो !] (सुयवसात्) सुन्दर अन्न आदि भोगने वाली और (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली (हि) ही (भूयाः) हो, (अथ) फिर (वयम्) हमलोग (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें। (अघ्न्ये) हे हिंसा न करने वाली प्रजा ! (विश्वदानीम्) समस्त दानों की क्रिया का (आचरन्ती) आचरण करती हुई तू [हिंसा न करने वाली गौ के समान] (तृणम्) घास [अल्प मूल्य पदार्थ] को (अद्धि) खा और (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिब) पी ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अल्प मूल्य घास खाकर और शुद्ध जल पीकर दूध घी आदि देकर उपकार करती है, वैसे ही मनुष्य थोड़े व्यय से शुद्ध आहार विहार करके संसार का सदा उपकार करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। ४० ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१-४ ॥ १, २ वैद्यः; ३ त्वष्टा; ४ जातवेदा देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्; ४ त्रिष्टुप्; ॥

शारीरिकमानसिकरोगनिवारणोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग हटाने का उपदेश ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम। मुनेर्दे-

११—(सुयवसात्) अदोऽनन्ने। पा० ३। २। ६८। सुयवस+अद भक्षणे-विट्। शोभनानि यवसानि अन्नादीनि अदन्ती प्रजा (भगवती) बह्वैश्वर्य-युक्ता (हि) अवधारणे (भूयाः) (अध) अथ। अनन्तरम् (भगवन्तः) बह्वैश्वर्ययुक्ताः (स्याम) भवेम (अद्धि) अशान (तृणम्) घासम् (अघ्न्ये) अहिंसिके (विश्वदानीम्) दानीं च। पा० ५। ३। १८। विश्व—दानीं प्रत्ययः सप्तम्यर्थे। विश्वदानीम्=सर्वदा—निरु० ११। ४४। विश्वानि समग्राणि दानानि यस्यास्तां क्रियाम्, यथा दयानन्दभाष्ये ऋक्० १। १६४। ४०। (पिब) (शुद्धम्) पवित्रम् (उदकम्) जलम् (आचरन्ती) अनुतिष्ठन्ती ॥

वस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अप-चिताम्। लोहिनीनाम्। कृष्णा। माता। इति। शुश्रुम। मुनेः। देवस्य। मूलेन। सर्वाः। विध्यामि। ताः। अहम् ॥१॥

भाषार्थ—(लोहिनीनाम्) रक्तवर्ण (अपचिताम्) गण्डमाला आदि रोगों की (माता) माता (कृष्णा) काले रंग वाली है, (इति) यह (शुश्रुम) हमने सुना है। (अहम्) मैं (मुनेः) मननशील (देवस्य) विद्वान् वैद्य के (मूलेन) मूल ग्रन्थ से (ताः सर्वाः) उन सब को (विध्यामि) छेदता हूं ॥१॥

भावार्थ—गण्डमाला आदि चर्म रोगों में पहिले काले धब्बे पड़ते, फिर रक्त वर्ण होजाते हैं, सद्वैद्य बड़े बड़े वैद्यों के मूल ग्रन्थों से कारण समझकर उनका छेदन आदि करे, इसी प्रकार मनुष्य आत्म दोषों को हटावे ॥ १ ॥

(मूल) ओषधि विशेष भी है जिसे पीपलामूल कहते हैं ॥

इस सूक्त का मिलान अ० सू० ६। ८३ से करो ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्। इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

विध्यामि। आसाम्। प्रथमाम्। विध्यामि। उत। मध्यमाम्। इदम्। जघन्याम्। आसाम्। आ। छिनद्मि। स्तुकाम्-इव ॥२॥

भाषार्थ—(आसाम्) इन [गण्डमालाओं] में से (प्रथमाम्) पहिली

१—(अपचिताम्) अ० ६। ८३। १। गण्डमालादिरोगाणाम् (लोहिनीनाम्) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः। पा० ४। १। ३९। लोहित-ङीप्, तस्य च नः। रोहिणीनां रक्तवर्णानाम् (कृष्णा) कृष्णवर्णा (माता) जननी। उत्पादयित्री (इति) एवम् (शुश्रुम) लिटि रूपम्। वयं श्रुतवन्तः (मुनेः) मनेरुच्च। उ० ४। १२३। मनु अवबोधने—इन्। मननशीलस्य (देवस्य) विदुषो वैद्यस्य (मूलेन) मूलग्रन्थेन। निदानेन (सर्वाः) समस्ताः (विध्यामि) व्यध ताडने। विदारयामि (ताः) अपचितः (अहम्) वैद्यः ॥

२—(विध्यामि) छिनद्मि विदारयामि (आसाम्) अपचितां मध्ये (प्रथ-

को (विध्यामि) छेदता हूं, (उत) और (मध्यमाम्) बीचवाली को (विध्यामि) तोड़ता हूं। (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) नीचे वाली को (इदम्) अभी (आ) सब ओर (छिनद्मि) मैं छिन्न भिन्न करता हूं (इव) जैसे (स्तुकाम्) उनके बाल को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य रोगों के नाश करने में बहुत शीघ्रता करें ॥ २ ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्। अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेण । अहम् । वचसा । वि । ते । ईर्ष्याम् । अमीमदम् । अथो इति । यः । मन्युः । ते । पते । तम् । ऊं इति । ते । शमयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] त्वाष्ट्रेण) सब के बनानेवाले परमेश्वर के (वचसा) वचन से (अहम्) मैंने (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (वि अमीमदम्) मद रहित करदिया है (अथो) और (पते) हे स्वामिन् ! [परमेश्वर !] (यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध है, (ते) तेरे (तम्) उसको (उ) अवश्य (शमयामसि) हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा की जाती है, वैसे ही वेदादि शास्त्रों द्वारा मानसिक रोगों की निवृत्ति करनी चाहिये, जिससे परमेश्वर कभी क्रोध न करे ॥ ३ ॥

माम्) मुख्याम् (विध्यामि) (उत) (मध्यमाम्) (इदम्) इदानीम् (जघन्याम्) हन यङ्लुक्-अच्। पृषोदरादिरूपम् यद्वा। जघन-यत्, इवाथू। अधमाम् (आसाम्) (आ) समन्तात् (छिनद्मि) भिनद्मि (स्तुकाम्) ष्टुच प्रसादे—क, टाप्, कुत्वम्। ऊर्णास्तुकाम्। रोमस्तोकमात्राम् (इव) यथा ॥

३—(त्वाष्ट्रेण) अ० २। ५। ६। त्वष्टृ—अण्। सर्वनिर्मातुः परमेश्वरस्य सम्बन्धिना (अहम्) जीवः (वचसा) वचनेन (ते) तव (ईर्ष्याम्) अ० ६। १८। १। परसम्पत्त्यसहनम्। मत्सरम् (वि अमीमदम्) विगतमदां कृतवानस्मि (अथो) अपि च (यः) (मन्युः) क्रोधः (ते) तव (पते) स्वामिन्। परमेश्वर (तम्) (उ) अवधारणे (ते) (शमयामसि) शमयामः। शान्तं कुर्मः ॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥४॥

व्रतेन । त्वम् । व्रत-पते । सम्-अक्तः । विश्वाहा । सु-मनाः । दीदिहि । इह । तम् । त्वा । वयम् । जात-वेदः । सम्-इद्धम् । प्रजा-वन्तः । उप । सदेम । सर्वे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(व्रतपते) हे उत्तम नियमों के रक्षक परमेश्वर ! [वा विद्वान् !] (त्वम्) तू (व्रतेन) उत्तम नियम से (समक्तः) संगति करता हुआ (सुमनाः) प्रसन्न चित्त होकर (विश्वाहा) सब दिन (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध बुद्धि वा धन वाले ! (प्रजावन्तः) उत्तम प्रजाओं वाले (सर्वे वयम्) हम सब लोग (समिद्धम्) अच्छी भांति प्रकाशमान (तम् त्वा) उस तुझको (उप सदेम) पूजा करते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के वेदोक्त धर्मों पर चलकर सामाजिक उन्नति करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-२ ॥ प्रजा देवताः ॥ १ त्रिष्टुप्; २ मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

सामाजिकोन्नत्युपदेशः—सामाकि उन्नति का उपदेश ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिब-

४—(व्रतेन) अ० २ । ३० । २ । वरणीयेन नियमेन (त्वम्) (व्रतपते) सत्कर्मणां पालक परमेश्वर विद्वन् वा (समक्तः) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । संगतः (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति वलोपः दीप्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (तम्) (त्वा) (वयम्) (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धप्रज्ञ । प्रसिद्धधन (समिद्धम्) सम्यग्दीप्तम् (प्रजावन्तः) प्रशस्तपुत्रपौत्रभृत्यादिसहिताः (उप सदेम) षद्लृ विशरणगत्यादिषु—लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इत्यङ् । उपसद्यास्म । परिचर्यास्म (सर्वे) ॥

न्तीः । मा व॑ स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य॑ हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजा-वतीः । सु-यवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सु-प्रपाने । पिबन्तीः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघ-शंसः । परि । वः । रुद्रस्य॑ । हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य प्रजाओ !] (प्रजावतीः) उत्तम सन्तान वाली, (सुयवसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतने वाला, डाकू उचक्का आदि [वश में करे], (रुद्रस्य) पीड़ानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यायें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें, जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥१[1]॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । २१ । ७ ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः । उप॑ मा देवीर्देवेभिरेत॑ । इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समु॑क्षत ॥ २

पद-ज्ञाः । स्थ । रमतयः । सम् । हिताः । विश्व-नाम्नीः । उप॑ । मा । देवीः । देवेभिः । आ । इत । इमम् । गो-स्थम् । इदम् । सदः । घृतेन॑ । अस्मान् । सम् । उक्षत ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ ! तुम] (पदज्ञाः) पगदंडी [वा अपने पद] को

१—शब्दार्थो यथा, अ० ४ । २१ । ७ ॥

२—(पदज्ञाः) पदचिह्नस्य स्थानस्य वा ज्ञात्र्यः (स्थ) भवथ (रम-

जानने वाली, (रमतयः) क्रीड़ा करने वाली, (संहिताः) यथावत् हित करने वाली वा परस्पर मिली हुई और (विश्वनाम्नीः) व्याप्तनामवाली (स्थ) हो। (देवीः) हे दिव्य गुण वाली देवियो ! (देवेभिः) उत्तम गुणों के साथ (मा) मुझ को (उप) समीप से (आ इत) प्राप्त होवो। (इमम्) इस (गोष्ठम्) वाचनालय को, (इदम्) इस (सदः) बैठक को और (अस्मान्) हमको (घृतेन) प्रकाश से (सम्) यथावत् (उक्षत) बढ़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के मार्ग और अपनी स्थिति को जान कर परस्पर हित करके सामाजिक उन्नति करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-६ ॥ १-५ वैद्यः; ६ इन्द्रो देवता ॥ १,३-५ अनुष्टुप्; २ द्विपदा जगती; ६ त्रिष्टुप् ॥

१-५ रोगनाशस्य, ६ मनुष्यधर्मस्योपदेशः। १-५ रोग नाश और ६ मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः। सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

आ। सु-स्रसः। सु-स्रसः। असतीभ्यः। असत्-तराः। सेहोः। अरस-तराः। लवणात्। वि-क्लेदीयसीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आ) सब ओर से (सुस्रसः) बहुत बहनेवाले पदार्थ से

तयः) अ० ६। ७३। २। रमयित्र्यः (संहिताः) सम्+धा धारणे वा हि गतौ-क्त। सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यासां ताः परस्परसंगता वा (विश्वनाम्नीः) वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। व्याप्तनामधेयाः (उप) समीपे (मा) माम् (देवीः) देव्यः। दिव्यगुणाः (देवेभिः) उत्तमगुणैः (आ इत) आगच्छत (इमम्) (गोष्ठम्) वाचस्तिष्ठन्त्यत्र। वाचनालयम् (इदम्) (सदः) सदनम् (घृतेन) प्रकाशेन (अस्मान्) (सम्) सम्यक् (उक्षत) उक्षितः, महन्नाम—निघ० ३।३। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२।६। वर्धयत ॥

१—(आ) समन्तात् (सुस्रसः) सु+स्रसु पतने—क्विप्। अनिदितां

(सुस्रसः) बहुत बहनेवाली और (असतीभ्यः) बहुत बुरी [पीड़ाओं] से (असत्तराः) अधिक बुरी, (सेहोः) सेहु [नीरस वस्तु विशेष] से (अरसतराः) नीरस [शुष्कस्वभाव] और (लवणात्) लवण से (विक्लेदीयसीः) अधिक गल जानेवाली [गण्डमालाओं] को [नष्ट करदिया है—म० ३] ॥ १

भावार्थ—मन्त्र १ तथा २ का सम्बन्ध (निर्हाः) "नष्ट करदिया है" क्रिया मन्त्र ३ के साथ है। जैसे गंडमालायें कभी सूख जाती, कभी हरी हो जाती हैं, ऐसी ही कुवासनायें कभी निर्बल और कभी सबल हो जाती हैं ॥ १ ॥

या ग्रैव्या॑ अप॒चितोऽथो॒ या उ॑पप॒क्ष्याः॑। वि॒जाम्नि॒ या अ॑प॒चितः॑ स्वयं॒स्रसः॑ ॥ २ ॥

याः। ग्रैव्याः॑। अ॒प॒-चितः॑। अथो॒ इति॑। याः। उ॒प॒-प॒क्ष्याः॑। वि॒-जाम्नि॑। याः। अ॒प॒-चितः॑। स्व॒यम्-स्रसः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ग्रैव्याः) गले पर (अथो) और (याः) जो (उपपक्ष्याः) पक्खों [कन्धों] के जोड़ों पर (अपचितः) गण्डमालायें [फुड़ियां] हैं। और (याः) जो (स्वयंस्रसः) अपने आप बहने वाली (अपचितः)

हल उपधाया क्ङिति। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। अतिस्रवणशीलात्पदार्थात् (सुस्रसः) अत्यर्थं स्रवणशीलाः (असतीभ्यः) दुष्टाभ्यः (असत्तराः) अधिकदुष्टाः (सेहोः) भृमृशीङ्० । उ० १। ७। षिञ् बन्धने—उ, हुगागमः। सेहुनामनिःसारपदार्थविशेषात् (अरसतराः) अधिकशुष्काः (लवणात्) नन्दिग्रहिपचादि०। पा० ३। १। १३४। लूञ् छेदने—ल्यु। सैन्धवादिक्षाररसभेदात् (विक्लेदीयसीः) क्लिदू आर्द्रीभावे—घञ्, विविधः क्लेदो यासां ता विक्लेदाः। तत ईयसुन्, ङीप्। शसि रूपम्। अधिकस्रवणशीलाः ॥

२—(याः) (ग्रैव्याः) अ० ६। २५। २। ग्रीवासु गलप्रदेशेषु भवा नाड्यः (अपचितः) अ० ६। ८३। १। गंडमालादिपीडाः (याः) (उपपक्ष्याः) उपपक्ष—यत्। उपपक्षे स्कन्धसन्धौ भवाः (विजाम्नि) विविधं जायते विजामा। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। वि+जनी प्रादुर्भावे—मनिन्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। आत्वम्। गुह्यप्रदेशे

फुंसियां (विजाम्नि) गुह्य स्थान पर हैं [उनको नष्ट दिया है—म० २] ॥ २ ॥

भावार्थ—दुःखदायी रोगों को वैद्य लोग नष्ट करें ॥ २ ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

यः । कीकसाः । प्र-शृणाति । तलीद्यम् । अव-तिष्ठति । निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि । श्रितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षय रोग] (कीकसाः) हंसली की हड्डियों को (प्रशृणाति) तोड़ देता है और (तलीद्यम्) हथेली और तलवे के चर्म पर (अवतिष्ठति) जम जाता है । (च) और (यः) जो (कः) कोई (ककुदि) शिर में (श्रितः) ठहरा हुआ है, (तम्) उस (सर्वम्) सब (जायान्यम्) क्षय रोग को [उस वैद्य ने] (निः) निरन्तर (हाः) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य रोगों के लक्षण जान कर उचित चिकित्सा करे ॥ ३ ॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

पक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् । तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सु-क्षतस्य । च ॥ ४ ॥

(याः) (अपचितः) (स्वयंस्रसः)—म० १ । व्रणरूपेण स्वयं स्रवणशीलाः ॥

३—(यः) जायान्यः (कीकसाः) अ० २ । ३३ । २ । जत्रुवक्षोगतास्थीनि (प्रशृणाति) प्रच्छिनत्ति (तलीद्यम्) हसृरुहि० । उ० १ । ९७ । तल प्रतिष्ठायाम्—इतिप्रत्ययः, दीर्घश्छान्दसः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । यत् । तलिति तले करतलपदतले भवं चर्म (अवतिष्ठति) आश्रयति (निः) निरन्तरम् (हाः) अ० ६ । १०३ । २ । हञ् नाशने—लुङ् । अहाः । अहार्षीत् । नाशितवान् स वैद्य इति शेषः (तम्) (सर्वम्) (जायान्यम्) वदेरान्यः । उ० ३ । १०४ । जै क्षये—आन्य । क्षयम् । राजरोगम (यः) (कः) (च) (ककुदि) अ० ३ । ४ । २ । उत्तमाङ्गे । शिरसि (श्रितः) अवस्थितः ॥

भाषार्थ—(पक्षी) पंख वाला [उड़ाऊ] (जायान्यः) क्षयरोग (पतति) उड़ता है, (सः) वह (पूरुषम्) पुरुष में (आ विशति) प्रवेश कर जाता है। (तत्) यह (अक्षितस्य) भीतर व्यापे हुये (च) और (सुक्षतस्य) बहुत फोड़ों वाले, (उभयोः) दोनों प्रकार के [क्षयरोग] की (भेषजम्) ओषधि है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य भीतरी और बाहिरी लक्षणों से रोग की पहिचान कर निवृत्ति करे ॥ ४ ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।
कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृण्मः । हविः । गृहे ॥५॥

भाषार्थ—(जायान्य) हे क्षयरोग ! (वै) निश्चय करके (ते) तेरा (जानम्) जन्मस्थान (विद्म) हम जानते हैं, (यतः) जहां से, (जायान्य) हे क्षयरोग ! (जायसे) तू उत्पन्न होता है। (त्वम्) तू (तत्र) वहां पर (कथम् ह) किस प्रकार से ही [मनुष्य को] (हनः) मार सकता है, (यस्य) जिसके (गृहे) घर में (हविः) ग्राह्य कर्म को (कृण्मः) हम करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रोगों का कारण जान कर पथ्य का सेवन और कुपथ्य का त्याग करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं ॥५॥

४—(पक्षी) पक्षवान्। शीघ्रगतिः (जायान्यः) म० ३ । क्षयरोगः (पतति) शीघ्रं गच्छति (सः) (आविशति) प्रविशति (पूरुषम्) पुरुषम्। शरीरम् (तत्) (अक्षितस्य) अक्षू व्याप्तौ—क्त । अन्तर्व्याप्तस्य क्षयस्य (भेषजम्) औषधम् (उभयोः) अक्षितसुक्षतयोः (सुक्षतस्य) क्षणु हिंसायाम् —क्त । बहुव्रणयुक्तस्य ॥

५—(विद्म) जानीमः (वै) अवश्यम् (ते) तव (जायान्य) म० ३। हे क्षयरोग (जानम्) जन—घञ् । जन्मस्थानम् (यतः) यस्मात् (जायान्य) (जायसे) उत्पद्यसे (कथम्) केन प्रकारेण (ह) अवश्यम् (तत्र) (त्वम्) (हनः) हन्तेर्लेटि अडागमः। हन्याः पुरुषम् (यस्य) पुरुषस्य (कृण्मः) कुर्मः (हविः) ग्राह्यं पथ्यं कर्म (गृहे) ॥

धृषत् पिब कुलशे सोमंमिन्द्र वृत्रहा शूर समुरे वसूनाम् । माध्यंन्दिने सवंन आ वृंषस्व रयिष्ठानौ रयिमुस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

धृषत् । पिब । कुलशे । सोमम् । इन्द्र । वृत्र-हा । शूर । सम्-अरे । वसूनाम् । माध्यंन्दिने । सवंने । आ । वृषस्व । रयि-स्थानः । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(धृषत्) हे निर्भय ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (वसूनाम्) धनों के निमित्त (समरे) युद्ध में (वृत्रहा) शत्रुनाशक हो कर (कलशे) [संसाररूप] कलस में [वर्तमान] (सोमम्) अमृत रस को (पिव) पी । (माध्यन्दिने) मध्य दिन के (सवने) काल वा स्थान में (आ वृषस्व) सब प्रकार बली हो, (रयिस्थानः) धनों का स्थान तू (रयिम्) धन को (अस्मासु) हम लोगों में (धेहि) धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि पथ्य कर्मों से स्वस्थ, बलवान् और मध्याह्न सूर्य के समान तेजस्वी होकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन संचय करके सब को सुखी रक्खें ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ६ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

वीराणां कर्तव्योपदेशः—वीरों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

६—(धृषत्) ञिधृषा प्रागल्भ्ये–शतृ, छान्दसः शः । हे प्रगल्भ (पिब) (कलशे) अ० ३ । १२ । ७ । संसाररूपे घटे वर्तमानम् (सोमम्) अमृतरसम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जीव (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (शूर) वीर (समरे) रणे (वसूनाम्) धनानां निमित्ते (माध्यन्दिने) अ० ७ । ७२ । ३ । मध्याह्ने भवे (सवने) अ० ७ । ७२ । ३ । काले स्थाने वा (आ) सर्वतः (वृषस्व) बली भव (रयिस्थानः) रायो धनानि तिष्ठन्ति यस्मिन्त्सः (रयिम्) धनम् (अस्मासु) (धेहि) धर ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन । अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्-तपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन । अस्माक । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सांतपनाः) हे बड़े ऐश्वर्य में रहने वाले ! (रिशादसः) हे हिंसकों के मारने वाले (मरुतः) शूर विद्वान् मनुष्यो ! (अस्माक) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये (इदम्) इस और (तत्) उस (हविः) ग्रहणयोग्य योग्य कर्म का (जुजुष्टन) स्वीकार करो ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी विद्वान् मनुष्य प्रजा की पुकार को सब प्रकार सुनकर रक्षा करें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २० । १ । से करो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७ । ५६ । ६ ।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति । द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥ २ ॥

यः । नः । मर्तः । मरुतः । दुः-हृणायुः । तिरः । चित्तानि । वसवः । जिघांसति । द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन । तम् ॥ २ ॥

१—(सांतपनाः) सम्+तप ऐश्वर्ये—ल्युट् । तत्र भवः । पा० ४ । ३ । ५३ । अण् । संतपने पूर्णैश्वर्ये भवा वर्तमानाः (इदम्) समीपस्थम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (तत्) दूरस्थम् (जुजुष्टन) जुषतेः शपः श्लुः, तस्य तनादेशश्च । स्वीकुरुत (अस्माक) अस्माकम् (ऊती) चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः । ऊतये रक्षार्थम् (रिशादसः) अ० २ । २८ । २ । हिंसकानां हिंसकाः ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे बसाने वाले (मरुतः) शूरो ! (यः) जो (दुर्हणायुः) अत्यन्त क्रोध को प्राप्त हुआ (मर्तः) मनुष्य (चित्तानि) हमारे चित्तों के (तिरः) आड़े होकर (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है। (सः) वह [हमारे लिये] (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट] के (पाशान्) फन्दों को (प्रति) प्रत्यक्ष (मुञ्चताम्) छोड़ देवे, (तम्) उसे (तपिष्ठेन) अत्यन्त तपाने वाले (तपसा) ऐश्वर्य वा तुपक आदि हथियार से (हन्तन) मारडालो ॥२॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टों का नाश करके श्रेष्ठों का पालन करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७। ५६। ८॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः। ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

सम्-वत्सरीणाः। मरुतः। सु-अर्काः। उरु-क्षयाः। स-गणाः। मानुषासः। ते। अस्मत्। पाशान्। प्र। मुञ्चन्तु। एनसः। साम्-तपनाः। मत्सराः। मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(संवत्सरीणाः) पूरे निवास काल तक [जीवन भर] प्रार्थना किये गये, (स्वर्काः) बड़े वज्रों वाले (उरुक्षयाः) बड़े घरों वाले, (सगणाः)

२—(यः) (नः) अस्मान् (मर्तः) मनुष्यः (मरुतः) हे शूरगणाः (दुर्हणायुः) हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा-निघ० २। १२। हृणीङ् रोषणे लज्जायां च-क। छन्दसीणः। उ० १। २। हृण+इण गतौ—उण्। दुर्हणं दुष्टं क्रोधं गतः। प्राप्तक्रोधः (तिरः) तिरस्कृत्य। उल्लङ्घ्य (चित्तानि) अन्तःकरणानि (वसवः) हे वासयितारः (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (द्रुहः) द्रोहस्य। अनिष्टस्य (पाशान्) बन्धान् (प्रति) प्रत्यक्षम् (मुञ्चताम्) त्यजतु (सः) शत्रुः (तपिष्ठेन) तापयितृतमेन (तपसा) ऐश्वर्येण तापकेनायुधेन वा (हन्तन) तस्य तनप्। हत ॥

३—(सम्वत्सरीणाः) संपूर्वाच्चित्। उ० ३। ७२। सम्+वस निवासे-सरन्। सः स्यार्धधातुके। पा० ७। ४। ४९। सस्य तत्वम्। संपरिपूर्वात् ख

सेनाओं वाले, (मानुषासः) मनन शील (मरुतः) शूर पुरुष हैं । (ते) वे (सांतपनाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (मत्सराः) प्रसन्न रहने वाले, (मादयिष्णवः) प्रसन्न रखने वाले पुरुष (अस्मत्) हम से (एनसः) पाप के (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्चन्तु) छुड़ा देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे शूर वीर पुरुष धन्य हैं जो प्रसन्नता से पुरुषार्थ करके सब को क्लेशों से छुड़ा कर सुखी करते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-२ अग्निर्देवता ॥ १स्वराड् गायत्री; २ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ।

वि ते॑ मुञ्चामि रश॒नां वि योक्त्रं॒ वि नियोज॑नम् ।
इ॒हैव त्वमज॑स्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

वि । ते॒ । मु॒ञ्चा॒मि॒ । र॒श॒नाम् । वि । योक्त्र॑म् । वि । नि॒-योज॑नम् । इ॒ह । ए॒व । त्वम् । अज॑स्रः । ए॒धि॒ । अ॒ग्ने॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (ते) तेरी (रशनाम्) रसरी को, (योक्त्रम्) जोते वा डोरी को और (नियोजनम्) बन्धन गांठ को (वि) विशेष करके (वि) विविध प्रकार (वि मुञ्चामि) मैं खोलता हूं । (अग्ने) हे अग्नि [स-

च । पा० ५ । १ । ६२ । संवतसर—ख, अधीष्टार्थे । सम्वत्सरं सम्यग् निवासकालमधीष्टाः प्रार्थिताः (मरुतः)-म० १ । शूराः (स्वर्काः) अ० ७ । २४ । १ सुवज्रिणः (उरुक्षयाः) क्षि निवासगत्योरैश्वर्ये च विस्तीर्णगृहाः (सगणाः) सैन्यैः सहिताः (मानुषासः) अ० ४ । १४ । ५ । असुक् । मनुर्मननं येषां ते (ते) मरुतः (अस्मत्) अस्मत्तः (पाशान्) बन्धान् (प्र) (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (एनसः) पापस्य (सांतपनाः)-म० १ । पूर्णैश्वर्यवन्तः (मत्सराः) अ० ४ । २५ । ६ । मदी हर्षे-सरन् । हृष्टाः । प्रसन्नाः (मादयिष्णवः) णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । मादयतेः—इष्णुच् । हर्षकराः ॥

१—(वि मुञ्चामि) वियोजयामि (ते) तव (रशनाम्) आध्यात्मिकक्लेशरूपां रज्जुम् (वि) विशेषेण (योक्त्रम्) अ० ३ । ३० । ६ । आधिभौतिकरूपं बन्धनसाधनम् (इह) अस्मिन् संसारे (एव) निश्चयेन (त्वम्) आत्मा

मान बलवान् आत्मा !] (इह) यहां पर (एव) ही (त्वम्) तू (अजस्रः) दुःख रहित होकर (एधि) रह ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी योगी जन तीन गाठों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं, वे संसार में रह कर सब को सुखी रखते हैं ॥ २ ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन । दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्राणि । धारयन्तम् । अग्ने । युनज्मि । त्वा । ब्रह्मणा । दैव्येन । दीदिहि । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह । भद्रम् । प्र । इमम् । वोचः । हविःऽदाम् । देवतासु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [तुल्य पराक्रमी आत्मा !] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (क्षत्राणि) अनेक बलों को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (त्वा) तुझको (दैव्येन) परमेश्वर से पाये हुये (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (युनज्मि) मैं नियुक्त करता हूं । (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) यहां पर (द्रविणा) अनेक धन (भद्रम्) आनन्द से (दीदिहि) प्रकाशित कर, (इमम्) इस [मनुष्य] को (देवतासु) विद्वानों के बीच (हविर्दाम्) देने योग्य पदार्थ

(अजस्रः) नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः । पा० ३ । २ । १६७ । नञ्+जसु हिंसायाम्-रप्रत्ययः । अहिंसितः (एधि) भव (अग्ने) अग्निवद् बलवन्नात्मन् ॥

२—(अस्मै) प्राणिने (क्षत्राणि) अ० २ । १५ । ४ । बलानि (धारयन्तम्) धरन्तम् (अग्ने) अग्नितुल्यपराक्रमिन्नात्मन् (युनज्मि) योजयामि (त्वा) त्वाम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (दैव्येन) अ० २ । २ । २ । परमेश्वर सम्बद्धेन (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । अन्तर्गतण्यर्थः । संदीपय (अस्मभ्यम्) (द्रविणा) अ० २ । २९ । ३ । धनानि (इह) अस्मिन् संसारे (भद्रम्) यथा तथा सुखेन (प्र) प्रकर्षेण (वोचः) लुङि रूपम् । अवोचः । सूचितवानसि

का देने वाला (प्र वोचः) तू ने सूचित किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य योगाभ्यास आदि शुभ गुणों से अपने बलों को बढ़ा कर परोपकारी हो कर कीर्त्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-४ ॥ अमावास्या देवता ॥ १, ३४ त्रिष्टुप्; २ विराट् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा । तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ १ ॥

यत् । ते । देवाः । अकृण्वन् । भाग-धेयम् । अमा-वास्ये । सम्-वसन्तः । महि-त्वा । तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्ववारे । रयिम् । नः । धेहि । सु-भगे । सु-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या ! [सब के साथ बसी हुई शक्ति परमेश्वर !] (यत्) जिस कारण से (ते) तेरी (महित्वा) महिमा से (संवसन्तः) यथावत् वसते हुये (देवाः) विद्वानों ने (भागधेयम्) अपना सेवनीय काम (अकृण्वन्) किया है । (तेन) उसीसे, (विश्ववारे) हे सब से स्वीकार करने योग्य शक्ति ! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरा कर, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (नः) हमें (सुवी-

---

(हविर्दाम्) ददातेः—क्विप् । दातव्यस्य दातारम् (देवतासु) विद्वत्सु ॥

१—(यत्) यस्मात्कारणात् (ते) तव (देवाः) विद्वांसः (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकुर्वन् (भागधेयम्) सेवनीयं व्यवहारम् (अमावास्ये) अमावस्यदन्यतरस्याम् । पा० ३ । १ । १२२ । अमा+वस आच्छादने निवासे च—एयत्, टाप् । अमा सर्वैः सह वसति सा अमावास्या तत्सम्बुद्धौ । हे सर्वैःसह निवासशीले शक्ते परमात्मन् (संवसन्तः) वस-शतृ ।

रम्) बड़े वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावस्ये, संवसन्तः) पद [वस-रहना, ढाकना] धातु से बने हैं। विद्वान् लोग सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में आश्रय लेकर सृष्टि के सब पदार्थों से उपकार करके सब को वीर, पुरुषार्थी और धनी बनावें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका—अ० ७ । २० । ४ ॥

अ॒हमे॒वास्म्य॑मावा॒स्या॒३॒॑ मामा व॑सन्ति सु॒कृतो॒ मयी॒मे।
मयि॑ दे॒वा उ॒भये॑ सा॒ध्याश्चेन्द्र॑ज्येष्ठाः॒ सम॑गच्छन्त॒ सर्वे॑॥२

अ॒हम् । ए॒व । अ॒स्मि॒ । अ॒मा-वा॒स्या॑ । माम् । आ । व॒स॒न्ति॒ । सु॒-कृत॑ः । मयि॑ । इ॒मे । मयि॑ । दे॒वाः । उ॒भये॑ । सा॒ध्याः । च॒ । इन्द्र॑-ज्येष्ठाः । सम् । अ॒ग॒च्छ॒न्त॒ । सर्वे॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एव) ही (अमावास्या) अमावास्या [सबके साथ वसी हुई शक्ति] (अस्मि) हूं, (मयि) मुझ में [वर्तमान होकर] (इमे) यह सब (सुकृतः) सुकर्मी लोग (माम्) लक्ष्मी में (आ वसन्ति) यथावत् वास करते हैं। (मयि) मुझ में (उभये) दोनों प्रकार के (सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ अर्थात् (साध्याः) साधने योग्य [स्थावर] (च और (इन्द्रज्येष्ठाः) जीव को प्रधान रखने वाले [जंगम] पदार्थ (सम्=समेत्य) मिलकर (आगच्छन्त) प्राप्त हुये हैं ॥ २ ॥

सम्यग् निवसन्तः (महित्वा) अ० ४ । २ । २ । महत्त्वेन। अन्यद् गतम्—अ० ७। २० । ४ ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (एव)(अस्मि) (अमावास्या) म० १ । सर्वैः सह निवासशीला शक्तिः (माम) इन्दिरा लोकमाता मा—अमरः १ । २६ । लक्ष्मीम् (आ वसन्ति) उपान्वध्याङ्वसः । पा० १ । ४ । ४८ । अधिकरणस्य कर्मता । समन्ताद् अवतिष्ठन्ते (सुकृतः) सुकर्माणः (मयि) (देवाः) दिव्यपदार्थाः (उभये) अ० ४ । ३१ । ६ । द्विविधाः, चराचराः (साध्याः) अ० ७ । ५ । १ । साधनीयाः । स्थावराः (इन्द्रज्येष्ठाः) जीवप्रधानाः । जङ्गमाः (सम्) समेत्य (अगच्छन्त) प्राप्तवन्तः (सर्वे) समस्ताः ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावस्या, वसन्ति) पद [वस-रहना, ढांकना] धातु से बने हैं। परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि वह अन्तर्यामी होकर समस्त, चर और अचर संसार को अपने वश में रखता है॥२॥

यजुर्वेद अ० ४० म० १ में ऐसा वचन है।

ई॒शा वा॒स्य॑मि॒दं स॒र्वं॒ यत् किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त् ॥

(इदम् सर्वम्) यह सब, (यत् किंच) जो कुछ (जगत्याम्) सृष्टि में (जगत्) जगत् है, (ईशा) ईश्वर से (वास्यम) बसा हुआ है॥

आग॒न् रात्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑नामू॒र्जं॑ पु॒ष्टं वस्वा॑वे॒शय॑न्ती। अ॒मा॒वा॒स्यायै॑ ह॒विषा॑ विधे॒मोर्जं॒ दुहा॑ना॒ पय॑सा न॒ आग॑न् ॥ ३ ॥

आ। अ॒गन्। रात्री॑। स॒म्-गम॑नी। वसू॑नाम्। ऊर्ज॑म्। पु॒ष्टम्। वसु॑। आ-वे॒शय॑न्ती। अ॒मा-वा॒स्यायै॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒। ऊर्ज॑म्। दुहा॑ना। पय॑सा। नः॒। आ। अ॒गन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वसूनाम्) निवास स्थानों [लोकों] का (संगमनी) संयोग करने वाली, (ऊर्जम्) पराक्रम और (पुष्टम्) पोषण और (वसु) धन (आवेशयन्ती) दान करती हुई (रात्री) सुख देने वाली शक्ति (आ अगन्) आई है। (अमावास्यायै) उस अमावास्या [सब के साथ वास करने वाली शक्ति, परमेश्वर] को (हविषा) आत्मदान [पूर्ण भक्ति] से (विधेम) हम पूजें, (ऊर्जम्) पराक्रम को (पयसा) ज्ञान के साथ (दुहाना) पूरण करती हुई वह (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हुई है॥ ३॥

३—(आ अगन्) अ० २। ६। ३। आगता (रात्री) अ० १। १६। १। रा दाने—त्रिप्, ङीप्। सुखदात्री (संगमनी) संयोजयित्री (वसूनाम्) निवासस्थानानां लोकानाम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (पुष्टम्) पोषणम् (वसु) धनम् (आवेशयन्ती) प्रयच्छन्ती (अमावास्यायै)—म० १। सर्वैः सह निवासशीलायै (हविषा) आत्मदानेन (विधेम) परिचरेम (ऊर्जम्) (दुहाना) प्रपूरयन्ती (पयसा) पय गतौ—असुन्। ज्ञानेन (नः) अस्मान् (आ अगन्)॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावास्यायै, वसूनाम्, वसु) पद [वस रहना] धातु से बने हैं। जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से पुरुषार्थ और भक्ति के साथ उपकार लेते हैं, वे ही ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

अमा॑वास्ये॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒भूर्ज॑जान। यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ४ ॥

अमा॑-वास्ये। न। त्वत्। ए॒तानि॑। अ॒न्यः। विश्वा॑। रू॒पाणि॑। परि॒-भूः। ज॒जान॑। यत्-का॑माः। ते॒। जु॒हु॒मः। तत्। नः॒। अ॒स्तु॒। व॒यम्। स्या॒म॒। पत॑यः। र॒यी॒णाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या ! [सब के साथ निवास करने वाली शक्ति, परमेश्वर !] (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक होकर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही अनुपम, सर्वशक्तिमान् और सब सृष्टि का कर्ता है, उसी की शरण लेकर विद्या सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । १२१ । १० । और यजुर्वेद—अ० २३ । ६५ ॥

४—(अमावास्ये)—म० १ । सर्वैः सह निवासशीले (न) निषेधे (त्वत्) त्वत्तः (एतानि) दृश्यमानानि (अन्यः) भिन्नः (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) मूर्तानि वस्तूनि (परिभूः) भू प्राप्तौ—क्विप् । व्यापकः (जजान) जन जनने—लिट् । उत्पादयामास (यत्कामाः) यद्वस्तु कामयमानाः (ते) तव (जुहुमः) हु दानादानयोः । स्वीकारं कुर्मः (तत्) कमनीयं वस्तु (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (वयम्) (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) धनानाम् ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-४ ॥ पौर्णमासी देवता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

पूर्णा पुश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय । तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा । पुश्चात् । उत । पूर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः । पौर्ण-मासी । जिगाय । तस्याम् । देवैः । सम्-वसन्तः । महि-त्वा । नाकस्य । पृष्ठे । सम् । इषा । मदेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पश्चात्) पीछे (पूर्णा) पूर्णा, (पुरस्तात्) पहिले (उत) और (मध्यतः) मध्य में (पूर्णा) पूर्ण (पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय वा आकारवान् पदार्थों की आधारशक्ति, परमेश्वर] (उत् जिगाय) सब से उत्कृष्ट हुई है। (तस्याम्) उस [शक्ति] में (देवैः) उत्तम गुणों और (महित्वा) महीमा के साथ (संवसन्तः) निवास करते हुये हम (नाकस्य) सुख की (पृष्ठे) ऊंचाई पर [वा सिंचाई में] (इषा) पुरुषार्थ से (सम्) यथावत् (मदेम) आनन्द भोगें ॥ १ ॥

१—(पूर्णा) समग्रा (पश्चात्) सृष्टेः पश्चात् (उत) अपि (पूर्णा) (पुरस्तात्) सृष्टेः प्राक् (उत्) उत्तमतया (मध्यतः) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ५। ३। १४। इति सप्तम्यर्थे तसिल्। मध्ये। सृष्टिकाले (पौर्णमासी) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। माङ् माने—असुन्। सास्मिन्पौर्णमासीति। पा० ४। २।२१। इति पूर्णमास्-अण्। पूर्णाः सम्पूर्णा मासः परिच्छेद्याः पदार्था यस्मिन् स पौर्णमासः, स्त्रियां ङीप्। सम्पूर्णपरिच्छेद्यपदार्थाधारा शक्तिः परमेश्वरः (जिगाय) उत्कृष्टा बभूव (तस्याम्) पौर्णमास्याम् (देवैः) उत्तमगुणैः (संवसन्तः) सम्यग् निवसन्तः (महित्वा) अ० ४। २। २। महिम्ना (नाकस्य) सुखस्य (पृष्ठे) पृषु सेचने-थक्। उपरिभागे सेचने वा (सम्) सम्यक् (इषा) इष गतौ-क्विप्। उपायेन (मदेम) हृष्येम ॥

भावार्थ—परमेश्वर सृष्टि से पहिले और पीछे और मध्य में वर्तमान और सर्वोत्कृष्ट है, उसी के आश्रय से मनुष्य उत्तम गुणी होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्ण-मासम् । यजामहे । सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुप-दस्वतीम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ, (वाजिनम्) महाबलवान् (पौर्णमासम्) पौर्णमास [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों के आधार परमेश्वर] को (यजामहे) पूजते हैं। (सः) वह (नः) हमें (अक्षिताम्) बिना घटी हुई और (अनुपदस्वतीम्) बिना घटने वाली (रयिम्) सम्पत्ति (ददातु) देवे ॥ २

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके पुरुषार्थ के साथ ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजा-पते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परि-भूः । जजान । यत्-कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ३ ॥

२—(वृषभम्) अ० ४।५।१। सर्वश्रेष्ठम् (वाजिनम्) महाबलिनम् (वयम्) (पौर्णमासम्)–म० १। सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारं परमेश्वरम् (यजामहे) पूजयामः (सः) पौर्णमासः (नः) अस्मभ्यम् (ददातु) (अक्षिताम्) अक्षीणाम् (रयिम्) सम्पत्तिम् (अनुपदस्वतीम्) उपभोगेऽपि क्षयरहिताम् ॥

भाषार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक हो कर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें ॥३

भावार्थ—यह मन्त्र अ० ७ । ७९ । ४ । में आ चुका है, (अमावास्ये) के स्थान पर यहां (प्रजापते) पद है, भावार्थ समान है ॥ ३ ॥

३—(प्रजापते) हे प्रजापालक । अन्यद् गतम्–अ० ७ । ७९ । ४ ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु । ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्ण-मासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्रीणाम् । अति-शर्वरेषु । ये । त्वाम् । यज्ञैः । यज्ञिये । अर्धयन्ति । अमी इति । ते । नाके । सु-कृतः । प्र-विष्टाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों की आधार शक्ति] (अह्नाम्) दिनों के बीच और (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरेषु) अत्यन्त अन्धकारों में (प्रथमा) पहिली (यज्ञिया) पूजा योग्य (आसीत्) हुई है। (यज्ञिये) हे पूजायोग शक्ति ! (ये) जो (त्वाम्) तुझे (यज्ञैः) पूजनीय व्यवहारों से (अर्धयन्ति) पूजते हैं, (अमी) यह सब [वर्तमान] और (ते) वे [आगे और पीछे होने वाले] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (नाके)

४—(पौर्णमासी)–म० १ । सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारा शक्तिः (प्रथमा) आद्या (यज्ञिया) पूजार्हा (अह्नाम्) दिनानां मध्ये (रात्रीणाम्) (अतिशर्वरेषु) कॄगॄशॄ वृञ्चतिभ्यः ष्वरच् । उ० २ । १२१ । शॄ हिंसायाम्–ष्वरच् । शर्वरं तमः । अत्यन्तान्धकारेषु (ये) मनुष्याः (त्वाम्) पौर्णमासीम् (यज्ञैः) पूजनीयैः कर्मभिः (यज्ञिये) पूजार्हे (अर्धयन्ति) ऋधु वृद्धौ–णिच् । वर्धयन्ति । अर्चन्ति (अमी) इदानीतनाः (ते) दूरस्थाः । भूते भविष्यति च भवाः (नाके)

आनन्द में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सृष्टि और प्रलय से अनादि और अनन्त है, उसकी पूजा करके सब मनुष्य आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-६ ॥ ॥ १ सोमार्कौ; २-६ चन्द्रमा देवता ॥ १ जगती; २, ६ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः; ५ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

सूर्यचन्द्रलक्षणोपदेशः—सूर्य, चन्द्रमा लक्षणों का उपदेश ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् । विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

पूर्व-अपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ । परि । यातः । अर्णवम् । विश्वा । अन्यः । भुवना । वि-चष्टे । ऋतून् । अन्यः । वि-दधत् । जायसे । नवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एतौ) यह दोनों [सूर्य, चन्द्रमा] (पूर्वापरम्) आगे पीछे (मायया) बुद्धि से [ईश्वर नियम से] (चरतः) विचरते हैं, (क्रीडन्तौ) खेलते हुये (शिशू) [माता पिता के दुःख हटाने वाले] दो बालक [जैसे] (अर्णवम्) अन्तरिक्ष में (परि) चारो ओर (यातः) चलते हैं। (अन्यः एक [सूर्य] (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (विचष्टे) देखता है,

---

सुखे (सुकृतः) सुकर्माणः (प्रविष्टाः) स्थिता भवन्ति ॥

१—(पूर्वापरम्) यथा तथा, पूर्वापरपर्य्यायेण (चरतः) विचरतः (मायया) ईश्वरप्रज्ञया (एतौ) सूर्य्याचन्द्रमसौ (शिशू) शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति—निरु० १० । ३६ । शः कित् सन्वच्च । उ० १ । २० । शो तनूकरणे—उ प्रत्ययः, श्यति पित्रोर्दुःखानीति शिशुः । बालकौ यथा (क्रीडन्तौ) विहरन्तौ (परि) सर्वतः (यातः) गच्छतः (अर्णवम्). अ० १ । १० । ४। समुद्रम् । अन्तरिक्षम् (विश्वा) सर्वाणि

(अन्यः) दूसरा तू [चन्द्रमा] (ऋतून्) ऋतुओं को [अपनी गति से] (विदधत्) बनाता हुआ [शुक्ल पक्ष में] (नवः) नवीन (जायसे) प्रगट होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर नियम से आकाश में घूमते हैं और सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को प्रकाश पहुंचाता है। चन्द्रमा शुक्ल पक्ष के आरम्भ से एक एक कला बढ़कर वसन्त आदि ऋतुओं को बनाता है ॥ १ ॥

मन्त्र १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १० । ८५ । १८,१९ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २ ॥

नवः-नवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एषि । अग्रम् । भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आ-यन् । प्र । चन्द्रमः । तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(चन्द्रमः) हे चन्द्रमा ! तू [शुक्लपक्ष में] (नवोनवः) नया नया (जायमानः) प्रकट होता हुआ (भवसि) रहता है, और (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) जताने वाला तू (उषसाम्) उषाओं [प्रभातवेलाओं] के (अग्रम्) आगे (एषि) चलता है। और (आयन्) आता हुआ तू (देवेभ्यः) उत्तम पदार्थों को (भागम्) सेवनीय उत्तम गुण (वि दधासि) विविध प्रकार

(अन्यः) सूर्यः (भुवना) चन्द्रादिलोकान् (विचष्टे) विविधं पश्यति। प्रकाशयति (ऋतून्) वसन्तादिकालान् (अन्यः) चन्द्रमाः (विदधत्) कुर्वन् (जायसे) प्रादुर्भवसि (नवः) नवीनः शुक्लपक्षे ॥

२—(नवोनवः) पुनःपुनरभिनवः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु, एकैककलावृद्ध्या (भवसि) (जायमानः) प्रादुर्भवन् (अह्नाम्) चान्द्रतिथीनाम् (केतुः) केतयिता ज्ञापयिता (उषसाम्) प्रभातवेलानाम् (एषि) प्राप्नोषि (अग्रम्) पुरोगतिम् (भागम्) सेवनीयमुत्तमं गुणम् (देवेभ्यः) दिव्यपदार्थेभ्यः (वि) विविधम् (दधासि) ददासि (आयन्) आगच्छन् प्रादुर्भवन् (प्र) प्रकर्षेण

देता है, और (दीर्घम्) लम्बे (आयुः) जीवन काल को (प्र) अच्छे प्रकार (तिरसे) पार लगाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में एक एक कला बढ़कर नया नया होता है और दिनों, अर्थात् प्रतिपदा आदि चान्द्र तिथियों को बनाता है। और पृथिवी के पदार्थों में जीवन शक्ति देकर पुष्टिकारक होता है ॥ २ ॥

भगवान् यास्क का मत है—निरु० ११ । ६ । ' "नया नया प्रकट होता हुआ'—यह शुक्लपक्ष के आरम्भ से अभिप्राय है। दिनों को जताने वाला उषाओं के आगे चलता है, यह कृष्णपक्ष की समाप्ति से अभिप्राय है। कोई कहते हैं कि दूसरा पाद सूर्य देवता का है ॥"

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि ।

अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

सोमस्य । अंशो इति । युधाम् । पते । अनूनः । नाम । वै । असि । अनूनम् । दर्श । मा । कृधि । प्र-जया । च । धनेन । च ॥ ३॥

भाषार्थ—(सोमस्य) हे अमृत के (अंशो) बांटने वाले ! (युधाम्) हे युद्धों के (पते) स्वामी ! (वै) निश्चय करके तू (अनूनः) न्यूनता रहित [सम्पूर्ण] (नाम) प्रसिद्ध (असि) है। (दर्श) हे दर्शनीय ! (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा से (च च) और (धनेन) धन से (अनूनम्) सम्पूर्ण (कृधि) कर ॥ ३ ॥

(चन्द्रमः) अ० ५ । २४ । १० । हे चन्द्र (तिरसे) पारयसे (दीर्घम्) अ० १ । ३५ । २ । लम्बमानम् (आयुः) जीवनकालम् ।

३—(सोमस्य) अमृतस्य । जीवनसाधनस्य (अंशो) अंशुः शमष्टमात्रो भवत्यननाय शं भवतीति वा—निरु० २ । ५ । मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अंश विभाजने—कु । अंशुः=सोमो विभागो विभक्ता वा । हे विभाजयितः (युधाम्) युद्धानां पार्थिवजलस्याकर्षणानाम्, यद्वा ग्रहतारागणानामुल्लेखादियुद्धानाम्, सूर्यसिद्धान्ते—अ० ७ । श्लोक १८-२३ (पते) स्वामिन् (अनूनः) ऊन परिहाणे—क । न्यूनतारहितः । सम्पूर्णकलः (नाम) प्रसिद्धौ (वै) निश्चयेन (असि) (अनूनम्) सम्पूर्णं समृद्धम् (दर्श) दृश—घञ् । हे दर्शनीय । पूर्ण-

भावार्थ—पूर्ण चन्द्रमा अमृत का बांटने वाला इस लिये है कि उसकी किरणों से पार्थिव पदार्थों और प्राणियों में पोषण शक्ति पहुंचती है। और युद्धों का स्वामी इस कारण है कि पौर्णमासी को पार्थिव समुद्र का जल चन्द्रमा की ओर लहराता है, अथवा उल्लेखादि युद्धों अर्थात् ग्रह और तारा गणों के परस्पर निकट हो जाने वा टकरा जाने का काल चन्द्रमा की गति से निर्णय किया जाता है—देखो सूर्यसिद्धान्त, अध्याय ७। श्लोक १८–२३। मनुष्य पौष्टिक पदार्थों से उपकार लेकर प्रजावान् और धनवान् होवें॥ ३॥

दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः। समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ४ ॥

दर्शः। असि। दर्शतः। असि। सम्-अग्रः। असि। सम्-अन्तः। सम्-अग्रः। सम्-अन्तः। भूयासम्। गोभिः। अश्वैः। प्र-जया। पशु-भिः। गृहैः। धनेन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[चन्द्र !] तू (दर्शः) दर्शनीय (असि) है, (दर्शतः) देखने का साधन (असि (है, (समग्रः) सम्पूर्ण गुण वाला, और (समन्तः) सम्पूर्ण कला वाला, (असि) है। (गोभिः) गौओं से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि प्रजा से, (गृहैः) घरों से (धनेन) और धन से (समग्रः) सम्पूर्ण और (समन्तः) परिपूर्ण (भूयासम्) मैं रहूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र संसार का उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्य सब विधि से परिपूर्ण होकर परस्पर सहायक रहें ॥ ४ ॥

चन्द्र (मा) माम् (कृधि) कुरु (प्रजया) सन्ततिभृत्यादिना (च च) समुच्चये (धनेन) ॥

४—(दर्शः)—म० ३। दर्शनीयः (असि) भवसि (दर्शतः) अ० ४। १०। ६। पश्यति येन सः। सूर्यः। चन्द्रः (समग्रः) सम्पूर्णगुणः (समन्तः) पूर्णकलः (समग्रः) संपूर्णः (समन्तः) समृद्धः (गोभिः) अश्वैः) (प्रजया) (पशुभिः) हस्तिमहिषीमेषादिभिः (गृहैः) (धनेन) ॥

योऽ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व । आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तस्य । त्वम् । प्राणेन । आ । प्यायस्व । आ । वयम् । प्याशिषीमहि । गोभिः । अश्वैः । प्र-जया । पशु-भिः । गृहैः । धनेन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) विरोध करते हैं, (त्वम्) तू [हे चन्द्र !] (तस्य) उसको (प्राणेन) प्राण से (आप्यायस्व) वियुक्त कर। (वयम्) हम लोग (गोभिः) गौओं से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) [हाथी भैंस भेड़ आदि] अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि से, (गृहैः) घरों से, और (धनेन) धन से (आ) सब प्रकार (प्याशिषीमहि) बढ़ें ॥ ५ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा आदि के उत्तम गुण कुव्यवहार से दुःखदायक और सुव्यवहार से सुखदायक होते में ॥ ५ ॥

(प्याशिषीमहि) के स्थान पर पं० सेवकलाल के पुस्तक में (प्यायिषीमहि) पाठ है ॥

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति । तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य

५—(यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (द्वेष्टि) विरोधयति (यम्) (वयम्) (द्विष्मः) विरोधयामः (तस्य) तम् (त्वम्) हे चन्द्र (प्राणेन) जीवनेन (आ) वियोगे—यथा आपद् शब्दे (आ प्यायस्व) वियोजय (आ) समन्तात् (वयम्) (प्याशिषीमहि) ओ प्यायी वृद्धौ, आशिषि लिङि यकारस्थाने शकारश्छान्दसः । प्यायिषीमहि—यथा पं० सेवकलालस्य पुस्तके पाठः । वर्धिषीमहि । अन्यत्पूर्ववत्—म० ४ ॥

गोपाः ॥ ६ ॥

यम् । देवाः । अंशुम् । आ-प्यायर्यन्ति । यम् । अक्षितम् । अक्षिताः । भक्षयन्ति । तेन । अस्मान् । इन्द्रः । वरुणः । बृहस्पतिः । आ । प्यायथन्तु । भुवनस्य । गोपाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (अंशुम्) अमृत [चन्द्रमा के रस] को (देवाः) प्रकाशमान सूर्य की किरणें [शुक्लपक्ष में] (आप्याययन्ति) बढ़ा देती हैं, और (यम्) जिस (अक्षितम्) बिना घटे हुये को (अक्षिताः) वे व्यापक [किरणें] (भक्षयन्ति) [कृष्ण पक्ष में] खा लेती हैं। (तेन) उसी [नियम] से (अस्मान्) हमको (भुवनस्य) संसार के (गोपाः) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा, (वरुणः) श्रेष्ठ वैद्य और (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का स्वामी, आचार्य (आ) सब प्रकार (प्याययन्तु) बढ़ावें ॥६॥

भावार्थ—जिस नियम से सूर्य की किरणें चन्द्रमा के अनिष्ट रस को खींचकर अमृत उत्पन्न करती हैं, वैसे ही राजा आदि गुरुजन प्रजा के दुखोंका नाश करके सुख प्राप्त करावें ॥ ६ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१-६ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ४-६ त्रिष्टुप्; २ बृहती; ३ जगती ॥

वेदविज्ञानोपदेशः—वेद के विज्ञान का उपदेश ॥

६—(यम्) (देवाः) देवः=द्युस्थानः—निरु ७ । १५ । प्रकाशमानाः सूर्यरश्मयः (अंशुम्)-म० ३ । सोमम् । चन्द्ररसम् (आ प्याययन्ति) सर्वतो वर्धयन्ति, शुक्लपक्षे (यम्) (अक्षितम्) अक्षीणम् (अक्षिताः) अक्षू व्याप्तौ—क्त । व्याप्ताः किरणाः (भक्षयन्ति) अदन्ति । आकर्षन्ति, कृष्णपक्षे (तेन) नियमेन (अस्मान्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (वरुणः) श्रेष्ठो वैद्यः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः । आचार्यः (आ) समन्तात् (प्याययन्तु) वर्धयन्तु (भुवनस्य) लोकस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे—घञ । गोपयितारः । रक्षकाः ॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्

अभि । अर्चत । सु-स्तुतिम् । गव्यम् । आजिम् । अस्मासु ।
भद्रा । द्रविणानि । धत्त । इमम् । यज्ञम् । नयत । देवता ।
नः । घृतस्य । धाराः । मधु-मत् । पवन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सुष्टुतिम्) बड़ी स्तुति वाले, (गव्यम्) पृथिवी वा स्वर्ग के लिये हितकारक, (आजिम्) प्राप्तियोग्य परमेश्वर को (अभि) भले प्रकार (अर्चत) पूजो, और (अस्मासु) हम लोगों में (भद्रा) सुखों और (द्रविणानि) बलों और धनों को (धत्त) धारण करो। (देवता) प्रकाशमान तुम सब (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (नः) हम में (नयत) पहुंचाओ, (घृतस्य) प्रकाशित ज्ञान की (धाराः) धारायें [धारण शक्तियां वा प्रवाह] (मधुमत्) श्रेष्ठ विज्ञानयुक्त कर्म को (पवन्ताम्) शुद्ध करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके मनुष्यों का उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ४ । ५८ । १० ॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

१—(अभि) सर्वतः (अर्चत) पूजयत (सुष्टुतिम्) अतिस्तुतियुक्तम् (गव्यम्) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । गो—यत् । गवे पृथिव्यै स्वर्गाय वा हितम् (आजिम्) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गतिक्षेपणयोः—इण् । प्रापणीयं परमात्मानम् (अस्मासु) (भद्रा) सुखानि (द्रविणानि) बलानि धनानि च (धत्त) धारयत (इमम्) प्रसिद्धम् (यज्ञम्) पूजनीयं परमेश्वरम् (नयत) प्रापयत (देवता) स्वार्थे तल् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक् । देवताः । यूयं प्रकाशमानाः (घृतस्य) प्रकाशितस्य बोधस्य (धाराः) धारणशक्तयः प्रवाहा वा (मधुमत्) प्रशस्तविज्ञानयुक्तं कर्म (पवन्ताम्) शोधयन्तु ॥

मयि प्र॒जां मय्यायु॑र्दधामि॒ स्वाहा॒ मय्य॒ग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्रे॑ । अ॒ग्निम् । गृ॒ह्णा॒मि॒ । स॒ह । क्ष॒त्रेण॑ । वर्च॑सा बले॑न । मयि॑ । प्र॒-जाम् । मयि॑ । आयुः॑ । द॒धा॒मि॒ । स्वाहा॑ । मयि॑ । अ॒ग्निम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—मैं (अग्रे) सब से पहिले वर्तमान (अग्निम्) सर्वज्ञ परमेश्वर को (मयि) अपने में (क्षत्रेण) [दुःख से बचाने वाले] राज्य,(वर्चसा) प्रताप और (बलेन सह) बल के साथ (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं। मैं (मयि) अपने में (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान भृत्य आदि] को, (मयि) अपने में (आयुः) जीवन को, (मयि) अपने में (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के द्वारा (दधामि) धारण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि, अनन्त, परमात्मा का भरोसा रखकर शारीरिक, आत्मिक बल बढ़ा कर राज्य आदि की वृद्धि करें ॥ २ ॥

इ॒हैवाग्ने॒ अधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ नि क्र॒न् पूर्व॑चित्ता निका॒रिणः॑ । क्ष॒त्रेणा॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु॒ तुभ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्धतां ते॒ अनि॑ष्टृतः ॥ ३ ॥

इ॒ह । ए॒व । अ॒ग्ने॒ । अधि॑ । धा॒र॒य॒ । र॒यिम् । मा । त्वा॒ । नि । क्र॒न् । पूर्व॑-चित्ताः । नि॒-का॒रिणः॑ । क्ष॒त्रेण॑ । अ॒ग्ने॒ । सु॒-यम॑म् । अ॒स्तु॒ । तुभ्य॑म् । उ॒प॒-स॒त्ता । व॒र्ध॒ता॒म् । ते॒ । अनि॑-स्तृतः ॥

२—(मयि) आत्मनि (अग्रे) सर्वप्रथमं वर्तमानम् (अग्निम्) सर्वज्ञं परमात्मानम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (सह) सहितः (क्षत्रेण) क्षणु हिंसायाम्—क्विप् + त्रैङ् पालने—क । क्षतः क्षतात् त्रायकेण राज्येन (वर्चसा) प्रतापेन (बलेन) (मयि) (प्रजाम्) सन्ततिभृत्यादिरूपाम् (मयि) (आयुः) जीवनम् (दधामि) धारयामि (स्वाहा) अ० २।१६।१। सुवाण्या। वेदवाचा (मयि) (अग्निम्) विद्युतं शारीरिकात्मिकबलहेतुम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! (इह एव) यहां पर ही (रयिम्) धन को (अधि) अधिकार पूर्वक (धारय) पुष्ट कर, (पूर्वचित्ताः) पहिले से सोचने वाले [घाती], (निकारिणः) अपकारी [दुष्ट] लोग (त्वा) तुझ को (मा नि क्रन्) नीचा न करें। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (तुभ्यम्) तेरे (क्षत्रेण) [विघ्न से बचाने वाले] राज्य के साथ [हमारा] (सुयमम्) सुन्दर नियम वाला कर्म (अस्तु) होवे, (ते) तेरा (उपसत्ता) उपासक [आश्रित जन] (अनिष्टृतः) अजेय होकर (वर्धताम्) बढ़ता रहे॥३॥

भावार्थ—मनुष्य दूरदर्शी नीतिज्ञ हो कर घात लगाने वाले शत्रुओं से बच कर धर्म के साथ अपनी और प्रजा की उन्नति करें॥ ३॥

अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः।
अनु॒ सूर्यं॑ उ॒षसो॒ अनु॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ वि॑वेश॥

अनु॑। अ॒ग्निः। उ॒षसा॑म्। अग्र॑म्। अ॒ख्य॒त्। अनु॑। अहा॑नि। प्र॒थ॒मः। जा॒त-वे॑दाः। अनु॑। सूर्यः॑। उ॒षसः॑। अनु॑। र॒श्मीन्। अनु॑। द्यावा॑पृथि॒वी इति॑। आ। वि॒वे॒श॥ ४॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले

२—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) (अग्ने) हे सर्वज्ञ (अधि) अधिकृत्य (धारय) पोषय (रयिम्) धनम् (त्वा) परमेश्वरम् (मा नि क्रन्) मन्त्रे घसह्वर०। पा० २।४।८०। करोतेर्लुङि च्लेर्लुक्। नीचैर्मा कार्षुः (पूर्वचित्ताः) प्राग्विचारवन्तः, घातिन इत्यर्थः (निकारिणः) अपकारिणः (क्षत्रेण)—म० २। विघ्नाद् रक्षकेण राज्येन (अग्ने) सर्वव्यापक (सुयमम्) ईषद्दुःसुषु०। पा० ३।३।१२६। सु+यम नियमने—खल्। यथावद् नियमयुक्तं कर्म (अस्तु) (तुभ्यम्) षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वक्तव्या। वा०पा० २।३।६२। तव (उपसत्ता) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—तृच्। उपासकः। आश्रितः (वर्धताम) (ते) तव (अनिष्टृतः) स्तृञ् आच्छादने—क्त। स्तृणातिर्वधकर्मा—निघ० २।१९। अहिंसितः। अजेयः॥

४—(अनु) निरन्तरम् (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वरः (उषसाम्) प्रभातवेलानाम् (अग्रम्) प्रादुर्भावम् (अख्यत्) ख्यातेर्लुङ्। अ० ७।७३।६।

वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्नवस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सब को चलाने वाले परमेश्वर] ने (उषसः) उषाओं में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आ विवेश) प्रवेश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रच कर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्य का उपास्य है ॥ ४ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रतिसूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान

प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि । प्रथमः । जात-वेदाः । प्रति । सूर्यस्य । पुरु-धा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्त्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान करानेवाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुधा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है ॥ ५ ॥

प्रख्यातवान् (अनु) (अहानि) दिनानि (प्रथमः) प्रथमानः (जातवेदाः) अ० १ । ७ । २ । जातानि वस्तूनि वेदयति ज्ञापयतीति सः (अनु) (सूर्यः) सर्वव्यापकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (उषसः) प्रभातकालान् (रश्मीन्) अ० २ । ३२ । १ । व्यापकान् किरणान् (अनु) (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (आ विवेश) समन्तात् प्रविष्टवान् ॥

५—(प्रति) प्रत्यक्षरूपेण (सूर्यस्य) आदित्यमण्डलस्य (पुरुधा) अनेकधा (च) (आ) समन्तात् (ततान) विस्तारयामास ॥ अन्यत् पूर्ववत्-म ०४ ॥

भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचारकर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।
घृतं ते देवीर्नप्त्य1 आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६॥

घृतम्। ते। अग्ने। दिव्ये। सध-स्थे। घृतेन। त्वाम्। मनुः। अद्य। सम्। इन्धे। घृतम्। ते। देवीः। नप्त्यः। आ। वहन्तु। घृतम्। तुभ्यम्। दुह्रताम्। गावः। अग्ने ॥६॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (ते) तेरा (घृतम्) प्रकाश (दिव्ये) दिव्य [सूक्ष्म] कारण में और (सधस्थे) मिलकर ठहरने वाले कार्य रूप जगत् में है, (घृतेन) प्रकाश के साथ वर्त्तमान (त्वा) तुझ को (मनुः) मननशील पुरुष (अद्य) अब (सम्) यथावत् (इन्धे) प्रकाशित करता है। (ते) तेरे (घृतम्) प्रकाश को (देवीः) उत्तम गुणवाली, (नप्त्यः) न गिरनेवाले प्रजायें [हमें] (आ वहन्तु) प्राप्त करावें, (अग्ने) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (गावः) वेद वाणियां (तुभ्यम्) तेरे (घृतम्) प्रकाश को (दुह्रताम्) परिपूर्ण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की सत्ता और शक्ति को कारण और कार्य रूप जगत् में साक्षात् करके संसार को पुरुषार्थी बनावें ॥ ६ ॥

६—(घृतम्) घृ सेके दीप्तौ च–क्त। दीप्तिः (ते) तव (अग्ने) सर्वज्ञ परमेश्वर (दिव्ये) विचित्रे कारणे (सधस्थे) सहसंस्थितिशीले कार्यरूपे संसारे (घृतेन) प्रकाशेन (त्वाम्) (मनुः) मननशीलः पुरुषः (अद्य) इदानीम् (सम्) सम्यक् (इन्धे) ञि इन्धी दीप्तौ, णयर्थः। दीपयति। विज्ञापयति (घृतम्) ज्ञानप्रकाशम् (ते) तव (देवीः) उत्तमगुणयुक्ताः (नप्त्यः) नप्तृने ष्ट्रत्वष्टृ०। उ० २। ९५। नञ्+पत्लृ गतौ–तृच्, ङीप्, छान्दसं रूपम्। न पततीति नप्त्री। नप्त्र्यः। न पतनशीलाः प्रजाः (आ) अभिमुखम् (वहन्तु) प्रापयन्तु (घृतम्) (तुभ्यम्) म० ३। तव (दुह्रताम्।) बहुलं छन्दसि। पा० ७। १। ८। रुडागमः। दुहताम्। प्रपूरयन्तु (गावः) वेदवाचः (अग्ने) हे सर्वव्यापक ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वरुणो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वर नियमोपदेशः—ईश्वर के नियम का उपदेश ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्-सु । ते । राजन् । वरुण । गृहः । हिरण्ययः । मिथः ।
ततः । धृत-व्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (ते) तेरा (हिरण्ययः) तेजोमय (ग्रहः) ग्रहण सामर्थ्य (अप्सु) सब प्राणों में (मिथः) एक दूसरे के साथ [वर्तमान है] । (ततः) उसी से (धृत-व्रतः) नियमों के धारण करनेवाले (राजा) राजा आप (सर्वा) सब (धामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) खोल देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना से पापों को छोड़, धर्म में प्रवृत्त होकर क्लेशों से मुक्त होवें ॥

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः । यदापो
अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

धाम्नः-धाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः । यत् ।
आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम । ततः ।

१—(अप्सु) आपः प्राणाः—दयानन्द भाष्ये यजु० २० । १८ । प्राणेषु (ते) तव (राजन्) ऐश्वर्यवन् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (गृहः) ग्रहण-सामर्थ्यम् (हिरण्ययः) अ० ४ । २ । ८ । तेजोमयः (मिथः) मिथ ज्ञाने—असुन् स च कित् । परस्परम् (ततः) तस्मात् कारणात् (धृतव्रतः) नियम-धारकः (राजा) शासकः (सर्वा) सर्वाणि (धामानि) दधातेर्मनिन् । धीयन्ते बध्यन्ते । बन्धनानि (मुञ्चतु) मोचयतु ॥

वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (इतः) इस (धाम्नोधाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (नः) हमें (मुञ्च) छुड़ा । (यत्) जिस कारण से (आपः) यह प्राण (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ [के तुल्य] हैं, (इति) इस प्रकार से, (वरुण) हे सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर ! (इति) इस प्रकार से, (यत्) जो कुछ (ऊचिम) हमने कहा है, [इसी कारण से] (वरुण) हे दुःखनिवारक ! (नः) हमें (ततः) उस [बन्धन] से (मुञ्च) छुड़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो लोग परमात्मा को बन्धनमोचक जानकर विरुद्ध आचरण से गौके समान अपने और पराये प्राणों की रक्षा करते हैं, वे हृदय की गांठ खुल जाने से सदा आनन्दित रहते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । १८ ॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥३॥

उत् । उ॒त्ऽत॒मम् । व॒रु॒ण॒ । पाश॑म् । अ॒स्मत् । अव॑ । अ॒ध॒मम् । वि । म॒ध्य॒मम् । श्र॒थ॒य॒ । अध॑ । व॒यम् । आ॒दि॒त्य॒ । व्र॒ते । तव॑ । अना॑गसः । अदि॑तये । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम

२—(धाम्नोधाम्नः) म० १ । वीप्सायां द्विर्वचनम् । प्रत्येकबन्धनात् (राजन्) (इतः) अस्मात् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ (मुञ्च) (नः) अस्मान् (यत्) यस्मात् कारणात् (आपः) प्राणाः—दयानन्दभाष्ये यजु० २० । १८ (अघ्न्याः) अ० ३ । ३० । १ । अहन्तव्या गावो यथा (इति) अनेन प्रकारेण (वरुण) सर्वोत्कृष्ट (इति) एवम् (यत्) यत् किञ्चित् (ऊचिम) ब्रूञ—लिट् । वयं कथितवन्तः (ततः) तस्मात् क्लेशबन्धनात् (वरुण) दुःखनिवारक (मुञ्च) पृथक् कुरु (नः) अस्मान् ॥

३—(उत्) ऊर्ध्वम् । उत्कृष्य (उत्तमम्) ऊर्ध्वस्थिम् (पाशम्) बन्धनम्

से (उत्तमम्) ऊंचे वाले (पाशम्) पाश को (उत्) ऊपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अव) नीचे से, और (मध्यमम्) बीचवाले को (वि) विविध प्रकार से (श्रथय) खोल दे। (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्डनीय जगदीश्वर ! (अध) फिर (वयम्) हम लोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः) निरपराधी (स्याम) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके धर्माचरण से भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्लेशों को अलग करके सदा सुखी रहें ॥३

यह मन्त्र ऋग्वेद में है। १। २४। १५ और यजु० १२। १२। और अथर्ववेद में भी है—१८। ४। ६६ ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये। दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

प्र। अस्मत्। पाशान्। वरुण। मुञ्च। सर्वान्। ये। उत्-तमाः। अधमाः। वारुणाः। ये। दुः-स्वप्न्यम्। दुः-इतम्। निः। स्व। अस्मत्। अथ। गच्छेम। सु-कृतस्य। लोकम् ॥४

भाषार्थ—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (ये) जो (उत्तमाः)

(अस्मत्) अस्मत्तः (अव) अधस्तात्। अवकृष्य (अधमम्) नीचस्थम् (वि) विविधम् (मध्यमम्) मध्यस्थम् (श्रथय) श्रथ दौर्बल्ये, चुरादिः, छान्दसो दीर्घः। शिथिलीकुरु। विमोचय (अध) अथ। अनन्तरम् (आदित्य) अ० १। ६। १। आ+दीपी दीप्तौ—यक्। यद्वा। नञ्—दो अवखण्डने—क्तिन्, ततो ण्य-प्रत्यय। सर्वतः प्रकाशमान। अदितिरखण्डनं यस्यास्ति आदित्यः। हे अखण्डनीय (व्रते) वरणीये नियमे (तव) (अनागसः) अ० ७। ७। १ अनपराधिनः (अदितये) अ० २। २८। ४। अदीनायै पृथिव्यै, तद्राज्याय (स्याम) भवेम ॥

४—(प्र) प्रकर्षेण (वरुण) हे दुःखनिवारक परमेश्वर (मुञ्च) मोचय।

ऊंचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे [फन्दे] (वारुणाः) दोष निवारक वरुण परमेश्वर से आये हैं। (दुष्वप्न्यम्) नींद में उठे कुविचार और (दुरितम्) विघ्न को (अस्मत्) हम से (निः स्व) निकाल दे,(अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ-जो मनुष्य भूत भविष्यत् क्लेशों का विचार करके दुष्कर्मों से बचते हैं, वे धर्मात्माओं में सत्कार पाते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है। अ० ६। १२१। १॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः;२,३ इन्द्रो देवता ॥१ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह । विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाधृष्यः । जात-वेदाः । अमर्त्यः । वि-राट् । अग्ने । क्षत्र-भृत् । दीदिहि । इह । विश्वाः । अमीवाः । प्र-मुञ्चन् । मानुषीभिः । शिवाभिः। अद्य । परि । पाहि । नः । गयम् ॥१

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्रतापी राजन् (अनाधृष्यः) सब प्रकार अजेय, (जातवेदाः) बड़ा ज्ञानवान् वा धनवान्,(अमर्त्यः) अमर [यशस्वी], (विराट्) बड़ा ऐश्वर्यवान्, (क्षत्रभृत्) राज्यपोषक होकर तू (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो। (विश्वाः) सब (अमीवाः) पीड़ाओं को (प्रमुञ्चन्)

अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ६। १२१। १॥

१—(अनाधृष्यः) ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः। ३। १। ११० । ञि धृषा प्रागल्भ्ये पराभवे च—क्यप्। धर्षितुमयोग्यः। अजेयः (जातवेदाः) अ० १।७। २। प्रसिद्धज्ञानः। बहुधनः (अमर्त्यः) अ० ४। ३७। १२। अमरः। यशस्वी (विराट्) राजतिरैश्वर्यकर्मा-निघ० २। २१ क्विप्। विविधैश्वर्यवान् (अग्ने) हे प्रतापिन् राजन् (क्षत्रभृत्) राज्यपोषकः (दीदिहि) अ० ७। ७४। ४।

छुड़ाता हुआ तू (मानुषीभिः) मनुष्यों को हितकारक (शिवाभिः) मुक्तियों के साथ (अद्य) अब (नः) हमारे (गयम्) घर की (परि) सब ओर से (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ, प्रतापी राजा प्रजाओं को कष्टों से मुक्त करके सदा सन्तुष्ट रख उन्नति करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है–२७ । ७ ॥

इन्द्रं क्षत्रम॒भि वा॒मम॒ोजोऽजा॑यथा वृषभ चर्षणी॒नाम्। अपा॑नुदो॒ जन॑ममित्र॒ायन्त॑मु॒रुं दे॒वेभ्यो॑ अकृणोरु लो॒कम्॥२

इन्द्र॑ । क्ष॒त्रम् । अ॒भि । वा॒मम् । ओज॑ः । अजा॑यथाः । वृ॒ष॒भ॒ । च॒र्ष॒णी॒नाम् । अप॑ । अ॒नु॒दः॒ । जन॑म् । अ॒मि॒त्र॒ऽयन्त॑म् । उ॒रुम् । दे॒वेभ्य॑ः । अ॒कृ॒णोः॒ । ऊं॒ इति॑ । लो॒कम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (चर्षणीनाम् वृषभ) हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! (वामम्) उत्तम (क्षत्रम्) राज्य और (ओजः अभि) पराक्रम के लिये (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है । तू ने (अमित्रयन्तम्) अमित्र समान आचरण वाले (जनम्) लोगों को (अप अनुदः) हटा दिया है (उ) और (देवेभ्यः) विजय चाहने वालों के लिये (उरुम्) विस्तीर्ण (लोकम्)

दीप्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (विश्वाः) सर्वाः (अमीवाः) अ० ७ । ४२ । १ । पीड़ाः (प्रमुञ्चन्) निवारयन् (मानुषीभिः) अ० ४ । ३२ । २ । मनुर्हिताभिः (शिवाभिः) अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलकारिकाभिः क्रियाभिः । मुक्तिभिः (अद्य) इदानीम् (परि) (पाहि) (नः) अस्माकम् (गयम्) अ० ६ । ३ । ३ । गृहम् ॥

२—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं राज्यम् (अभि) अभिलक्ष्य (वामम्) प्रशस्यम्—निघ० ३ । ८ (ओजः) पराक्रमम् (अजायथाः) उत्पन्नोऽभवः (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम्—निघ० २ । ३ । (अप अनुदः) अपागमयः (जनम्) लोकम् (अमित्रयन्तम्) उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । अमित्र—क्यच् , शतृ । नच्छन्दस्यपुत्रस्य । पा० ७ । ४ । ३५ । इति ईत्वस्य आत्वस्य च निषेधः । सांहितिको दीर्घः । अमित्रः शत्रुः स इवाचरन्तम् (उरुम्) विस्तीर्णम् (देवेभ्यः) विजिगीषुभ्यः (अकृणोः) अकर्षीः (उ)

स्थान (अकृणोः) किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा के पराक्रमी होने से सेनापति लोग और प्रजागण भी ओजस्वी होते हैं ॥ २ ॥

मह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । ३ ॥

मृगो न भीमः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॒ आ ज॑गम्या॒त् पर॑स्याः। सृ॒कं सं॒शाय॑ प॒विमि॑न्द्र ति॒ग्मं वि शत्रू॑न् ताढि॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरि-स्थाः । परा-वतः । आ । जगम्यात् । परस्याः । सृकम् । सम्-शाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् । ताढि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (भीमः) भयानक (कुचरः) टेढ़े चलने वाले [ऊंचे नीचे, दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) [आखेट ढूंढ़ने वाले] सिंह आदि के समान आप (परावतः) समीप देश और (परस्याः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्) आते रहें । (तिग्मम्) उत्साह वाले (सृकम्) बाण और (पविम्) वज्र को (संशाय) तीक्ष्ण करके (शत्रून्) शत्रुओं को (वि) विशेष कर (ताढि) ताड़ना कर और (मृधः) हिंसकों को (वि नुदस्व) निकाल दे ॥ ३ ॥

समुच्चये (लोकम्) स्थानम् ॥

३—(सृकम्) सृवृभू० । उ० ३ । ४१ । सृ गतौ—कक् । बाणम् (संशाय) शो तनूकरणे—ल्यप् । तीक्ष्णीकृत्य (पविम्) वज्रम्—निघ० २ । २० । (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (तिग्मम्) अ० ४ । २७ । ७ । तिग्म तेजतेरुत्साहकर्मणः —निघ० १० । ६ । उत्साहवन्तम् (वि) विशेषेण (ताढि) तड आघाते-लोट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । हेरार्धधातुकत्वाद् णिलोपः । ताडय (वि) विविधम् (मृधः) हिंसकान् (नुदस्व) प्रेरय । अन्यद् गतम्—अ० ७ । २६ । २ ॥

भावार्थ—राजा सिंह के समान पराक्रमी होकर शस्त्र अस्त्रों को तीक्ष्ण करके शत्रुओं को जीत प्रजा को सुखी रक्खे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । २ । और यजु० १८ । ७१ । इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७ । २६ । २ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१ ॥ तार्क्ष्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ १ ॥

त्यम् । ऊं इति । सु । वाजिनम् । देव-जूतम् । सहः-वानम् । तरुतारम् । रथानाम् । अरिष्ट-नेमिम् । पृतना-जिम् । आशुम् । स्वस्तये । तार्क्ष्यम् । इह । आ । हुवेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्यम् उ) उस ही (वाजिनम्) अन्नवाले (देवजूतम्) विद्वानों से प्रेरणा किये गये, (सहोवानम्) महाबली, (रथानाम्) रथों के [जल थल और आकाश में] (तरुतारम्) तिराने [चलाने] वाले, (अरिष्टनेमिम्) अटूट वज्रवाले, (पृतनाजिम्) सेनाओं को जीतने वाले (आशुम्)

१—(त्यम्) तं प्रसिद्धम् (उ) एव (सु) पूजायाम् (वाजिनम्) अन्नवन्तम् (देवजूतम्) जु गतौ—क्त । जूर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा—निरु० १० । २८ । विद्वद्भिः प्रेरितम् (सहोवानम्) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । वा० पा० ५ । २ । १०९ । सहस्—वनिप् । सहस्वन्तं बलवन्तम् (तरुतारम्) ग्रसितस्कभित० । पा० ७ । २ । ३४ । तरतेस्तृचि उडागमः । तरीतारम् । तारयितारम् (रथानाम्) यानानाम् (अरिष्टनेमिम्) रिष हिंसायाम्—क्त । नियो मिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मि । नेमिर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । अच्छिन्नवज्रम् (पृतनाजिम्) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । जि जये—इण्, स च डित् । शत्रुसेनानां जेतारम् (आशुम्) अ० २ । १४ । ६ । अशूङ् व्याप्तौ संघाते च । उण् । व्यापनशीलम् (स्वस्तये) कल्याणाय (तार्क्ष्यम्) तृक्ष गतौ—घञ्, बाहुलकः

२५

व्यापने वाले, (तार्क्ष्यम्) महावेगवान् राजा को (इह) यहां पर (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिये (सु) आदर से (आ) भले प्रकार (हुवेम) हम बुलावें ॥१॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण उत्तम गुणी राजा को अपनी रक्षा के लिये आवाहन करते रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १७८ । १ । साम० पू० ४ । ५ । १, और निरुक्त १० । २८ । में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्म्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्कृणोतु॥१॥

त्रातारम् । इन्द्रम् । अवितारम् । इन्द्रम् । हवे-हवे । सु-हवम् । शूरम् । इन्द्रम् ॥ हुवे । नु । शक्रम् । पुरु-हूतम् । इन्द्रम् । स्वस्ति । नः । इन्द्रः । मघ-वान् । कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रातारम्) पालन करने वाले (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले राजा को, (अवितारम्) तृप्त करने वाले (इन्द्रम्) सभाध्यक्ष [राजा] को, (हवेहवे) संग्राम संग्राम में (सुहवम्) यथावत् संग्राम वाले, (शूरम्) शूर (इन्द्रम्) सेनापति [राजा] को, (शक्रम्) शक्तिमान्, (पुरुहूतम्) बहुत [लोगों] से पुकारे गये (इन्द्रम्) प्रतापी राजा को (नु) शीघ्र (हुवे) मैं बुलाता हूं,

---

काद् वृद्धिः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । तार्क्ष –यत् । तार्क्ष्ये वेगे साधुम् । वेगवन्तं राजानम् । तार्क्ष्योऽश्वनाम-निघ० १ । १४ । तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षत्यश्नोतेर्वा-निरु० १० । २७ । (इह) अत्र (आ हुवेम) अ० ७ । ४० । २ । आह्वयेम ॥

१—(त्रातारम्) त्रैङ् पालने—तृच् । पालकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (अवितारम्) तर्पयितारम् (इन्द्रम्) सभाध्यक्षम् (हवेहवे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (सुहवम्) यथावत् सङ्ग्रामिणम् (शूरम्) पराक्रमिणम्

(मघवान्) बड़ा धन वाला (इन्द्रः) राजा (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) मङ्गल (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य धर्मात्मा, न्यायकारी, जितेन्द्रिय, शूरवीर राजा का सदा आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ११; यजु० २० । ५०; और साम० पू० ४ । ५ । २ ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१ रुद्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरमहिमोपदेशः—ईश्वर की महिमा का उपदेश ॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

यः । अग्नौ । रुद्रः । यः । अप्-सु । अन्तः । यः । ओषधीः । वीरुधः । आ-विवेश ॥ यः । इमा । विश्वा । भुवनानि । चक्लृपे । तस्मै । रुद्राय । नमः । अस्तु । अग्नये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (रुद्रः) रुद्र, ज्ञानवान् परमेश्वर (अग्नौ) अग्नि में, (यः) जो (अप्सु अन्तः) जल के भीतर है, (यः) जिसने (ओषधीः) उष्णता रखने वाली अन्न आदि ओषधियों में और (वीरुधः) विविध प्रकार

(इन्द्रम्) सेनापतिम् (हुवे) आह्वयामि (नु) शीघ्रम् (शक्रम्) अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमन्तम् (पुरुहूतम्) बहुभिःपुरुषैराहूतम् (इन्द्रम्) प्रतापिनम् (स्वस्ति) सुखम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यः (मघवान्) अ० ६ । ५८ । १ धनवान् (कृणोतु) करोतु ॥

१—(यः) (अग्नौ) सूर्यविद्युदादिरूपे (रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । रु गतौ—क्विप्, तुक्, रो मत्वर्थे । ज्ञानवान् परमेश्वरः (यः) (अप्सु) जलेषु (अन्तर्) मध्ये (यः) (ओषधीः) अ० १ । २३ । १ । उष्णत्वधारिका अन्नादिरूपाः (वीरुधः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला लतादिरूपाः (आविवेश)

उगने वाली बेलों वा बूटियों में (आविवेश) प्रवेश किया है। (यः) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों [उपस्थित पदार्थों] को (चक्लृपे) रचा है, (तस्मै) उस (अग्नये) सर्वव्यापक (रुद्राय) रुद्र, दुःखनाशक परमेश्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो अद्भुत स्वरूप, सर्वप्रकाशक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा है, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ बृहती छन्दः ॥

कुसंस्कारनाशोपदेशः—कुसंस्कार के नाश का उपदेश ॥

अपे॒ह्य॑रि॒र॒स्यरि॒र्वा अ॑सि । वि॒षे वि॒षम॑पृक्था वि॒षमिद्वा अ॑पृक्थाः । अहि॑मे॒वाभ्यपे॑हि॒ तं ज॑हि ॥ १ ॥

अप॑ । इ॒हि॒ । अरिः॑ । अ॒सि॒ । अरिः॑ । वै । अ॒सि॒ ॥ वि॒षे । वि॒षम् । अ॒पृ॒क्थाः॒ । वि॒षम् । इत् । वै । अ॒पृ॒क्थाः॒ ॥ अहि॑म् । ए॒व । अ॒भि॒-अपे॑हि । तम् । ज॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विष !] (अप इहि) चला जा, (अरिः असिः) तू शत्रु है, (अरिः) तू शत्रु (वै) ही (असि) है। (विषे) विष में (विषम्) विष को (अपृक्थाः) तू ने मिला दिया है, (विषम्) विष को (इत्) ही (वै) ही (अपृक्थाः) तू ने मिला दिया है, (अहिम्) सांप के पास (एव) ही

प्रविष्टवान् (यः) (इमा) दृश्यमानानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) भूतजातानि । लोकान् (चक्लृपे) कृप मिश्रीकरणे चिन्तने च,—लिट् । कृपो रो लः। पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम्, अभ्यासस्य सांहतिको दीर्घः । रचितवान् (तस्मै) (रुद्राय) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे-क्विप्, तुक्+रु वधे-ड । दुःखनाशकाय (नमः) नतिः (अस्तु) (अग्नये) सर्वव्यापकाय ॥

१—(अपेहि) अपगच्छ (अरिः) हिंसकः शत्रुः (असि) (वै) खलु (असि) (विषे) (विषम्) (अपृक्थाः) पृची सम्पर्के लुङ् । संयोजितवानसि (इत्) एव (अहिम्) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारं सर्पम् (एव) (अभ्यपेहि)

(अभ्यपेहि) तू चला जा, (तम्) उसको (जहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसें विष में विष मिलने से अधिक प्रचण्ड हो जाता है, वैसे ही मनुष्य की इन्द्रियां एक तो आप ही पाप की ओर चलायमान होती हैं, फिर कुसंस्कार वा कुसंगति पाकर अधिक प्रचण्ड विषैली हो जाती हैं। जैसे वैद्य विष को विष से मारता है, वैसे ही विद्वान् जितेन्द्रियता से इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥ १ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१-४ ॥ १, २ अग्निः; ३ आपः; ४ समिद् देवता ॥

१-३ अनुष्टुप्; ४ गायत्री ॥

विद्वत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों की संगति का उपदेश ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि । पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्ष्महि ॥ पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा ॥१

भाषार्थ—(दिव्याः) दिव्य गुण स्वभाव वाले (अपः) जलों [के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों] को (अचायिषम्) मैं ने पूजा है (रसेन) पराक्रम से (सम् अपृक्ष्महि) हम संयुक्त हुये हैं। (अग्ने) हे विद्वान् ! (पयस्वान्) गति वाला मैं (आ अगमम) आया हूं, (तम्) उस (मा) मुझको (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर ॥ १॥

अभिलक्ष्य समीपं गच्छ (तम्) अहिम् (जहि) मारय । अन्यद् गतम् ॥

१—(अपः) जलानि । जलानीव शोधकान् विदुषः (दिव्याः) दिव्यगुणस्वभावाः (अचायिषम्) चायृ पूजानिशामनयोः—लुङ् । पूजितवानस्मि (रसेन) पराक्रमेण (सम् अपृक्ष्महि) पृची सम्पर्के—लुङ् । संगता अभूम (पयस्वान्) पय गतौ—असुन् । गतिमान् । उद्योगी (अग्ने) हे विद्वन् (आ अगमम्) गमेर्लुङ् । आगतोऽस्मि (तम्) तादृशम् (मा) माम् (संसृज) संयोजय (वर्चसा) ब्रह्मवर्चसेन ॥

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २२ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा । विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ २ ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्र-जया । सम् । आयुषा ॥ विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषि-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) मुझको (वर्चसा) [ब्रह्म विद्या के] तेज से (सम्) अच्छे प्रकार (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार और (आयुषा) जीवन से (सम् सृज) अच्छी प्रकार संयुक्त कर । (देवाः) विद्वान् लोग (अस्य) इस (मे) मुझको (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋषिभिः सह) ऋषियों के साथ [मुझे] (विद्यात्) जाने ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरु जनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ २ ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ॥ यत् । च । अभि-दुद्रोह । अनृतम् । यत् । च । शेपे । अभीरुणम् ॥ ३ ॥

२—(सम्) सम्यक् (मा) माम् (अग्ने) विद्वन् (वर्चसा) वेदाध्ययनादितेजसा (सृज) संयोजय (सम्) (प्रजया) (सम्) (आयुषा) जीवनेन (विद्युः) जानीयुः (मे) द्वितीयार्थे षष्ठी । माम् (अस्य) एनम् (देवाः) विद्वांसः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् । आचार्यः (विद्यात्) जानीयात् (ऋषिभिः) अ० २ । ६ । १ । आप्तैः । मुनिभिः ॥

भावार्थ—(आपः) हे जल [के समान शुद्धि करने वाले विद्वानो !] (इदम्) इस [सब] को (प्रवहत) बहा दो, (यत्) जो कुछ [मुझ में] (अवद्यम्) अकथनीय [निन्दनीय] (च च) और (मलम्) मलिन कर्म है। (च) और (यत्) जो कुछ (अनृतम्) झूंठ मूंठ (अभिदुद्रोह) बुरा चीता है, (च) और (यत्) जो कुछ (अभीरुणम्) निर्भय [निरपराधी] पुरुष को (शेपे) मैंने दुर्वचन कहा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्धाचारी विद्वानों के सत्सङ्ग से अपने आचरण को सुधारें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—६ । १७ ॥

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥

एधः । असि । एधिषीय । सम्-इत् । असि । सम् । एधिषीय ।

तेजः । असि । तेजः । मयि । धेहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वन् !] तू (एधः) बढ़ा हुआ (असि) है, (एधिषीय) मैं बढ़ूं, (समित्) तू प्रकाशमान (असि) है, मैं (सम्) ठीक ठीक (एधिषीय) प्रकाशमान होऊं । (तेजः असि) तू तेज है, (तेजः) तेज को

३—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (आपः) जलानीव शुद्धिकरा विद्वांसः (प्रवहत) अपनयत (अवद्यम्) अकथनीयं निन्द्यम् (च च) समुच्चये (मलम्) अ० २ । ७ । १ । मलिनं कर्म (यत्) यत् किञ्चित् (अभिदुद्रोह) द्रुह जिघांसायाम्-लिट् । अनिष्टं चिन्तितवानस्मि (अनृतम्) यथा तथा । असत्यम् (शेपे) शप आक्रोशे-लिट् । दुर्वचनं कथितवानस्मि (अभीरुणम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । ञि भी भये-उनन्, स च कित्, रुडागमः । निर्भयम् । अनपराधिनम् ॥

४—(एधः) एध वृद्धौ—पचाद्यच् । प्रवृद्धः (असि) (एधिषीय) एध वृद्धौ—आशीर्लिङ् । अहं वर्धिषीय (समित्) ञि इन्धी दीप्तौ—क्विपि, नकारलोपः । प्रकाशमानः (असि) (सम्) सम्यक् (एधिषीय) ञि इन्धी दीप्तौ आशीर्लिङि छान्दसो नकारलोपो गुणश्च । इन्धिषीय । अहं समिद्धः प्रदीप्तः भूया-

(मयि) मुझ में (धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध विद्वानों से सुशिक्षा पाकर उन्नति करते हुये तेजस्वी होवें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ जगती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।
ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराण-वत् । व्रततेः-इव । गुष्पितम् ॥
ओजः । दासस्य । दम्भय ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (पुराणवत्) पुराण [पुराने नियम] के अनुसार (दासस्य) दुःखदायी डाकू के (ओजः) बल को (व्रततेः) बेल के (गुष्पितम् इव) गांठ के समान (अपि) निश्चय करके (वृश्च) काट दे और (दम्भय) हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ-राजा चोर आदि दुष्टों का नाश करके प्रजा को सुखी रक्खे॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—८ । ४० । ६ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहे । म्लाप-

सम् (तेजः) प्रकाशस्वरूपः (असि) (तेजः) प्रकाशम् (मयि) ब्रह्मचारिणि (धेहि) धारय ॥

१—(अपि) अवधारणे (वृश्च) छिन्धि (पुराणवत) पुरा नीयते पुराणम् । पुरा+णीञ् प्रापणे-ड । णत्वं च, वतिः सादृश्ये । पुरातननियमवत् (व्रततेः) अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । वृतु वर्तने-अति । व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च ततनाच्च-निरु० ६ । २८ लतायाः (इव) यथा (गुष्पितम्) गुपू रक्षणे—क्त, षकारश्छान्दसः । गुपितम् । लताग्रन्थिम् (ओजः) बलम् (दासस्य) हिंसकस्य (दम्भय) दभि प्रेरणे । प्रेरय । निःसारय ॥

यामि भ्रुजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । सम्-भृतम् । वसु । इन्द्रेण । वि । भजामहै ॥ म्लापयामि । भ्रुजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते ॥२॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्यवाले राजा के साथ (अस्य) इस [शत्रु] के (संभृतम्) एकत्र किये हुये (तत्) उस (वसु) धन को (वि भजामहै) बांट लेवें । [हे शत्रु !] (वरुणस्य) शत्रु निवारक राजा की (व्रतेन) व्यवस्था से (ते) तेरी (भ्रजः) तमक और (शिभ्रम्) ढिठाई को (म्लापयामि) मैं मेटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा और राजपुरुष यथान्याय शत्रु को धनदण्ड आदि देकर निर्बल करदें ॥ २ ॥

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः । अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः । यदाततमव तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेपः । अप-अयातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ॥ अवस्थस्य । क्नदि-वतः । शाङ्कुरस्य । नि-तोदिनः ॥ यत् । आ-ततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्-ततम् । नि । तत् । तनु ॥३

भाषार्थ—(अवस्थस्य) हिंसा में रहने वाले, (क्नदिवतः) गाली बकने वाले, (शाङ्कुरस्य) शङ्का उत्पन्न करनेवाले, (नितोदिनः) नित्य सताने

२—(वयम्) धार्मिकाः (तत्) (अस्य) शत्रोः (संभृतम्) संगृहीतम् (वसु) धनम् (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा सह (वि भजामहै) विभक्तं करवामहै (म्लापयामि) म्लै हर्षक्षये, एयन्तात् पुगागमः । नाशयामि (भ्रजः) टु भ्राजृ दीप्तौ—असुन्, ह्रस्वः । दीपनम् (शिभ्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शीभृ कत्थने—रक्, ह्रस्वः । आत्मश्लाघाम् (वरुणस्य) शत्रुनिवारकस्य राज्ञः (व्रतेन) धर्मणा । व्यवस्थया (ते) तव ॥

३—(यथा)येन प्रकारेण (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । पराक्रमः (अपायातै) अय गतौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । आडागमः । वैतोऽन्यत्र । पा०

वाले पुरुष का (शेपः) पराक्रम (यथा) जिस प्रकार (अपायातै) मिट जावे (च) और (स्त्रीषु) स्तुति योग्य स्त्रियों [वा उनके समान सज्जन प्रजाओं] में (अनावयाः) न पहुंचने वाला (असत्) होवे, [उसी प्रकार हे राजन्!] (यत्) जो कुछ [उसका बल] (आततम्) फैला हुआ है, (तत्) उसे (अव तनु) संकुचित करदे और (यत्) जो कुछ [सामर्थ्य] (उत्ततम्) ऊंचा फैला है, (तत्) उसे (नि तनु) नीचा कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा सज्जनों के सतानेवाले अत्याचारियों को सदा वश में रक्खे ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य

३ । ४ । ९६ । एकारस्य ऐकारः । अपगच्छेत् (स्त्रीषु) अ० १ । ८ । १ । स्तूयते सा स्त्री, ष्टुञ् स्तुतौ-ड्रट्, ङीप् । स्तुत्यासु नारीषु यद्वा ताभिस्तुल्यासु सत्प्रजासु (अनावयाः) अन्+आङ्+वी गतौ—असुन् । अनागमनीयः (अवस्थस्य) अव हिंसायाम्—अच्+तिष्ठतेः—क । हिंसने स्थितिशीलस्य (क्रदिवतः) खनिकष्यज्यसि० । उ० ४ । १४० । क्रद आह्वानरोदनयोः—इ प्रत्ययः, मतुप्, रस्य नकारः, सांहितिको दीर्घः । संज्ञायाम् । पा० ८ । २ । ११ । मस्य वः । दुर्वचनशीलस्य (शाङ्करस्य) मन्दिवाशिमथि० । उ० १ । ३८ । शकि संशये, अन्तर्गतण्यर्थः—उरच् स्वार्थेऽण् । शङ्कोत्पादकस्य (नितोदिनः) तुद व्यथने-णिनि । नित्यपीडकस्य (यत्) सामर्थ्यम् (आततम्) आयतम् (तत्) (अवतनु) सङ्कोचय (यत्) (उत्ततम्) ऊर्ध्वविस्तृतम् (तत्) सामर्थ्यम् (नितनु) नितनं नीचीनं कुरु ॥

पतयः स्याम ॥ १ ॥

इन्द्रः । सु-त्रामा । स्व-वान् । अवः-भिः । सु-मृडीकः । भवतु । विश्व-वेदाः ॥ बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सु-वीर्यस्य । पतयः । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बहुत से ज्ञाति पुरुषों वाला, (विश्ववेदाः) बहुत धन वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (अवोभिः) अनेक रक्षाओं से (सुमृडीकः) अत्यन्त सुख देनेवाला (भवतु) होवे । वह (द्वेषः) बैरियों को (बाधताम्) हटावे, (नः) हमारे लिये (अभयम्) निर्भयता (कृणोतु) करे और हम (सुवीर्यस्य) बड़े पराक्रम के (पतयः) पालन करनेवाले (स्याम) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों को नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । १२ । तथा १० । १३१ । ६ । और यजु०—२० । ५१ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु । तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (सुत्रामा) त्रैङ् पालने—मनिन् । अतिरक्षकः (स्ववान्) स्वा ज्ञातयः । प्रशस्तज्ञातियुक्तः (अवोभिः) रक्षणैः (सुमृडीकः) बहुसुखयिता (विश्ववेदाः) वेदांसि धनानि ज्ञानानि वा । बहुधनः । बहुज्ञानः । (बाधताम्) निवारयतु (द्वेषः) द्विष अप्रीतौ—विच् । द्वेष्टॄन् (अभयम्) निर्भयत्वम् (नः) अस्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु (सुवीर्यस्य) अतिपराक्रमस्य (पतयः) पालकाः (स्याम) भवेम ॥

सः । सु-त्रामा । स्व-वान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः । सनुतः । युयोतु ॥ तस्य । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बड़ा धनी, (इन्द्रः) महा प्रतापी राजा (अस्मत्) हम से (आरात् चित्) बहुत ही दूर (द्वेषः) शत्रुओं को (सनुतः) निर्णय पूर्वक (युयोतु) हटावे । (वयम्) हम लोग (तस्य) उस (यज्ञियस्य) पूजा योग्य राजा की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करनेवाली (सौमनसे) प्रसन्नता में (स्याम) रहें ॥ १

भावार्थ—सब मनुष्य प्रजारक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रहकर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–६ । ४७ । १३ । तथा १० । १३१ । ७ । और यजु० २० । ५२ ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शूरलक्षणोपदेशः—शूरों के लक्षणों का उपदेश ॥

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः ।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ १ ॥

इन्द्रेण । मन्युना । वयम् । अभि । स्याम । पृतन्यतः ॥ घ्नन्तः । वृत्राणि । अप्रति ॥ १ ॥

१—(सः) प्रसिद्धः (सुत्रामा) सुरक्षकः (स्ववान्) गतमन्त्रे । महाधनः (इन्द्रः) प्रतापी राजा (अस्मत्) अस्मत्तः (आरात्) दूरे (चित्) एव (द्वेषः) गतमन्त्रे । शत्रून् (सनुतः) स्वरादि निपातमव्ययम् । पा० १ । १ । ३७ । अव्ययसंज्ञा । सनुतः–निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३ । २५ । निर्णयपूर्वकम् । निश्चयीकृतम् (युयोतु) यौतेः शपः श्लुः । निवारयतु (तस्य) (वयम्) (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (यज्ञियस्य) पूजार्हस्य (अपि) (भद्रे) कल्याणकरे (सौमनसे) सुमनसो भावे । प्रसन्नतायाम् (स्याम) ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) प्रतापी सेनापति के साथ और (मन्युना) क्रोध के साथ (वृत्राणि) [घेरनेवाले] सेनादलों को (अप्रति) बेरोक (घ्नन्तः) मारते हुये (वयम्) हम लोग (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वालों को (अभि स्याम्) हरा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ-शूर सेनानी के साथ समस्त सेना शूर होकर शत्रुओं को मारे॥१॥

सूक्तम् ८४ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्ञःस्तुत्युपदेशः—राजा की स्तुतिका उपदेश ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अव । सोमम् । नयामसि ॥ यथा । नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । सम्-मनसः । करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवम्) दृढ़ स्वभाव (सोमम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) आत्मदान वा भक्ति के साथ (अव नयामसि) हम स्वीकार करते हैं । (यथा) जिस से [वह] (इन्द्रः) प्रतापी राजा (नः) हमारे लिये (केवलीः) सेवास्वभाव वाली (विशः) प्रजाओं को (संमनसः) एक मन (करत्) कर देवे ॥ १ ॥

१—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सेनापतिना (मन्युना) क्रोधेन (वयम्) सैनिकाः (अभि स्याम) अभिभवेम (पृतन्यतः) अ० १ । २१ । २ । पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् (घ्नन्तः) मारयन्तः (वृत्राणि) । आवारकाणि सेनादलानि (अप्रति) अप्रतिपक्षम् ॥

१—(ध्रुवम्) ध्रु स्थैर्ये—अच् । स्थिरम् (ध्रुवेण) दृढेन (हविषा) आत्मदानेन (सोमम्) षु ऐश्वर्ये—मन् । ऐश्वर्यवन्तम् (अव नयामसि) स्वीकुर्मः (यथा) येन प्रकारेण (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) प्रतापी (केवलीः) अ० ३ । १८ । २ केवल-ङीप् । सेवास्वभावाः । सेवनीयाः (विशः) प्रजाः (संमनसः) समानमनस्काः (करत्) कुर्यात्

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वान् राजा का अभिषेक करके प्रार्थना करें कि सब प्रजा को परस्पर मिलाकर प्रसन्न रक्खे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७३ । ६ । और यजु० ७ । २५ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ गृध्रौ देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधनिवारणोपदेशः—काम और क्रोध के निवारण का उपदेश ॥

उद॑स्य श्यावौ वि॑थुरौ गृध्रौ द्याम॑िव पेततुः । उच्छो॑चनप्रशो॑चनावस्योच्छोच॑नौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्-इव । पेततुः ॥ उच्छोचन-प्रशोचनौ । अस्य । उत्-शोचनौ । हृदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [जीव]के (श्यावौ) दोनों गति शील (विथुरौ) व्यथा देने वाले, (गृध्रौ) बड़े लोभी [काम क्रोध] (द्याम् इव) आकाश को जैसे (उत् पेततुः) उड़ गये हैं । (उच्छोचनप्रशोचनौ) अत्यन्त दुखाने वाले और सब ओर से दुखाने वाले दोनों(अस्य) इसके (हृदः)हृदय के(उच्छोचनौ)अत्यन्त दुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोधके वशीभूत होकर बड़ी बड़ी व्यर्थ कल्पनायें करके सदा दुखी रहते हैं ॥ १ ॥

१—(उत्) ऊर्ध्वम् (अस्य) जीवस्य (श्यावौ) अ० ५ । ५ । ८ । गतिशीलौ । कृष्णपीतवर्णौ वा (विथुरौ) व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च । उ० १ । ३९ । व्यथ ताडने-उरच्, स च कित् । व्यथनशीलौ । चोरौ (गृध्रौ) सुसूधाञ् गृधिभ्यः क्रन् । उ०२ । २४ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्-क्रन् । अतिलोभिनौ कामक्रोधौ (द्याम्) आकाशम् (इव)यथा (पेततुः) पत्लृ पतने-लिट् । गतवन्तौ (उच्छोचनप्रशोचनौ) शोचयतेर्नन्द्यादित्वाल् ल्युः । उच्छोचयति अत्यन्तं दुःखयतीति उच्छोचनः, प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः, एवंविधौ कामक्रोधौ (अस्य) (प्राणिनः) (उच्छोचनौ) अत्यन्तं शोचयितारौ (हृदः) हृदयस्य ॥

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अहम् । एनौ । उत् । अतिष्ठिपम् । गावौ । श्रान्तसदौ-इव ॥ कुर्कुरौ-इव । कूजन्तौ । उत्-अवन्तौ । वृकौ-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (एनौ) इन दोनों को (उत् अतिष्ठिपम्) उठा दिया है, (इव) जैसे (श्रान्तसदौ) थक कर बैठे हुये (गावौ) दो बैलों को, (इव) जैसे (कूजन्तौ) घुरघुराते हुये (कुर्कुरौ) [कुर कुर करने वाले] कुत्तों को, और (इव) जैसे (उदवन्तौ) दो घुस आने वाले (वृकौ) भेड़ियों को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोध रूप शत्रुओं को विचार पूर्वक तुरन्त हटावें ॥ २ ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥ ३ ॥

आ-तोदिनौ । नि-तोदिनौ । अथो इति । सम्-तोदिनौ । उत ॥ अपि । नह्यामि । अस्य । मेढ्रम् । यः । इतः । स्त्री । पुमान् । जभार ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अथो) और भी (आतोदिनौ) दोनों सब ओर से सताने वालों, (नितोदिनौ) नित्य सताने वालों, (उत) और (संतोदिनौ) मिलकर

२—(अहम्) विद्वान् (एनौ) पूर्वोक्तौ गृध्रौ कामक्रोधौ (उदतिष्ठिपम्) तिष्ठतेर्ण्यन्ताल् लुङि चङि रूपम् । उत्थापितवानस्मि । अपसारितवानस्मि (गावौ) वृषभौ (श्रान्तसदौ) श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ निषीदन्तौ (कुर्कुरौ) कुर शब्दे—क्विप् + कुर शब्दे—क । कुरमिति शब्दं कुर्वन्तौ श्वानौ (इव) (कूजन्तौ) ध्वनिं कुर्वन्तौ (उदवन्तौ) अव प्रवेशे—शतृ । उद्गत्य प्रविशन्तौ (वृकौ) अ० ४।३।१। अरण्यश्वानौ (इव) ॥

३—(आतोदिनौ) तुद व्यथने-णिनि । सर्वतो व्यथनशीलौ (नितोदिनौ)

सताने वालों को (इतः) यहां पर [हमारे बीच] (यः) जिस किसी (स्त्री) स्त्री [वा] (पुमान्) पुरुष ने (जभार) स्वीकार किया है, (अस्य) उसके (मेढ्रम्) सेचनसामर्थ्य [वृद्धि शक्ति] को (अपि) सर्वथा (नह्यामि) मैं बांधता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष काम क्रोध में फंस जाते हैं, वे अनेक पाप बन्धनों में पड़कर शक्तिहीन और वृद्धिहीन होकर कष्ट भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९६ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधशान्त्युपदेशः—काम और क्रोध की शान्ति का उपदेश ॥

असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः । आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

असदन् । गावः । सदने । अपप्तत् । वसतिम् । वयः ॥ आऽस्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाम्नि । वृक्कौ । अतिष्ठिपम् ॥१॥

भाषार्थ—(गावः) गौयें (सदने) बैठक में (असदन्) बैठ गयी हैं, (वयः) पक्षी ने (वसतिम्) घोंसले में (अपप्तत्) बसेरा लिया है । (पर्वताः) पहाड़ (आस्थाने) विश्राम स्थान पर (अस्थुः) ठहर गये हैं, (वृक्कौ) दोनों रोक डालने वाले वा रोकने योग्य [काम क्रोध] को (स्थाम्नि) स्थान पर

नितरां व्यथयन्तौ (अथो) अनन्तरम् (सन्तोदिनौ) सम्भूय व्यथाकारिणौ (उत) अपि (अपि) सर्वथा (नह्यामि) बध्नामि (अस्य) (प्राणिनः) (मेढ्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । मिह सेचने—ष्ट्रन् । सेचनसामर्थ्यम् । वृद्धिशक्तिम् (यः) कश्चित् (इतः) अत्र । अस्मासु (स्त्री) (पुमान्) पुरुषः (जभार) हञ् स्वीकारे । जहार । स्वीकृतवान् ॥

१—(असदन्) षद्लृ—लुङ् । निषण्णा अभूवन् (गावः) धेनवः (सदने) षद्लृ-ल्युट् । स्थाने (अपप्तत्) अ० ५ । ३० । ९ । अगमत् (वसतिम्) वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । वस निवासे—अति । नीडम् (वयः) वी गतौ असुन् । पक्षी (वृक्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति वृजी वर्जने-कक् ।

(अतिष्ठिपम्) मैंने ठहरा दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (गृध्रौ) काम क्रोध का अर्थ गत सूक्त से आता है। जैसे गौयें आदि अपने २ स्थान पर विश्राम करते हैं, ऐसे ही मनुष्य काम क्रोध को विद्या आदि से शान्त करके प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है-अ० ६।७७।१॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-८ ॥ १,२ इन्द्रः; ४, ७ विश्वे देवाः; ५, ६, ८ यज्ञो देवता ॥ १-४ त्रिष्टुप्; ५ आर्ची भुरिग् गायत्री; ६ प्राजापत्या बृहती; ७ साम्नी भुरिग् जगती; ८ उपरिष्टाद्बृहती छन्दः ॥

मनुष्य धर्मोपदेशः—मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन् होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णी॒मही॒ह। ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान् य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥ १ ॥

यत्। अ॒द्य। त्वा॒। प्र॒-य॒ति। य॒ज्ञे। अ॒स्मिन्। होत॒रिति॑। चि॒कि॒त्व॒न्। अवृ॑णीमहि। इ॒ह॥ ध्रु॒वम्। अ॒यः॒। ध्रु॒वम्। उ॒त। श॒वि॒ष्ठ॒। प्र॒-वि॒द्वान्। य॒ज्ञम्। उप॑। या॒हि॒। सोम॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये कि (अद्य) आज (त्वा) तुझको (अस्मिन्) इस (प्रयति) प्रयत्नसाध्य (यज्ञे) संगतियोग्य व्यवहार में, (चिकित्वन्) हे ज्ञानवान्! (होतः) हे दानी पुरुष! (इह) यहां पर (अवृणीमहि) हमने चुना है [वर्णी किया है]। (शविष्ठ) हे महाबली! तू (ध्रुवम्) दृढ़ता

वर्जकौ वर्जनीयौ वा कामक्रोधौ गतमन्त्रात्। अन्यद् गतम्-अ०६।७७।१॥

१—(यत्) यतः (अद्य) वर्तमाने दिने (त्वा) त्वाम् (प्रयति) यती प्रयत्ने—क्विप्, यद्वा इण् गतौ-शतृ। प्रयत्नसाध्ये। प्रवर्तमाने (यज्ञे) संगन्तव्ये व्यवहारे (अस्मिन्)(होतः) दातः (चिकित्वन्) अ० ५।१२।१। हे ज्ञानवन्

से (उत) और भी (ध्रुवम्) दृढ़ता से (अयः) आ, (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (प्रविद्वान्) पहिले से जानने वाला तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप) समीप से (याहि) प्राप्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विद्या और बल प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें॥ यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में—३ । २६ । १६ । और यजुर्वेद-८ । २० ॥

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेष । गोभिः । सम् । सूरि-भिः । हरि-वन् । सम् । स्वस्त्या ॥ सम् । ब्रह्मणा । देव-हितम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् । सु-मतौ । यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमें (मनसा) विज्ञान के साथ और (गोभिः) इन्द्रियों वा वाणियों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (हरिवन्) हे श्रेष्ठमनुष्यों वाले ! (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (स्वस्त्या) अच्छी सत्ता [क्षेम कुशल] के साथ (सम्) ठीक ठीक (यत्) जो [ब्रह्म](देवहितम्) विद्वानों का हितकारक (अस्ति)है, [उस] (ब्रह्मणा)

(अवृणीमहि) वृञ् वरणे—लङ् । वयं वृतवन्तः । स्वीकृतवन्तः (ध्रुवम्) दृढत्वेन (अयः) अय गतौ—लेट् , परस्मैपदम् । आगच्छेः (ध्रुवम्) निश्चलं यथा तथा (उत) अपि (शविष्ठ) अ० ७ । २५ । १ । हे बलवत्तम (प्रविद्वान्) अग्रे जानन् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (उप) समीपम् (याहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् ॥

२—(सम्) सम्यक् । यथावत् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (नः) अस्मान् (मनसा) विज्ञानेन (नेष) णीञ् प्रापणे—लोटि शप् । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लोपः । नय । प्रापय (गोभिः) इन्द्रियैर्वाग्भिर्वा (सूरिभिः) अ० २ । ११ । ४ । विद्वद्भिः (हरिवन्) हरयो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रशस्तमनुष्ययुक्त (सम्) (स्वस्त्या)

ब्रह्म, वेद, धन, वा अन्न के साथ (सम्) ठीक ठीक, (यज्ञियानाम्) पूजा योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (सम्) ठीक ठीक (नेष) तू ले चल ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से मनस्वी, वाग्मी, और कार्यकुशल होकर सब को उन्नति की ओर प्रवृत्त करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ४२ । ४ और यजु० ८ । १५ ॥

यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥ ३ ॥

यान् । आ-अवहः । उशतः । देव । देवान् । तान् । प्र । ईरय । स्वे । अग्ने । सध-स्थे ॥ जक्षि-वांसः । पपि-वांसः । मधूनि । अस्मै । धत्त । वसवः । वसूनि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशमान अध्यापक ! (यान्) जिन (उशतः) लालसा वाले (देवान्) विद्वानों को (आ-अवहः) तू लाया है, (अग्ने) हे विद्वान् ! (तान्) उन्हें (स्वे) अपनी (सधस्थे) बैठक में (प्र ईरय) ले चल। (वसवः) हे श्रेष्ठजनो ! तुम (मधूनि) मधुर वस्तुओं को (जक्षिवांसः) खा चुककर और (पपिवांसः) पी चुककर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (वसूनि) उत्तम ज्ञानों को (धत्त) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्वानों से शिक्षा लेकर श्रेष्ठ गुण प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है ८ । १९ ॥

अ० १ । ३० । २ । सुसत्तया । क्षेमेण (सम्) (ब्रह्मणा) वेदेन धनेनान्नेन वा (देवहितम्) विद्वद्भ्यो हितम् (यत्) ब्रह्म (अस्ति) (सम्) (देवानाम्) विदुषाम् (सुमतौ) श्रेष्ठायां बुद्धौ (यज्ञियानाम्) पूजार्हाणाम् ॥

३—(यान्) वक्ष्यमाणान् (आ अवहः) वहेर्लङ् प्रापितवानसि (उशतः) वश कान्तौ—शतृ । कामयमानान् (देव) हे प्रकाशमानाध्यापक (देवान्) विदुषः (तान्) (प्रेरय) आनय (स्वे) स्वकीये (अग्ने) विद्वन् (सधस्थे) संगतिस्थाने (जक्षिवांसः) अ० ४ । ७ । ३ । भक्षितवन्तः (पपिवांसः) पिबतेः—क्वसुः । वस्वेकाजाद्घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इडागमः । पीतवन्तः (मधूनि) मधुरवस्तूनि (अस्मै) विद्यार्थिने (धत्त) दत्त (वसवः) हे श्रेष्ठजनाः (वसूनि) श्रेष्ठानि ज्ञानानि ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः। वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

सु-गा। वः। देवाः। सदना। अकर्म। ये। आ-जग्म ॥ सवने। मा। जुषाणाः ॥ वहमानाः। भरमाणाः। स्वा। वसूनि। वसुम्। घर्मम्। दिवम्। आ। रोहत। अनु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारे लिये (सुगा) सुख से पहुंचने योग्य (सदना) आसनों को (अकर्म) हमने बनाया है, (ये) जो तुम [अपने] (सवने) ऐश्वर्य में (मा) मुझे (जुषाणाः) प्रसन्न करते हुये (आजग्म) आये हो (स्वा) अपनी (वसूनि) श्रेष्ठ वस्तुओं को (वहमानाः) पहुंचाते हुये और (भरमाणाः) पुष्ट करते हुये तुम (वसुम्) श्रेष्ठ (घर्मम्) दिन और (दिवम् अनु) व्यवहार के बीच (आ रोहत) चढ़ते जाओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों का आदर मान करके अपनी उन्नति करें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—८। १८ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥५॥

यज्ञ। यज्ञम्। गच्छ। यज्ञ-पतिम्। गच्छ ॥ स्वाम्। योनिम्। गच्छ। स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यज्ञ) हे पूजनीय पुरुष ! (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को

४—(सुगा) अ० ३। ३। ४। सुखेन गन्तव्यानि (वः) युष्मभ्यम् (देवाः) हे विद्वांसः (सदना) आसनानि (अकर्म) वयं कृतवन्तः (ये) यूयम् (आजग्म) आगताः स्थ (सवने) ऐश्वर्ये (मा) माम् (जुषाणाः) प्रीणन्तः (वहमानाः) प्रापयन्तः (भरमाणाः) पोषयन्तः (स्वा) स्वकीयानि (वसूनि) श्रेष्ठानि वस्तूनि (वसुम्) श्रेष्ठम् (घर्मम्) दिनम् (दिवम्) दिवु व्यवहारे-क । व्यवहारम् (आ रोहत) आरूढा भवत (अनु) प्रति ॥

५—(यज्ञ) पूजनीय पुरुष (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (यज्ञपतिम्)

(गच्छ) प्राप्त हो, (यज्ञपतिम्) पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले को (गच्छ) प्राप्त हो। और (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के साथ (स्वाम्) अपने (योनिम्) स्वभाव को (गच्छ) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम व्यवहार और उत्तम मनुष्यों के साथसे अपने मनुष्य धर्मका कर्त्तव्य करता रहे ॥ ५ ॥

यहमन्त्र यजुर्वेद में है–८। २२ ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा ॥६॥

एषः। ते। यज्ञः। यज्ञ-पते। सह-सूक्तवाकः॥ सु-वीर्यः। स्वाहा ॥६॥

भाषार्थ—(यज्ञपते) हे पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले पुरुष ! (एषः) यह (ते) तेरा (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] द्वारा (सहसूक्तवाकः) सुन्दर वचनोंके उपदेशोंके सहित (सुवीर्यः) बड़े वीरत्ववाला [होवे] ॥ ६ ॥

भावार्थ–मनुष्य वेद मन्त्रोंके मनन और उपदेश से अपना पराक्रम बढावें ६

यह मन्त्र कुछ भेदसे यजुर्वेद में है—८। २२ ॥

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

वषट्। हुतेभ्यः। वषट्। अहुतेभ्यः॥ देवाः। गातु-विदः। गातुम्। वित्त्वा। गातुम्। इत ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हुतेभ्यः) दिये हुये [माता पिता आदि से पाये हुये]

पूजनीयव्यवहारस्य पालकम् (गच्छ) (स्वाम्) स्वकीयाम् (योनिम्) प्रकृतिम्। स्वभावम् (गच्छ) (स्वाहा) अ० २। १६। १। सुवाण्या। वेदवाचा ॥

६—(एषः) (ते) तव (यज्ञः) पूजनीयो व्यवहारः (यज्ञपते) पूजनीयो व्यवहारस्य पालक (सहसूक्तवाकः) सह + सु + उक्त + वच परिभाषणे-घञ्। शोभनानामुक्तानां वचनानां वाकैर्भाषणैः सहितः (सुवीर्यः) उत्तमपराक्रमयुक्तः (स्वाहा) सुवाण्या ॥

७—(वषट्) अ० १। ११। १। वह प्रमाणे-डषटि। आहुतिः। भक्तिः

पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो], (अहुतेभ्यः) न दिये हुये [स्वयं प्राप्त किये हुये] पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो]। (गातुविदः) हे पृथिवी के जाननेवालो ! (देवाः) हे विजय चाहनेवाले वीरो ! (गातुम्) मार्ग को (वित्त्वा) पाकर (गातुम्) पृथिवी को (इत) प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदि से पाये हुये और अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुये पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें । और पृथिवी के गुणों को परीक्षण द्वारा जानकर और उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरभाग यजुर्वेद में है—८ । २१ ॥

मन॑सस्पत इ॒मं नो॑ दि॒वि दे॒वेषु॑ य॒ज्ञम् । स्वाहा॑ दि॒वि स्वाहा॑ पृथि॒व्यां स्वाहा॒न्तरि॑क्षे॒ स्वाहा॒ वाते॑ धां स्वाहा॑ ॥८॥

मन॑सः। प॒ते॒। इ॒मम् । नः॒। दि॒वि । दे॒वेषु॑। य॒ज्ञम् ॥ स्वाहा॑। दि॒वि । स्वाहा॑ । पृ॒थि॒व्याम् । स्वाहा॑ । अ॒न्तरि॑क्षे । स्वाहा॑। वाते॑ । धा॒म् । स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मनसःपते) हे मन के स्वामी [मनुष्य !] (इमम्) इस (नः) अपने [हमारे] (यज्ञम्) संगतिकरण व्यवहार को (दिवि) आकाश में [वर्तमान] (देवेषु) दिव्य पदार्थों में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, [अर्थात्] (दिवि) सूर्य में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (स्वाहा) सुन्दर

(हुतेभ्यः)अ० ६ । ७१ । २। मातापित्रादिभिर्दत्तेभ्यः पदार्थेभ्यः(वषट्) (अहुतेभ्यः) अदत्तेभ्यः। स्वपौरुषप्राप्तेभ्यः (देवाः) हे विजिगीषवः (गातुविदः) कमिमनिजनिगा० । उ० १ । ७३ । गाङ् गतौ—तु । गातुः पृथिवीनाम-निघ० १ । १। मार्गः । विद ज्ञाने—क्विप् । पृथिवीगुणानां ज्ञातारः (गातुम्) मार्गम् (वित्त्वा) विद्लृ लाभे—क्त्वा । लब्ध्वा (गातुम्) भूमिम् । भूमिराज्यम् (इत) प्राप्नुत ॥

८—(मनसः) अन्तःकरणस्य (पते) स्वामिन् (इमम्) (नः) अस्मा-कम् (दिवि) आकाशे वर्तमानेषु (देवेषु) दिव्य पदार्थेषु (यज्ञम्) संगतिकरणव्यवहारम् (स्वाहा) सुवाण्या । वेदवाण्या द्वारा (दिवि) सूर्यलोके (पृ-

वाणी के साथ, (वाते) वायु में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (धाम्) मैं धारण करूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा अपनी मनन शक्ति बढ़ाकर सूर्यविद्या, पृथिवीविद्या, अन्तरिक्षविद्या और वायुविद्यामें निपुण होकर उपकार करें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछभेदसे यजुर्वेद में है --८ । २१ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ग्राह्यपदार्थप्राप्त्युपदेशः—ग्राह्य पदार्थ पाने का उपदेश ॥

सं ब॒र्हिर॒क्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ सं म॒रुद्भिः॑।
सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रं॑ गच्छतु ह॒विः स्वाहा॑ ॥१॥

सम् । ब॒र्हिः । अ॒क्तम् । ह॒विषा॑ । घृ॒तेन॑ । सम् । इन्द्रे॑ण । वसु॑ना । सम् । म॒रुत्-भिः॑ ॥ सम् । दे॒वैः । वि॒श्व-दे॑वेभिः । अ॒क्तम् । इन्द्र॑म् । ग॒च्छ॒तु॒ । ह॒विः । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हविषा) ग्रहण से और (घृतेन) सेचन से (सम्) ठीक ठीक, (इन्द्रेण) ऐश्वर्य से और (वसुना) धन से (सम्) ठीक ठीक, (मरुद्भिः) विद्वानों से (सम्) ठीक ठीक, (अक्तम्) सुधारा गया (बर्हिः) वृद्धि कर्म, और (देवैः) प्रकाशमान (विश्वदेवेभिः) सब उत्तम गुणों से (सम्) ठीक ठीक, (अक्तम्) संभाला गया (हविः) ग्राह्य पदार्थ (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेद-

---

थिव्याम्) भूलोके (अन्तरिक्षे) मध्यलोके (वाते) वायुविद्यायाम् (धाम्) दधाते र्लिङि लिङ्छान्दसंरूपम् । धरेयम् । अन्यद् गतम् ॥

१—(सम्) सम्यक् । यथावत् (बर्हिः) अ० ५ । २२ । १ । बृहि वृद्धौ दीप्तौ च—इसि । वृद्धिकर्म (अक्तम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-क्त । सुधारितम् (हविषा) हु दानादानादनेषु—इसि । ग्रहणेन (घृतेन) घृ सेचने—क्त । सेचनेन (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (वसुना) धनेन (मरुद्भिः) अ० १ । २० । १ । देवैः । विद्वद्भिः (देवैः) प्रकाशमानैः (विश्वदेवेभिः) सर्वदिव्यगुणैः (अक्तम्)

वाणी] के साथ (इन्द्रम्) प्रतापी पुरुष को (गच्छतु) पहुंचे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न के साथ विद्या और धन की रक्षा और वृद्धि करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से यजुर्वेद में है—२ । २२ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ यजमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्रचारोपदेशः—विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् । होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

परि । स्तृणीहि । परि । धेहि वेदिम् । मा । जामिम् । मोषीः । अमुया । शयानाम् ॥ होतृ-सदनम् । हरितम् । हिरण्ययम् । निष्काः । एते । यजमानस्य । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (वेदिम्) विद्या [वा यज्ञभूमि] (परि) सब ओर (स्तृणीहि) फैला और (परि) सब ओर (धेहि) पुष्टकर (अमुया) उस [विद्या] के साथ (शयानाम्) वर्तमान (जामिम्) गति को (मा मोषीः) मत लूट । (होतृषदनम्) दाता का घर (हरितम्) हरा भरा [स्वीकार योग्य] और (हिरण्ययम्) सोने से भरा [होता है], (एते) यह सब (निष्काः)

शोधितम् (इन्द्रम्) प्रतापिनं जनम् (गच्छतु) प्राप्नोतु (हविः) ग्राह्यः पदार्थः (स्वाहा) सुवाण्या । वेदविद्यया ॥

१—(परि) सर्वतः (स्तृणीहि) स्तृञ् आच्छादने । छादय । विस्तारय (परि) परितः (धेहि) पोषय (वेदिम्) अ० ५ । २२ । १ । विद ज्ञाने—इन् । विद्यां यज्ञभूमिं वा (जामिम्) नियो मिः । उ० ४ । ४३ । या प्रापणे-मि । यस्य जः । यद्वा वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । जम गतौ–इञ् । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम् । जमतेर्वास्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति—निरु० ३ । ६ । गतिं प्रवृत्तिम् (मा मोषीः) मुष स्तेये–लुङ् । मा चोरय (अमुया) अनया

सुनहले अलङ्कार (यजमानस्य) यजमान [विद्वानों के सत्कार करने वाले] के (लोके) घर में [रहते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उसकी प्रवृत्ति नहीं रोकता, वह महाधनी होकर सुखी रहता है ॥ १ ॥

सूक्तम् १०० ॥

१ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुविचारनिवारणोपदेशः—कुविचार के हटाने का उपदेश ॥

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परि-आवर्ते । दुः-स्वप्न्यात् । पापात् । स्वप्न्यात् । अभूत्याः ॥
ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्न-मुखाः । शुचः ॥१॥

भाषार्थ—(दुष्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुये और (स्वप्न्यात्) स्वप्न में उठे हुये (पापात्) पाप से [प्राप्त] (अभूत्याः) अनैश्वर्यता [निर्धनता] से (पर्यावर्ते) मैं अलग हटता हूं। (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म [ईश्वर] को [अपने] (अन्तरम्) भीतर, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न के कारण से होने वाले (शुचः) शोकों को (परा) दूर (कृण्वे) करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में लवलीन होकर मन को ऐसा वश में करे कि स्वप्न में भी कुवासनायें न उठें ॥ १ ॥

वेद्या सह (शयानाम्) शीङ् शयने-शानच्। वर्तमानाम् (होतृषदनम्) दातृगृहम् (हरितम्) हृश्याभ्यामितन्। उ० ३।९३। हृञ् हरणे, स्वीकारे—इतन्। स्वीकरणीयम्। शोभनम् (हिरण्यम्) हिरण्यमयम्। सुवर्णयुक्तम् (निष्काः) नौ सदेर्डिच्च। उ० ३।४५। नि+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कन्, स च डित्। सुवर्णमया अलङ्काराः (एते) दृश्यमानाः (यजमानस्य) देवपूजकस्य (लोके) गृहे ॥

१—(पर्यावर्ते) पृथग् भवामि (दुष्वप्न्यात्) अ० ४।१७।५। दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् (पापात्) अ० २।१२।५। पातकात् (स्वप्न्यात्) स्वप्नप्रभवात् (अभूत्याः) अनैश्वर्यत्वात्। निर्धनत्वात् (ब्रह्म) ईश्वरम् (अहम्) मनुष्यः (अन्तरम्) मध्ये। आत्मनि (कृण्वे) करोमि (परा) दूरे (स्वप्नमुखाः) स्वप्नप्रधानाः (शुचः) शोकान् ॥ २८

सूक्तम् १०१ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अविद्यानाशोपदेशः--अविद्या के नाश का उपदेश ॥

यत् स्वप्ने अन्नमुश्नामि न प्रातरधिगुम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नुहि तद् दृश्यते दिवा ॥ १ ॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अश्नामि । न । प्रातः । अधि-गुम्यते ॥
सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नुहि । तत् । दृश्यते । दिवा ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (स्वप्ने) स्वप्न में (अश्नामि) मैं खाता हूं, [वह] (प्रातः) प्रातःकाल (न) नहीं (अधिगम्यते) मिलता है। (तत्) वह (सर्वम्) सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) होवे, (तत्) वह (दिवा) दिन में (नहि) नहीं (दृश्यते) दीखता है॥१॥

भावार्थ—जैसे इन्द्रियों की चंचलता से स्वप्न में खाया अन्न शरीर पोषक नहीं होता, वैसेही अविद्याजन्य सुख इष्टसाधक नहीं होता ॥ १ ॥

सूक्तम् १०२ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ विराट् पुरस्ताद् बृहती छन्दः ॥

उच्चपदप्राप्त्युपदेशः—ऊंचे पद पाने का उपदेश ॥

नमुस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामुन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

नमः-कृत्य । द्यावापृथिवीभ्याम् । अन्तरिक्षाय । मृत्यवे ॥
मेक्षामि । ऊर्ध्वः । तिष्ठन् । मा । मा । हिंसिषुः । ईश्वराः ॥१॥

१—(यत्) यत्किञ्चित् (स्वप्ने) निद्रायाम् (अन्नम्) भोजनम् (अश्नामि) अश भोजने। खादामि (न) निषेधे (प्रातः) प्रभाते (अधिगम्यते) लभ्यते (सर्वम्) (तत्) स्वप्नफलम् (अस्तु) (मे) मह्यम् (शिवम्) मङ्गलकरम् (नहि) नैव (तत्) अन्नम् (दृश्यते) निरीक्ष्यते (दिवा) दिने ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यलोक और पृथिवी लोक को और (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (ऊर्ध्वः) ऊपर (तिष्ठन्) ठहरता हुआ (मेक्षामि) मैं चलता हूं, (ईश्वराः) [कोई] बलवान् (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) न हानि करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऊपर, नीचे और मध्य विचार कर और संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर उच्चपद प्राप्त करे ॥ १ ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १०३ ॥

१॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

द्रोहत्यागोपदेशः—द्रोह के त्याग का उपदेश ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् । को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अवद्य-वत्याः । उत् । नेष्यति । क्षत्रियः । वस्यः । इच्छन् ॥ कः । यज्ञ-कामः । कः । ऊं इति । पूर्ति-कामः । कः । देवेषु । वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

१—(नमस्कृत्य) सत्कृत्य । उपकृत्य (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यभूलोकाभ्याम् (अन्तरिक्षाय) मध्यलोकाय (मृत्यवे) अ० ५ । ३० । १२ । मृत्युं नाशयितुम् (मेक्षामि) म्यक्षति, मियक्षति, गतिकर्मा–निघ० २ । १४ छान्दसं रूपम् । मियक्षामि । गच्छामि (ऊर्ध्वः) उच्चः (तिष्ठन्) स्थितिं कुर्वन् (मा) माम् (मा हिंसिषुः) मा नाशयन्तु (ईश्वराः) केऽपि बलवन्तः ॥

भाषार्थ—(वस्यः) उत्तम फल (इच्छन्) चाहता हुआ (कः) प्रजापति [प्रजा पालक प्रकाशमान वा सुखदाता] (क्षत्रियः) क्षत्रिय (नः) हमको (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) धिक्कारयोग्य (द्रुहः) डाह क्रिया से (उत् नेष्यति) उठावेगा । (कः) प्रजापति [मनुष्य] (यज्ञकामः) पूजनीय व्यवहार चाहने वाला और (कः) प्रजापति (उ) ही (पूर्तिकामः) पूर्ति [सिद्धि] चाहने वाला [होता है], (कः) प्रजापति [मनुष्य] (देवेषु) उत्तम गुणों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वनुते) मांगता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्रोह छोड़कर पुरुषार्थ करते हुये उत्तम गुण प्राप्त करके सुख बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०४ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्रचारोपदेशः—वेद विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

कः । पृश्निम् । धेनुम् । वरुणेन । दत्ताम् । अथर्वणे । सुदुघाम् । नित्य-वत्साम् ॥ बृहस्पतिना । सख्यम् । जुषाणः । यथा-वशम् । तन्वः । कल्पयाति ॥ १ ॥

१—(कः) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । कच दीप्तौ वा कमु कान्तौ वा क्रमु पादविक्षेपे गतौ च-ड प्रत्ययः । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा निरु० १० । २२ । कमिति सुखनाम-निघ० ३ । ६ । दीप्यमानः । सुखकारकः । प्रजापतिर्मनुष्यः (अस्याः) वर्तमानायाः (नः) अस्मान् (द्रुहः) द्रुह जिघांसायाम्—क्विप् । द्रोहक्रियायाः । दुर्गतेः सकाशात् (अवद्यवत्याः) निन्द्यकर्मयुक्तायाः (उन्नेष्यति) उद्धरिष्यति (क्षत्रियः) अ० ४ । २२ । १ । क्षत्रे राज्ये साधुः (वस्यः) अ० ६ । ४७ । ३ । वसीयः । प्रशस्तं फलम् (इच्छन्) अभिलष्यन् (कः) (यज्ञकामः) पूजनीयव्यवहारं कामयमानः (कः) (उ) एव (पूर्तिकामः) सिद्धिकामः (कः) (देवेषु) उत्तमगुणेषु वर्तमानः (वनुते) वनु याचने । याचते (दीर्घम्) (आयुः) जीवनम् ॥

भाषार्थ—(कः) प्रकाशमान [प्रजापति मनुष्य] (बृहस्पतिना) बड़े बड़े लोकों के स्वामी [परमेश्वर] के साथ (यथावशम्) इच्छानुसार [अपने] (तन्वः) शरीर की (सख्यम्) मित्रता का (जुषाणः) सेवन करता हुआ, (अथर्वणे) निश्चल स्वभाव वाले पुरुष को (वरुणेन) श्रेष्ठ परमात्मा करके (दत्ताम्) दी हुई, (सुदुघाम्) अत्यन्त पूरण करनेवाली, (नित्यवत्साम्) नित्य उपदेश करने वाली, (पृश्निम्) प्रश्न करने योग्य (धेनुम्) वाणी [वेद-वाणी] को (कल्पयाति) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की दी हुई कल्याणी वेदवाणी को ईश्वर-भक्ति के साथ संसार में फैलावें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०५ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पवित्रजीवनोपदेशः—पवित्र जीवन का उपदेश ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अप-क्रामन् । पौरुषेयात् । वृणानः । दैव्यम् । वचः ॥ प्र-नीतीः । अभि-आवर्तस्व । विश्वेभिः । सखि-भिः । सह ॥१॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (पौरुषेयात्) पुरुषवध से (अपक्रामन्)

१—(कः) गतसूक्ते व्याख्यातः । प्रकाशमानः प्रजापतिः पुरुषः (पृश्निम्) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—नि । प्रष्टव्याम् (धेनुम्) अ० ३ । १० । १ । वाचम्–निघ० १ । ११ । वेदवाणीम् (वरुणेन) श्रेष्ठेन परमेश्वरेण (दत्ताम्) (अथर्वणे) अ० ४ । ३७ । १ । निश्चलस्वभावाय योगिने (सुदुघाम्) अ० ७ । ७३ । ७ । सुष्ठु पूरयित्रीम् (नित्यवत्साम्) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—स प्रत्ययः । नित्योपदेशिकाम् (बृहस्पतिना) बृहतां लोकानां पालकेन । परमात्मना सह (सख्यम्) मित्रभावम् (जुषाणः) सेवमानः (यथावशम्) यथेच्छम् (तन्वः) शरीरस्य (कल्पयाति) कल्पयतेर्लेटि आडागमः । समर्थयेत् ॥

१—(अपक्रामन्) अपगच्छन् (पौरुषेयात्) पुरुषाद् वधविकारसमू-

हटता हुआ, (दैव्यम्) दिव्य [परमेश्वरीय] (वचः) वचन (वृणानः) मानता हुआ तू (विश्वेभिः) सब (सखिभिः सह) सखाओं [साथियों] सहित (प्रणीतीः) उत्तमनीतियों [ब्रह्मचर्य स्वाध्याय आदि मर्य्यादाओं] का (अभ्यावर्तस्व) सब ओर से वर्ताव कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वहितकारी वेद मार्गों पर चलकर और दूसरों को चलाकर पवित्र जीवन करके आनन्दित होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०६ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अमृतत्वप्राप्त्युपदेशः—अमरपन पाने का उपदेश ॥

यदस्मृ॑ति चकृ॒म किं चि॑दग्न उपारि॒म चर॑णे जातवेदः।
तत॑: पाहि॒ त्वं न॑: प्रचेतः शु॒भे सखि॑भ्यो अमृत॒त्वम॑स्तु नः ॥१॥

यत् । अस्मृ॑ति । च॒कृ॒म । किम् । चि॒त् । अ॒ग्ने॒ । उ॒प॒-आ॒रि॒म । चर॑णे । जा॒त॒-वे॒द॒: ॥ तत॑: । पा॒हि॒ । त्वम् । न॒: । प्र॒-चे॒त॒: । शु॒भे । सखि॑-भ्यः । अ॒मृ॒त॒-त्वम् । अ॒स्तु॒ । न॒: ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (यत् किं चित्) जो कुछ भी [दुष्कर्म] (अस्मृति) विस्मरण [भूल, आगे पीछे के बिना विचार] से (चकृम) हमने किया है, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले ! [अपने] (चरणे) आचरण में (उपारिम) हमने अपराध किया है । (प्रचेतः) हे

हृतेनक्तेषु । वा० पा० ५ । १ । १० । इति पुरुष—ढञ्, ढस्य एय् । पुरुषवधात् (वृणानः) स्वीकुर्वन् (दैव्यम्) देव—यञ् । देवात् परमेश्वरादागतम् (वचः) वाक्यं वेदलक्षणम् (प्रणीतीः) प्रकृष्टा नीतीः । ब्रह्मचर्य्यस्वाध्यायादिमर्य्यादाः (अभ्यावर्तस्व) अभितः प्रवर्तय ॥

१—(यत्) दुष्कर्म (अस्मृति) यथा तथा । स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मफलानुसन्धानरहितम् (चकृम) वयं कृतवन्तः (किंचित्) किमपि (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (उप-आरिम) ऋ हिंसायाम्—लिट् । वयमपराद्धवन्तः (चरणे) आचरणे (जातवेदः) हे जातानां वेदितः (ततः) तस्मात्

महाविद्वान् ! (ततः) उससे (त्वम्) तू (नः) हमें (पाहि) बचा, (नः) हम [तेरे] (सखिभ्यः) सखाओं को (शुभे) कल्याण के लिये (अमृतत्वम्) अमरपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों से यदि आगा पीछा बिना विचारे अपराध हो जावे, उसका प्रायश्चित्त करके और आगे को अपराध त्याग कर शुभकर्म करके कीर्त्तिमान् होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०७ ॥

१ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परदुःखनाशोपदेशः—परस्पर दुःख नाश का उपदेश ॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥ १ ॥

अव । दिवः । तारयन्ति । सप्त । सूर्यस्य । रश्मयः ॥ आपः । समुद्रियाः । धाराः । ताः । ते । शल्यम् । असिस्रसन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (सप्त) सात [वा नित्य मिली हुई] (रश्मयः) किरण (दिवः) आकाश से (समुद्रियाः) अन्तरिक्ष में रहने वाले (धाराः) धारारूप (आपः) जलों को (अव तारयन्ति) उतारती हैं, (ताः) उन्होंने (ते) तेरी (शल्यम्) कील [क्लेश] को (असिस्रसन्) बहादिया है ॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें जल बरसा कर दुर्भिक्ष आदि पीड़ायें दूर करती हैं, वैसे ही मनुष्य परस्पर दुःख नाश करें ॥ १ ॥

(पाहि) रक्ष (त्वम्) (नः) अस्मान् (प्रचेतः) हे प्रकृष्टज्ञान (शुभे) कल्याणाय (सखिभ्यः) तव प्रियभूतेभ्यः (अमृतत्वम्) अमरत्वम् । दुःखराहित्यम् (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥—

१—(दिवः) आकाशात् (अवतारयन्ति) अवपातयन्ति (सप्त) अ० ४ । ६ । २ । सप्तसंख्याकाः । समवेताः (सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मयः) व्यापकाः किरणाः (आपः) द्वितीयार्थे प्रथमा । अपः । जलानि (समुद्रियाः) अ० ७ । ७ । १ । अन्तरिक्षे भवाः (धाराः) प्रवाहरूपाः (ताः) (आपः) (ते) तव (शल्यम्) अ० २ । ३० । ३ । बाणाग्रभागम् । क्लेशमित्यर्थः (असिस्रसन्) स्रंसु गतौ, णयन्ताल्लुङि चङि । अनिदितां हल० पा० ६ । ४ । २४ । उपधानकारलोपः । सन्वल्लघुनि० । पा० ७ । ४ । ९३ । इति सन्वद्भावात् । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७९ । अभ्यासस्य इत्वम् । निवारितवत्यः ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१-२ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यो न॑स्तायद् दिप्स॑ति यो न॑ आविः स्वो विद्वानर॑णो वा नो अग्ने। प्रतीच्ये॒त्वर॑णी दुत्वती तान् मैषाम॑ग्ने वास्तु॑ भून्मो अप॑त्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्स॑ति । यः । नः। आविः। स्वः । विद्वान्। अर॑णः। वा । नः । अग्ने॥ प्रतीची । एतु । अर॑णी । दुत्वती। तान् । मा । एषाम् । अग्ने । वास्तु॑ । भूत् । मो इति। अ॑प॑त्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (यः) जो कोई (नः) हमें (तायत्) छिपे छिपे, (यः) जो कोई (नः) हमें (आविः) खुले खुले, (दिप्सति) सताना चहता है, (नः) हमें (विद्वान्) जानता हुआ (स्वः) अपना पुरुष, (वा) अथवा (अरणः) बाहिरी पुरुष। (प्रतीची) चढ़ाई करती हुई, (दत्वती) दमनशीला, (अरणी) शीघ्रगामिनी वा मारनेवाली [सेना] (तान्)

१—(यः) कश्चित् (नः) अस्मान् (तायत्) अ० ४ । १६ । १ । तायृ सन्तानपालनयोः—अति । तायुः स्तेनः-निघ० ३ । २४ । तायत्, अन्तर्हितनामैतत्—इति सायणः। अप्रकाशम्। गुप्तम् (दिप्सति) अ०।४।३६।२। हिंसितुमिच्छति (यः) (नः) अस्मान् (आविः) अर्चिशुचि०। उ० २। १०८। आ + अव रक्षणे—इसि। आविरावेदनात्—निरु० ८। १५। प्रकाशम् (स्वः) स्वकीयो बन्धुः (विद्वान्) जानन् (अरणः) अ० १ । १९ । ३ । विदेशीयः (वा) अथवा (नः) अस्मान् (अग्ने) विद्वन्। तेजस्विन् राजन् (प्रतीची) अ० ३। २७। ३। अभिमुखं गच्छन्ती (एतु) गच्छतु (अरणी) अर्तिसृधृ०। उ० २। १०२। ऋ गतौ हिंसायां च-अनि, ङीष्। शीघ्रगामिनी। शत्रुनाशिनी सेना (दत्वती) अ० ४ । ३। २। हसिमृग्रिण्वामिदमि०। उ० ३। ८६। दमु उपशमे-तन्। दन्त-मतुप्, ङीप्। पद्दन्नोमास्०। पा० ६। १। ६३। इति दत्। दन्तवती। दमनशीला (तान्)

उनपर (एतु) पहुंचे, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (एषाम्) इनका (मा) न तो (वास्तु) घर (मो) और न (अपत्यम्). बालक (भूत्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और बाहिरी अधर्मियों का नाश करके धर्म्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः । वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभि-दासात् । तिष्ठतः । वा । चरतः । जात-वेदः ॥ वैश्वानरेण । स-युजा । स-जोषाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह । जात-वेदः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले राजन् ! (यः) जो कोई पुरुष (सुप्तान्) सोते हुये, (वा) वा (जाग्रतः) जागते हुये, (तिष्ठतः) ठहरे हुये, (वा) वा (चरतः) चलते हुये (नः) हम को (अभिदासात्) सतावे । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध धन वाले राजन् ! (वैश्वानरेण) सब नरोंके हितकारी (सयुजा) समानमित्र [परमेश्वर] के साथ (सजोषाः) प्रीति वाला तू (प्रतीचः) चढ़ाई करनेवाले (तान्) उनको (निः) निरन्तर (दह) भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के सहाय से आत्मबल बढ़ाकर सब डाकू उचक्कों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ २ ॥

शत्रून् (मा) निषेधे (एषाम्) शत्रूणाम् (अग्ने) राजन् (वास्तु) वसेरगारे णिच्च । उ० १ । ७० । वस निवासे—तुन्, स च णित् । गृहम् (मो भूत्) मैव भूयात् (अपत्यम्) पुत्रादिकम् ॥

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सुप्तान्) निद्राणान् (जाग्रतः) अ० ६ । ६६ । ३ । प्रबुद्ध्यमानान् (वा) (अभिदासात्) अ० ५ । ६ । १० । अभितो दास्नुयात् । हिंस्यात् (तिष्ठतः) स्थितियुक्तान् (वा) (चरतः) चलनशीलान् (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धज्ञान (वैश्वानरेण) अ० १ । १० । ४ सर्वनरहितेन (सयुजा) समानमित्रेण । परमेश्वरेण (सजोषाः) सहप्रीतिः (तान्) शत्रून् (प्रतीचः) अ० १ । २८ । २ । प्रतिकूलगतीन् (निः) निरन्तरम् (दह) भस्मसात् कुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१-७ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् ॥

व्यवहारसिद्ध्युपदेशः—व्यवहार सिद्धि का उपदेश ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । बभ्रवे । नमः । यः । अक्षेषु । तनू-वशी ॥
घृतेन । कलिम् । शिक्षामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) नमस्कार (उग्राय) तेजस्वी (बभ्रवे) पोषक [परमेश्वर] को है, (यः) जो (अक्षेषु) व्यवहारों में (तनूवशी) शरीरों का वश में रखनेवाला है । (घृतेन) प्रकाश के साथ (कलिम्) गिनने वाले [परमेश्वर] को (शिक्षामि) मैं सीखता हूं, (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडाति) सुखी करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमेश्वर की उपासना करके उत्तम कर्मों के साथ सुख भोगें ॥ १ ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च । यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥

१—(इदम्) (उग्राय) तेजस्विने (बभ्रवे) अ० ४ । २६ । २ । पोषकाय (नमः) नमस्कारः (यः) परमेश्वरः (अक्षेषु) अ० ४ । ३८ । ४ व्यवहारेषु (तनूवशी) अ० १ । ७ । २ । शरीराणां वशयिता (घृतेन) प्रकाशेन (कलिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । कल शब्दसंख्यानयोः-इन् । गणकम् । गणपतिं परमेश्वरम् (शिक्षामि) शिक्ष विद्योपादाने-लट्, परस्मैपदं छान्दसम् । शिक्षे । अभ्यस्यामि (सः) कलिः (नः) अस्मान् (मृडाति) सुखयेत् (ईदृशे) एवं-प्रकारे पुण्यकर्मणि ॥

घृतम् । अप्सराभ्यः । वह । त्वम् । अग्ने । पांसून् । अक्षेभ्यः । सिकताः । अपः । च ॥ यथा-भागम् । हव्य-दातिम् । जुषाणाः । मदन्ति । देवाः । उभयानि । हव्या ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में व्यापक शक्तियों] के लिये और (अक्षेभ्यः) व्यवहारों [की सिद्धि] के लिये (पांसून्) धूलि [भूमिस्थलों] से (च) और (सिकताः) सीचनेवाले (अपः) जलों से (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] (वह) पहुंचा। (देवाः) विद्वान् लोग (यथाभागम्) भाग के अनुसार (हव्यदातिम्) ग्राह्य पदार्थों के दान का (जुषाणाः) सेवन करते हुये (उभयानि) पूर्ण (हव्या) ग्राह्य पदार्थों को (मदन्ति) भोगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमिविद्या, जलविद्या आदि में निपुण होकर आत्म-पोषण और समाजपोषण का सामर्थ्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार बढ़ावें ॥ २ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

अप्सरसः । सध-मादम् । मदन्ति । हविः-धानम् । अन्तरा ।

२—(घृतम्) सारपदार्थम् (अप्सराभ्यः) अ० २ । २ । ३ । अप्सु प्रजासु सरणशीलाभ्यो व्यापिकाभ्यः शक्तिभ्यः (वह) द्विकर्मकः । प्रापय (त्वम्) (अग्ने) विद्वन् पुरुष (पांसून्) अर्जिदृशिकम्यमिपसि० । उ० १ । २७ । इति पसि नाशने—कु, दीर्घश्च । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्ना शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा—निरु० १२ । १९ । धूलिकणान् । भूमिस्थलानीत्यर्थः (अक्षेभ्यः) अ० ६ । ७० । १ । व्यवहारान् साधितुम् (सिकताः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । सिक सेचने—अतच्, स च कित् । सेचनसमर्थाः (अपः) जलानि (च) (यथाभागम्) भागमनतिक्रम्य (हव्यदातिम्) हव्यानां ग्राह्य-पदार्थानां दानम् (जुषाणाः) सेवमानाः (मदन्ति) आनन्दयन्ति (देवाः) विद्वांसः (उभयानि) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ९९ । इति उभ पूरणे-कयन् । पूर्णानि (हव्या) ग्राह्यवस्तूनि ॥

सूर्यम् । च ॥ ताः । मे । हस्तौ । सम् । सृजन्तु । घृतेन । सुपत्नम् । मे । कितवम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश में व्यापक शक्तियां [वायु, जल, बिजुली आदि] (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थों के आधार [भूलोक] (च) और (सूर्यम् अन्तरा) सूर्य के बीच (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदन्ति) भोगती हैं (ताः) वे (मे) मेरे (हस्तौ) दोनों हाथ (घृतेन) घृत [सार पदार्थ] से (सं सृजन्तु) संयुक्त करें, और (मे) मेरे (कितवम्) ज्ञान नाशक [ठग, जुआरी] (सपत्नम्) बैरी को (रन्धयन्तु) नाश करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु, जल, बिजुली आदि से यथावत् उपकार लेकर दरिद्रता आदि दुःख नाश करें ॥ ३ ॥

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥

आदिनवम् । प्रति-दीव्ने । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ॥ वृक्षम्-इव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रति-दीव्यति ॥४॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (प्रतिदीव्ने) प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले के नाश करने को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अस्मान् अभि) हमारे ऊपर (आदिनवम्) प्रथम नवीन वा स्तुतिवाले [बोध] को (क्षर) छिड़क । (यः)

३—(अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे सरणशीलाः । वायुजलविद्युदादयः (मदन्ति) हर्षयन्ति (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थानामाधारं भूलोकम् (अन्तरा) मध्ये (सूर्यम्) (च) (ताः) अप्सरसः (मे) मम (हस्तौ) (सं सृजन्तु) संयोजयन्तु (घृतेन) सारपदार्थेन (सपत्नम्) शत्रुम् (मे) मम (कितवम्) अ० ७ । ५० । १ । ज्ञाननाशकम् । वञ्चकम् । द्यूतकारम् (रन्धयन्तु) अ० ४ । २२ । १ । नाशयन्तु ॥

४—(आदिनवम्) णु स्तुतौ—अप् । आदौ प्रथमं नवो नूतनो यस्तम्, अथवा नवः स्तवो यस्य तं बोधम् (प्रतिदीव्ने) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । प्रति + दिवु व्यवहारे-कनिन् । वा दीर्घः । क्रियार्था-

जो (अस्मान्) हम से (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूल व्यवहार करता है, [उसे] (जहि) मार डाल, (वृक्षम् इव) जैसे वृक्ष को (अशन्या) बिजुली से ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैदिक ज्ञान से अपने विरोधी शत्रु वा अज्ञान का सर्वथा नाश करें ॥ ४ ॥

यो नौ द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नौ देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥५

यः । नः । द्युवे । धनम् । इदम् । चकार । यः । अक्षाणाम् । ग्लहनम् । शेषणम् । च ॥ सः । नः । देवः । हविः । इदम् । जुषाणः । गन्धर्वेभिः । सध-मादम् । मदेम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (नः) हमारे (द्युवे) आनंद के लिये (इदं धनम्) यह धन, और (यः) जिसने (अक्षाणाम्) व्यवहारों का (ग्लहनम्) ग्रहण (च) और (शेषणम्) विशेषपन [ब्राह्मणपन, क्षत्रियपन, वैश्यपन और शूद्रपन] (चकार) बनाया है। (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल [परमेश्वर] (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) दान [भक्तिदान] को (जुषाणः) स्वीकार करनेवाला [हो, कि] (गन्धर्वेभिः) विद्या वा पृथिवी

पपदस्य च०। पा० २। ३। १४। इति चतुर्थी। प्रतिदिवानं प्रतिकूलव्यवहारिणं नाशयितुम् (घृतेन) प्रकाशेन (अस्मान्) धार्मिकान् (अभि) प्रति (क्षर) क्षर संचलने। नर्षय (वृक्षम्) (इव) यथा (अशन्या) विद्युता (जहि) मारय (यः) शत्रुः (अस्मान्) (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूलं व्यवहरति ॥

५—(यः) परमेश्वरः (नः) अस्मदीयाय (द्युवे) दिवु मोदे—क्विप्। आनन्दाय (धनम्) (इदम्) (चकार) कृतवान् (यः) (अक्षाणाम्) अ० ६ ७०। १। व्यवहाराणाम् (ग्लहनम्) रस्य लः। ग्रहणम् (शेषणम्) शिष्ल विशेषणे-ल्युट्। विशेषणम्। गुणप्रकाशनं यथा ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं च (च) (सः) (नः) अस्माकं (देवः) व्यवहारकुशलः परमेश्वरः (हविः) दानम्। आत्मसमर्पणम् (इदम्) वदयनाणम् (जुषाणः) सेवमानः। भवतु-

के धारण करने वाले [मनुष्यों] के साथ (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदेम) हम भोगें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य आदि गुरु परमेश्वर के अनुग्रह से सब व्यवहारों में कुशल होकर, विद्वानों के सत्संग से उन्नति करें ॥ ५ ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः। तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

सम्-वसवः । इति । वः । नाम-धेयम् । उग्रम्-पश्याः । राष्ट्र-भृतः । हि । अक्षाः ॥ तेभ्यः । वः । इन्दवः । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (संवसवः) "सम्यक् धनवाले, वा मिल के रहने वाले" (इति) यह (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम है, (हि) क्योंकि [तुम] (उग्रंपश्याः) उग्रदर्शी [बड़े तेजस्वी] (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषक और (अक्षाः) व्यवहार कुशल (हो) । (इन्दवः) हे बड़े ऐश्वर्यवालो ! (तेभ्यः वः) इन तुम को (हविषा) आत्मदान से (विधेम) हम पूजें, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग और सत्कार से अनेक धन प्राप्त करें ॥ ६ ॥

इति शेषः (गन्धर्वेभिः) अ०२ । १ । २ । गोर्विद्यायाः पृथिव्या वा धारकैः पुरुषैः (सधमादम्) परस्परानन्दम् (मदेम) हृष्येम ॥

६—(संवसवः) सम्यग् वसूनि धनानि येषां ते यद्वा, सम्यग् वासयितारः (इति) एवंप्रकारेण (वः) युष्माकम् (नामधेयम्) नाम (उग्रंपश्याः) उग्रंपश्येरंमदपाणिंधमाश्च । पा० ३ । २ । ३७ । उग्र + दृशिर् प्रेक्षणे—खश् । उग्रदर्शिनः । महातेजस्विनः (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषकाः (हि) यस्मात्कारणात् (अक्षाः) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारवन्तः (तेभ्यः) तथाभूतेभ्यः (वः) युष्मभ्यम् (इन्दवः) अ० ६ । २ । २ । हे परमैश्वर्यवन्तः (हविषा) आत्मदानेन (विधेम) परिचरणं कुर्याम (वयम्) (स्याम) (पतयः) (रयीणाम्) विविधधनानाम् ॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्म-चर्यम् । यत् । ऊषिम ॥
अक्षान् । यत् । बभ्रून् । आ-लभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे ॥७॥

भाषार्थ—(यत्) जिस से कि (नाथितः) प्रार्थी मैं (देवान्) विद्वानों को (हुवे) बुलाता हूं, (यत्) जिस से कि (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य [आत्मनिग्रह, वेदाध्ययन आदि तप] में (ऊषिम) हमने निवास किया है। (यत्) जिससे कि (बभ्रून्) पालन करनेवाले (अक्षान्) व्यवहारोंको (आ-लभे) मैं यथावत् ग्रहण करता हूं, (ते) वे सब [विद्वान्] (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडन्तु) सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति, ब्रह्मचर्य सेवन और उत्तम व्यवहारों से सुखी होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ११० ॥

१-३ ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ १ गायत्री ; २ त्रिष्टुप् ; ३ अनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोः कर्त्तव्योपदेशः—राजा और मन्त्रीके कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति ।
उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥

अग्ने । इन्द्रः । च । दाशुषे । हतः । वृत्राणि । अप्रति ॥
उभा । हि । वृत्रहन्-तमा ॥ १ ॥

७—(देवान्) विदुषः (यत्) यस्मात्कारणात् (नाथितः) नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु—क्त । प्रार्थी (हुवे) आह्वयामि (ब्रह्मचर्यम्) गदमदचरयमश्चानुपसर्गे । पा० ३ । १ । १०० । ब्रह्म+चर गतौ—यत् । ब्रह्मणे वेदलाभाय चर्यं चरणम् । आत्मनिग्रहवेदाध्ययनादितपः (यत्) यस्मात् (ऊषिम) वस निवासे-लिट् । वयमुषितवन्तः (अक्षान्) व्यवहारान् (यत्) (बभ्रून्) भरणशीलान् (आलभे) समन्ताद् गृह्णामि (ते) विद्वांसः (नः) अस्मान् (मृडन्तु) सुखयन्तु (ईदृशे) एवं विधे धार्मिके कर्मणि ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (च) और (अग्ने) हे तेजस्वी मन्त्री ! [आप दोनों] (दाशुषे) दानशील [प्रजागण] के लिये (वृत्राणि) रोकावटों को (अप्रति) बे रोक टोक (हतः) नाश करते हैं। (हि) क्योंकि (उभा) दोनों (वृत्रहन्तमा) रोकावटों के अत्यन्त नाश करनेवाले हैं ॥१॥

भावार्थ—प्रतापी राजा और विद्वान् मन्त्री शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करें ॥१॥

याभ्यामजयन्त्स्व॑१ रग्र॑ एव यावातस्थतुर्भुव॑नानि विश्वा॑ । प्रचर्षणी वृष॑णा वज्र॑बाहू अग्निमिन्द्रं॑ वृत्रहणा॑ हुवे ऽहम् ॥२॥

याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्रे । एव । यौ । आ-तस्थतुः । भुव॑नानि । विश्वा॑ ॥ प्रचर्षणी इति प्र-चर्षणी । वृष॑णा । वज्र-बाहू इति वज्र-बाहू । अग्निम् । इन्द्रम् । वृत्र-हना । हुवे । अहम् ॥२

भाषार्थ—(याभ्याम्) जिन दोनोंके द्वारा (एव) ही उन्होंने [महात्माओंने] (स्वः) स्वर्ग [सुख] को (अग्रे) पहिले (अजयन्) जीता था [पाया था], (यौ) जो दोनों (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (आतस्थतुः) ठहरगये हैं। [उन दोनों] (प्रचर्षणी) शीघ्र गामी वा अच्छे मनुष्यों वाले, (वृषणा) शूर, (वज्रबाहू) वज्र [लोह समान दृढ़] भुजाओं वाले, (वृत्रहणा) रोकावटें नाश करनेवाले (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवाले राजा और (अग्निम्) तेजस्वी मन्त्री को (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण पहिले से राजा और मन्त्री के प्रबन्ध में सुखी रहे हैं, वैसेही सदा रहें ॥ २ ॥

१—(अग्ने) हे तेजस्विन् मन्त्रिन् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवन् राजन्—इत्यर्थः (च) (दाशुषे) दानशीलाय प्रजागणाय (हतः) भवन्तौ नाशयतः (वृत्राणि) आवरकाणि कर्माणि (अप्रति) अप्रतिपक्षम् (उभा) द्वौ (हि) यतः (वृत्रहन्तमा) विघ्नानां नाशयितृतमौ ॥

२—(याभ्याम) राजमन्त्रिभ्याम् (अजयन्) प्राप्तवन्तो महात्मानः (स्वः) अ० २।५।२। सुखम् (अग्रे) पूर्वकाले (एव) अवश्यम् (यौ) (आतस्थतुः) व्याप्तवन्तौ (भुवनानि) भूतजातानि (विश्वा) सर्वाणि (प्रचर्षणी) अ० ४।२४।३। शीघ्रगामिनौ। प्रकृष्टमनुष्यवन्तौ (वृषणा) इन्द्रौ। पराक्रमिणौ (वज्रबाहू) वज्रवल्लौहतुल्यौ दृढौ बाहू ययोस्तौ (अग्निम्) तेजस्विनं मन्त्रिणम् (इन्द्रम्) प्रतापिनं राजानम् (वृत्रहणा) विघ्ननाशकौ (हुवे) आह्वयामि (अहम्) प्रजागणः ॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॑ग्रभीच्चम॒सेन॒ बृह॒स्पतिः॑ ।
इन्द्र॑ गी॒र्भिर्न॒ आ वि॑श॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ ३ ॥

उप॑ । त्वा॒ । दे॒वः । अ॒ग्र॒भी॒त् । च॒म॒सेन॑ । बृह॒स्पतिः॑ ॥ इन्द्र॑ । गीः॒-भिः । नः॒ । आ । वि॒श॒ । यज॑मानाय । सु॒न्व॒ते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (त्वा) तुझे (देवः) प्रकाशमान, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमेश्वर ने (चमसेन) अन्न के साथ (उप अग्रभीत्) सहारा दिया है। तू (गीर्भिः) वाणियों [स्तुतियों] के साथ (यजमानाय) संयोग वियोग करनेवाले (सुन्वते) तत्त्व मथन करनेवाले पुरुष के लिये (नः) हम में (आ विश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से विवेकी धर्मात्माओं का सहाय करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १११ ॥

१ ॥ ईश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्र॑स्य कु॒क्षिर॑सि सोम॒धान॑ आ॒त्मा दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षाणाम् । इ॒ह प्र॒जा ज॑नय॒ यास्त॑ आ॒सु या अ॒न्यत्रे॒ह तास्ते॑ रमन्ताम् ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । कु॒क्षिः । अ॒सि॒ । सो॒म॒-धानः॑ । आ॒त्मा । दे॒वाना॑म् । उ॒त । मानु॑षाणाम् ॥ इ॒ह । प्र॒-जाः । ज॒न॒य॒ । याः । ते॒ । आ॒सु ।

३—(उप) समीपे (त्वा) त्वां राजानम् (देवः) प्रकाशमानः (अग्रभीत्) अग्रहीत्। गृहीतवान् (चमसेन) अ० ६ । ४७ । ३ । अन्नेन (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् (गीर्भिः) वाणीभिः । स्तुतिभिः (नः) अस्मान् (आ विश) प्रविश । प्राप्नुहि (यजमानाय) पदार्थानां संयोजकवियोजकाय (सुन्वते) तत्त्वमथनशीलाय ॥

याः । अन्यत्र । इह । ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य का (कुक्षिः) कोख रूप, (सोमधानः) अमृत का आधार, (देवानाम्) दिव्य लोकों [सूर्य, पृथिवी आदि] का (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (आत्मा) आत्मा [अन्तर्यामी] (असि) है । (इह) यहां पर (प्रजाः) प्रजाओं को (जनय) उत्पन्न कर, (याः) जो (ते) तेरे लिये [तेरी आज्ञाकारी] (आसु) इन [प्रजाओं] में, और (याः) जो (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [हों] (इह) यहां पर (ताः) वे सब (ते) तेरे लिये (रमन्ताम्) विहार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रयत्न करें कि सब मनुष्य निकट और दूर स्थान में ईश्वर की आज्ञा मानते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् ११२ ॥

१-२ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

इन्द्रियजयोपदेशः—इन्द्रियों के जय का उपदेश ॥

शुम्भ॑नी द्यावापृथि॒वी अन्ति॑सुम्ने॒ महि॑व्रते ।
आपः॑ स॒प्त सु॑स्रुवुर्दे॒वीस्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

शुम्भ॑नी॒ इति॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अन्ति॑सुम्ने॒ इत्यन्ति॑-सुम्ने । महि॑व्रते॒ इति॒ महि॑-व्रते ॥ आपः॑ । स॒प्त । सु॒स्रु॒वुः॒ । दे॒वीः । ताः । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शुम्भनी) शोभायमान (द्यावपृथिवी) सूर्य और पृथिवी

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य (कुक्षिः) अ० २ । ५ । ४ । कुक्षिरूपः (सोमधानः) अमृताधारः (आत्मा) अन्तर्यामी (देवानाम्) सूर्यपृथिव्यादिदिव्यलोकानाम् (उत) अपि (मानुषाणाम्) मनुष्याणाम् (इह) (प्रजाः) मनुष्यादिरूपाः (जनय) उत्पादय (याः) प्रजाः (ते) तुभ्यम् । तवाज्ञापालनाय (आसु) प्रजासु (याः) (अन्यत्र) अन्यस्मिन् देशे (इह) अत्र (ताः) प्रजाः (ते) तुभ्यम् (रमन्ताम्) विहरन्तु ॥

१—(शुम्भनी) शुम्भ शोभायाम्—ल्युट् । शुम्भन्यौ शोभायमाने (द्यावा-

लोक (अन्तिसुम्ने) [अपनी] गतियों से सुख देने वाले और (महिव्रते) बड़े व्रत [नियम] वाले हैं। (देवीः) उत्तम गुणवाली (सप्त) सात (आपः) व्यापनशील इन्द्रियां [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] (सुस्रुवुः) [हमें] प्राप्त हुई हैं, (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और पृथिवी लोक ईश्वर नियम से अपनी अपनी गति पर चल कर वृष्टि अन्न आदि से उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रखकर अपराधों से बचें ॥ १ ॥

(सप्त आपः) पदों का मिलान करो (सप्त सिन्धवः) पदों से–अ० ४। ६। २॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् २

मुञ्चन्तु। मा। शपथ्यात्। अथो इति। वरुण्यात्। उत॥ अथो इति। यमस्य। पड्वीशात्। विश्वस्मात्। देव-किल्बिषात्॥२॥

भाषार्थ—वे [व्यापनशील इन्द्रियां–म० १] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथ सम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुये [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) परमेश्वर के प्रति अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमाद छोड़कर इन्द्रियों को जीतकर सब प्रकार के दोषों से बचें ॥ २ ॥

यह मन्त्र आचुका है। अ० ६। ९६। २ ॥

पृथिवी) सूर्यभूलोकौ (अन्तिसुम्ने) वसेरितः। उ० ४। १८०। अम गतौ–ति। सुम्नं सुखम्—निघ० ३। ६। स्वगतिभिः सुखकारिण्यौ (महिव्रते) अत्यन्तनियमयुक्ते (आपः) व्यापनशीलानीन्द्रियाणि। शीर्षण्यानि कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखानि। सिन्धवः—अ० ४। ६। २। (सप्त) अ० ४। ६। २। सप्तसंख्याकाः (सुस्रुवुः) स्रु गतौ—लिट्। अस्मान् प्रापुः (देवीः) दिव्यगुणाः (ताः) आपः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (ताः) आपः—म० १ (देवकिल्बिषात्) परमेश्वरं प्रति दोषात्। अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६। ९६। २ ॥

सूक्तम् ११३ ॥

१-२ ॥ तृष्टिका देवता ॥ १ विराड् अनुष्टुप्; २ उष्णिक् ॥

तृष्णाविमोचनोपदेशः—तृष्णा त्याग का उपदेश ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके ।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके । तृष्ट-वन्दने । उत् । अमूम् । छिन्धि । तृष्टिके ॥
यथा । कृत-द्विष्टा । असः । अमुष्मै । शेप्या-वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(तृषिके) हे कुत्सित तृष्णा ! (तृष्टवन्दने) हे लोलुपता की लता रूपा ! तू (अमूम्) पीड़ा को (उत् छिन्धि) काट डाल, (तृष्टिके) हे लोभ में टिकने वाली ! तू (यथा) जिससे (अमुष्मै) उस (शेप्यावते) शक्तिमान् पुरुष के लिये (कृतद्विष्टा) द्वेषनाशिनी (असः) होवे [वैसा किया जावे] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पीड़ादायिनी तृष्णा को छोड़कर ईर्षा द्वेष नाश करनेमें समर्थ होवें ॥ १ ॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विषा । विषातकी । असि ॥
परि-वृक्ता । यथा । असंसि । ऋषभस्य । वशा-इव ॥ २ ॥

१—(तृष्टिके) ञि तृषा पिपासायाम् -क्त । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति कप्रत्ययः । हे कुत्सिततृष्णे (तृष्टवन्दने) वदि अभिवादनस्तुत्योः-युच्, टाप् । तृष्टस्य लोलुपताया लतारूपे (उत्) उत्कर्षेण (अमूम्) कृषिचमितनि० उ० १ । ८० । अम रोगे पीडने-ऊ प्रत्ययः स्त्रियाम् । पीडाम् (छिन्धि) भिन्धि (तृष्टिके) ञि तृषा-क्विप्+टिक गतौ-क । तृषि लोभे टेकते गच्छति या सा तत्सम्बुद्धौ (यथा) येन प्रकारेण, तथा क्रियतामिति शेषः (कृतद्विष्टा) कृ हिंसायाम्-क्त । कृतं नाशितम् द्विष्टं द्वेषणं यया सा (असः) भवेः (अमुष्मै) प्रसिद्धाय (शेप्यावते) शेपो बलम्, स्वार्थे-यत्, टाप् । शक्तिमते पुरुषाय ॥

भाषार्थ—(तृष्टा) तू तृष्णा (तृष्टिका) लोभ में टिकने वाली (असि) है, (विषा) विषैली (विषातकी) विष से जीवन दुःखित करने वाली (असि) है। (यथा) जिससे तू (परिवृक्ता) परित्यक्ता (असरसि) हो जावे, (इव) जैसे (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष की (वशा) वशीभूत [प्रजा त्याज्य होती है, वैसा किया जावे] ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष लोलुपता आदि अनिष्ट चिन्ताओं को इस प्रकार त्याग दें, जैसे शूर सेनापति शरणागत शत्रु सेना को छोड़ देता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ११४ ॥

१-२ ॥ अग्निः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राक्षसनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे ।
आ ते॒ मुखस्य॒ संकाशा॑त् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥१॥

आ । ते॒ । द॒दे॒ । व॒क्षणा॑भ्यः । आ । ते॒ । अ॒हम् । हृद॑यात् । द॒दे॒ ॥
आ॒ । ते॒ । मुख॑स्य । सम्-का॒शात् । सर्व॑म् । ते॒ । वर्चः॑ । आ । द॒दे॒ ।१।

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (अहम्) मैं ने (ते) तेरी (वक्षणाभ्यः) छाती के अवयवों से [बल को] (आ ददे) ले लिया है, (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से (आ ददे) ले लिया है। (आ) और (ते) तेरे (मुखस्य) मुख के

२—(तृष्टा) म० १। तृष्णा (असि) भवसि (तृष्टिका) म० १। लोभे गतिशीला (विषा) अर्श आद्यच्। विषयुक्ता (विषातकी) विष+आ+तकि कृच्छ्रजीवने—अण्, ङीप्, नकारलोपः। विषेण आतङ्कति कृच्छ्रजीवनं करोति या सा (असि) (परिवृक्ता) परिवर्जिता। परित्यक्ता (यथा) येन प्रकारेण (असरसि) शप् छान्दसः। भवसि (ऋषभस्य) श्रेष्ठस्य (वशा) वशीभूता। आयत्ता (इव) यथा ॥

१—(ते) तव (आ ददे) लिटि रूपम्। गृहीतवानस्मि (वक्षणाभ्यः) अ० २। ५। ५। वक्ष रोषे—युच्। टाप्। वक्षःस्थलेभ्यः (ते) (अहम्)

(संकाशात्) आकार से (ते) तेरे (सर्वम्) सब (वर्चः) ज्योति वा बल को (आ ददे) ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधार्मिक दोषों और शत्रुओं को नाश करें ॥ १ ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । वि-आध्यः । प्र । अनु-ध्याः । प्रो इति । अशस्तयः ॥
अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥२॥

भाषार्थ—(इतः) यहां से (व्याध्यः) सब रोग (प्र) बाहिर, (अनुध्याः) सब अनुताप (प्र) बाहिर और (अशस्तयः) सब अपकीर्तियां (प्रो) बाहिर ही (यन्तु) चली जावें । (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) राक्षसों से युक्त [सेनाओं] को (हन्तु) मारे और (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (दुरस्यतीः) अनिष्ट चीतनेवाली [प्रजाओं] को (हन्तु) नाश करे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा में शान्ति रखने के लिये चोर डाकू आदि राक्षसों का नाश करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११५ ॥

१-४ ॥ सविता जातवेदा वा देवता ॥ १, ४ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

(हृदयात्) (आ ददे) (आ) चार्थे (ते) (मुखस्य) (संकाशात्) आकारात् (सर्वम्) (ते) तव (वर्चः) तेजो बलं वा (आ ददे) ॥

२—(प्र) बहिर्भावे (इतः) अस्मात् स्थानात् (यन्तु) गच्छन्तु (व्याध्यः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । वि + आङ् + डुधाञ्—कि । जसि, गुणस्थाने यणादेशः । व्याधयः । रोगाः (प्र) (अनुध्याः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । अनु + ध्यै चिन्तायाम्—अङ्, टाप् । अनुतापाः (प्रो) बहिरेव (अशस्तयः) अपकीर्तयः (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) अ० ६ । २ । २ । राक्षसैर्युक्ताः सेनाः (हन्तु) नाशयतु (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (हन्तु) (दुरस्यतीः) अ० १ । २९ । २ । दुरस्य—शतृ, ङीप् । अनिष्टचिन्तिकाः प्रजाः ॥

दुर्लक्षणनाशोपदेशः—दुर्लक्षण के नाश का उपदेश ॥

प्र पते॒तः पा॑पि लक्ष्मि॒ नश्ये॒तः प्रामुतः॑ पत ।
अ॒य॒स्मये॑नाङ्के॒न॑ द्वि॒ष॒ते त्वा॒ स॑जामसि ॥ १ ॥

प्र । प॒त॒ । इ॒तः । पा॒पि॒ । ल॒क्ष्मि॒ । नश्य॑ । इ॒तः । प्र । अ॒मुतः॑ । प॒त॒ ॥ अ॒य॒स्मये॑न । अ॒ङ्के॑न । द्वि॒ष॒ते । त्वा॒ । आ । स॒जा॒म॒सि॒ ॥१॥

भाषार्थ—(पापि) हे पापी ! (लक्ष्मि) लक्षण [लक्ष्मी] ! (इतः) यहां से (प्र पत) चला जा, (इतः) यहां से (नश्य) छिप जा, (अमुतः) वहां से (प्र पत) चला जा । (अयस्मयेन) लोहे के (अङ्केन) कांटे से (त्वा) तुझको (द्विषते) वैरी में (आ सजामसि) हम चिपकाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुर्लक्षणों का सर्वथा त्याग करें । दुर्लक्षणों से दुष्ट लोग महादुःख पाते हैं ॥ १ ॥

या मा॑ ल॒क्ष्मीः प॑तया॒लूरजु॑ष्टाभि॒चस्क॒न्द॒ वन्द॑नेव वृ॒क्षम् । अ॒न्यत्रा॒स्मत् स॑वित॒स्तामि॒तो धा॒ हिर॑ण्यहस्तो॒ वसु॑ नो॒ ररा॑णः ॥ २ ॥

या । मा॒ । ल॒क्ष्मीः । प॒त॒या॒लूः । अजु॑ष्टा । अ॒भि॒-च॒स्कन्द॑ । वन्द॑ना-इ॒व । वृ॒क्षम् ॥ अ॒न्यत्र॑ । अ॒स्मत् । स॒वि॒तः॒ । ताम् । इ॒तः । धाः॒ । हिर॑ण्य-हस्तः । वसु॑ । नः॒ । ररा॑णः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (पतयालूः) गिरानेवाला (अजुष्टा) अप्रिय

१—(प्र पत) बहिर्गच्छ (इतः) अस्मात् स्थानात् (पापि) केवलमामकभागधेयपापा० । पा० ४ । १ । ३० । पाप—ङीप्, हे दुष्टे (लक्ष्मि) लक्षेर्मुट् च । उ० ३ । १६० । लक्ष दर्शनाङ्कनयोः-ई, मुट् च । हे लक्षण (नश्य) अदृष्टा भव (इतः) (प्र) (अमुतः) दूरदेशात् (पत) (अयस्मयेन) लोहमयेन (अङ्केन) कण्टकेन (द्विषते) शत्रवे (त्वा) त्वाम् (आ) समन्तात् (सजामसि) षञ्ज सङ्गे सम्बन्धे च । सजामः । संबध्नीमः ॥

२—(या) (मा) माम् (लक्ष्मीः) म० १ । लक्षणम् (पतयालूः) स्पृहि-

(लक्ष्मीः) लक्षण (मा) मुझपर (अभिचस्कन्द) आ चढ़ा है, (इव) जैसे (वन्दना) बेल (वृक्षम्) वृक्ष पर। (सवितः) हे ऐश्वर्यवान् [परमेश्वर !] (हिरण्यहस्तः) तेज वा सुवर्ण हाथ में रखनेवाला, (नः) हमें (वसु) धन (रराणः) देता हुआ तू (इतः) यहां से, (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरे [दुष्टों में] (ताम्) उसको (धाः) धर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अनुग्रह से अधर्मरूप दुर्लक्षणों और दुष्टों से बचकर शुभ गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

एकंशतं लक्ष्म्यो॒ ३ मर्त्यस्य साकं तन्वा॑ जनुषोऽधि जाताः। तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एक-शतम्। लक्ष्म्यः। मर्त्यस्य। साकम्। तन्वा। जनुषः। अधि। जाताः॥ तासाम्। पापिष्ठाः। निः। इतः। प्र। हिण्मः। शिवाः। अस्मभ्यम्। जात-वेदः। नि। यच्छ ॥३॥

भाषार्थ—(एकशतम्) एक सौ एक [३अपरिमित, पापिष्ठ और माङ्गलिक] (लक्ष्म्यः) लक्षण (मर्त्यस्य) मनुष्य के (तन्वा साकम्) शरीर के साथ (जनुषः) जन्म से (अधि) अधिकार पूर्वक (जाताः) उत्पन्न हुये हैं।

गृहिपतिदयि०। पा० ३। २। १५८। पत गतौ, चुरादिः, अदन्तः—आलुच्। ऊङुतः। पा० ४। १। ६६। ऊङ् स्त्रियाम्। पातयित्री। दुर्गतिकारिणी(अजुष्टा) अप्रिया (अभिचस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—लिट्। अभितःप्राप (वन्दना) सू०११३ म० १ लता (इव) यथा (वृक्षम्) (अन्यत्र) अन्येषु दुष्टेषु (अस्मत्) अस्मत्तः धार्मिकेभ्यः (सवितः) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ताम्) लक्ष्मीम्। लक्षणम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (धाः) दध्याः (हिरण्यहस्तः) हिरण्यं तेजः सुवर्णं वा हस्ते वशे यस्य सः (वसु) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (रराणः) म० ५। २७। ११। ददानः॥

३—(एकशतम्) एकाधिकशतसंख्याकाः। अपरिमिता इत्यर्थः (लक्ष्म्यः) म० १। लक्षणानि (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (साकम्) सह (तन्वा) शरीरेण (जनुषः) अ० ४। १। २। जन्मनः सकाशात् (अधि) अधिकारे (जाताः)

(तासाम्) उन में से (पापिष्ठाः) पापिष्ठ [लक्षणों] को (इतः) यहां से (निः) निश्चय करके (प्र हिण्मः) हम निकाले देते हैं, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर! (अस्मभ्यम्) हमें (शिवाः) माङ्गलिक [लक्षण] (नि) नियम से (यच्छ) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों से शुभ और अशुभ लक्षणों सहित जन्मता है। जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे क्लेशों को मिटाकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

एताः । एनाः । वि-आकरम् । खिले । गाः । विस्थिताः-इव ॥
रमन्ताम् । पुण्याः । लक्ष्मीः । याः । पापीः । ताः । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—(एताः) इन [पुण्य लक्षणों] को और (एनाः) इन [पाप लक्षणों] को (व्याकरम्) मैंने स्पष्ट कर दिया है (इव) जैसे (खिले) विना जुते स्थान [जंगल] में (विष्ठिताः) खड़ी हुई (गाः) गौओं को। (पुण्याः) पुण्य (लक्ष्मीः) लक्षण (रमन्ताम्) ठहरे रहें, और (याः) जो (पापीः)

उत्पन्नाः (तासाम्) लक्ष्मीणां मध्ये (पापिष्ठाः) अतिशयेन पापीः (निः) निश्चयेन (इतः) अस्मात्स्थानात् (प्र हिण्मः) हि गतौ वृद्धौ च। प्रेरयामः। अपसारयामः (शिवाः) मङ्गलकारिणीर्लक्ष्मीः (अस्मभ्यम्) धर्मात्मभ्यः (जातवेदः) उत्पन्नानां पदार्थानां वेदितः (नि) नियमेन (यच्छ) दाण् दाने। देहि ॥

४—(एताः) पुण्याः (एनाः) पापीः (व्याकरम्) वि+आङ्+डु कृञ् करणे—लुङ्। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि। पा० ३।१।५९। इति च्लेरङ्। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७।४।१६। इति गुणः। व्याख्यातवानस्मि (खिले) खिल कणश आदाने-क। अकृष्टदेशे (गाः) धेनूः (विष्ठिताः) विविधं स्थिताः (इव) यथा (रमन्ताम्) तिष्ठन्तु (पुण्याः) कल्याण्यः (लक्ष्मीः) लक्ष्म्यः।

पापी [लक्षण] हैं, (ताः) उन्हें (अनीनशम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य भले और बुरे कर्मों के लक्षण समझकर भलों का स्वीकार और बुरों का त्याग करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ११६ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ परोष्णिक्; २ आर्च्यनुष्टुप् ॥

रोगनिवारणोपदेशः—रोग निवारण का उपदेश ॥

नमो॑ रूरा॒य॒ च्यव॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑ ।
नमः॑ शी॒ताय॑ पूर्वका॒म॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥

नमः॑ । रू॒राय॑ । च्यव॑नाय । नोद॑नाय । धृ॒ष्णवे॑ ॥
नमः॑ । शी॒ताय॑ । पू॒र्व॒ऽका॒म॒ऽकृत्व॑ने ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रूराय) घातक (च्यवनाय) पतित, (नोदनाय) ढकेलने वाले, (धृष्णवे) ढीठ [शत्रु] को (नमः) वज्र । (शीताय) शीत [समान] (पूर्वकामकृत्वने) पहिली कामनायें काटने वाले [वैरी] को (नमः) वज्र [होवे] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अति शीत खेती आदि को हानि करता है, वैसे हानिकारक शत्रु को दण्ड देना चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २५ । ४ । से करो ॥

लक्षणानि (याः) (पापीः)—म० १ । पापकारिण्यः । दुर्लक्षणानि (अनीनशम्) अ० १ । २३ । ४ । नाशितवानस्मि ॥

१—(नमः) वज्रः–निघ० २ । २० (रूराय) अ० १ । २५ । ४ । घातकाय (च्यवनाय) अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४९ । च्युङ् गतौ–युच् । च्युताय पतिताय (नोदनाय) णुद प्रेरणे—युच् । प्रेरकाय । विक्षपयित्रे (धृष्णवे) अ० १ । १३ । ४ । प्रगल्भाय शत्रवे (नमः) (शीताय) अ० १ । २५ । ४ । हिमसदृशाय (पूर्वकामकृत्वने) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कृती छेदने—क्वनिप् । नेड्वशि कृति० । पा० ७ । २ । २८ । इट् प्रतिषेधः । प्रथमाभिलाषाणां कर्त्तित्रे । छेदकाय वैरिणे ॥

यो अ॒न्ये॒द्युरु॑भय॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒त्वव्र॒तः ॥ २ ॥
यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भ॒य॒ऽद्युः । अ॒भि॒ऽएति॑ । इ॒मम् । म॒ण्डूक॑म् ।
अ॒भि । ए॒तु॒ । अ॒व्र॒तः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा और (उभयद्युः) दो अन्तरा [ज्वर समान] (अभ्येति) चढ़ता है, (अव्रतः) नियमहीन वह [रोग] (इमम्) इस (मण्डूकम्) मेडक [समान टर्राने वाले आत्मश्लाघी पुरुष] को (अभि एतु) चढ़े [ऐसे ज्वर समान शत्रु पर वज्र होवे—म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ज्वर आदि रोग कुनियमियों को सताता है, वैसे धर्मात्माओं के दुखदायी शत्रु लोग दण्डनीय हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती छन्दः ॥

राजाधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भि॒र्याहि॑ म॒यूर॑रोमभिः । मा त्वा॒ के
चि॒द्वि य॑म॒न्विं न पा॒शिनोऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥ १ ॥
आ । म॒न्द्रैः । इ॒न्द्र॒ । हरि॑ऽभिः । या॒हि । म॒यूर॑रोम॒ऽभिः ॥
मा । त्वा॒ । के । चि॒त् । वि । य॒म॒न् । विम् । न । पा॒शिनः॑ ।
अति॑ । धन्व॑ऽइव । तान् । इ॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे प्रतापी राजन् ! (मन्द्रैः) गम्भीरध्वनियों से

२—(यः) ज्वरः (अन्येद्युः) सद्यः परुत् परार्यैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । अन्य—एद्युस् प्रत्ययः । अन्यस्मिन्नहनि (उभयद्युः) द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ३ । २२ उभय—द्युः प्रत्ययः । उभयोर्दिनयोः, अतीतयोरिति शेषः (अभ्येति) अभिगच्छति (इमम्) प्राणिनम् (मण्डूकम्) अ० ४ । १५ । १२ । भेक-तुल्यशब्दायमानमात्मश्लाघिनं पुरुषम् (अभ्येतु) अभिगच्छतु (अव्रतः) अ० ६ । २० । १ । भ्रष्टनियमः ॥

१—(आ याहि) आगच्छ (मन्द्रैः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ ।

वर्तमान (मयूररोमभिः) मोरोंके रोम [समान चिकने, विचित्र रंग, दृढ़, बिजुली से युक्त रोमवस्त्र] वाले (हरिभिः) मनुष्यों और घोड़ोंके साथ (आ याहि) तू आ। (त्वा) तुझको (के चित्) कोई भी (मा वि यमन्) कभी न रोकें (न) जैसे (पाशिनः) जालवाले [चिड़ीमार] (विम्) पक्षी को ; तू (तान् अति) उनके ऊपर होकर (इहि) चल (धन्व इव) जैसे निर्जल देश [के ऊपर से] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये चतुर विज्ञानियों के बनाये हुये कवच आदि से सजे हुये सेना, अश्व, रथ आदि के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ३। १। ४५; यजुः०—२०। ५३; साम० पू० ३। ६। ४॥

सूक्तम् ११८ ॥

१ ॥ कवचसोमवरुणा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्। उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

मर्माणि। ते। वर्मणा। छादयामि। सोमः। त्वा। राजा। अमृतेन। अनु। वस्ताम् ॥ उरोः। वरीयः। वरुणः। ते। कृणोतु। जयन्तम्। त्वा। अनु। देवाः। मदन्तु ॥ १ ॥

मदि स्तुतौ—रक्। गम्भीरध्वनिभिर्वर्तमानैः (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् (हरिभिः) मनुष्यैरश्वैश्च (मयूररोमभिः) मीनातेरूरन्। उ० १। ६७। मीञ् हिंसायाम्—ऊरन्। नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्०। उ० ४। १५१। रु शब्दे—मनिन्। मयूररोमसदृशरोमाणि कवचवस्त्राणि येषां तैः (मा) निषेधे (त्वा) त्वां राजानम् (के चित्) केऽपि शत्रवः (वि) विविधम् (यमन्) यमु उपरमे लेट्यडागमः। नियच्छन्तु। प्रतिबध्नन्तु (विम्) वातेर्डिच्च। उ० ४। १३४। वा गतिगन्धनयोः—इण्; डित्। पक्षिणम् (न) उपमार्थे (पाशिनः) जालवन्तो व्याधाः (अति) अतीत्य (धन्व) अ० ४। ४। ७। निर्जलं मरुदेशम् (इव) यथा (तान्) शत्रून् (इहि) गच्छ ॥

भाषार्थ—[हे शूरवीर !] (ते) तेरे (मर्माणि) मर्मों को (वर्मणा) कवच से (छादयामि) मैं [सेनापति] ढांकता हूं, (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) राजा [कोशाध्यक्ष] (त्वा) तुझको (अमृतेन) अमृत [मृत्यु निवारक, शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र, अन्न, औषध आदि] से (अनु) निरन्तर (वस्ताम्) ढके। (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष [चतुर मार्गदर्शक] (ते) तेरे लिये (उरोः) चौड़े से (वरीयः) अधिक चौड़ा [स्थान] (कृणोतु) करे, (जयन्तम्) विजयी (त्वा अनु) तेरे पीछे (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (मदन्तु) आनन्द पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वाधीश मुख्य सेनापति अधिकारियों द्वारा योद्धाओं को समस्त आवश्यक सामग्री देकर उत्साहित करे, जिससे सब वीर आनन्दध्वनि करते हुये विजयी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ७५ । १८; यजुः०—१७ । ४६ ; साम० उ० ६ । ३ । ८ ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

इति सप्तमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीराव गायक-वाड़ाधिष्ठित** बड़ोदे पुरीगत श्रावणमास परीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे शुक्लपञ्चम्यां तिथौ १९७३ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्रीराजराजेश्वरपञ्चमजार्जमहोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आश्विनकृष्णा १३ संवत् १९७३ ता० २५ सितम्बर १९१६ ॥

१—(मर्माणि) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४ । १४५ । मृङ् प्राणत्यागे—मनिन्। शरीरसन्धिस्थानानि (ते) तव (वर्मणा) कवचेन (छादयामि) संवृणोमि (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शासकः कोशाध्यक्षः (अमृतेन) मृत्युनिवारकेण शस्त्रास्त्रवस्त्रान्नौषधादिना वस्तुना (अनु) निरन्तरम् (वस्ताम्) आच्छादयतु (उरोः) उरुणः। विस्तृतात् (वरीयः) उरुतरं (स्थानम्) (वरुणः) श्रेष्ठो मार्गदर्शकः (कृणोतु) करोतु (जयन्तम्) अ० ६ । ९७ । ३ विजयिनम् (त्वा) (अनु) अनुलक्ष्य (देवाः) विजिगीषवो वीराः (मदन्तु) हृष्यन्तु ॥

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

अष्टमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरुचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ } संवत् १९७३ वि० } मूल्यम् २)
१००० पुस्तकानि } सन् १९१६ ई०

पता— पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ... प्रयाग (Allahabad) ॥

* ओ३म् *

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है ।"

आनन्द समाचार ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग-निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के परमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्म विद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्त्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद्द दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८			पृष्ठ २१५० लगभग
मूल्य	१)	१।-)	१॥-)	२)	१॥=)	३)	२।)	२)			१५।)

काण्ड ९—छप रहा है। काण्ड १०—शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवन मन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संग्रहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान, सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

१५ दिसम्बर १९१६

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad.)

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ८ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अन्तकाय मृत्यवे नमः	प्रजापति	मनुष्य कर्त्तव्य	पुरोबृहती आदि
२	आरभस्वेमाममृतस्य	प्रजापति आदि	कल्याण की प्राप्ति	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
३	रक्षोहणं वाजिनमा	अग्नि रक्षोहा	राजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
३।१५	यः पौरुषेयेण क्रविषा	अग्नि रक्षोहा	मांस भक्षक का शिर काटना	भुरिक् त्रिष्टुप्
४	इन्द्रासोमा तपतं रक्ष	इन्द्रासोम आदि	राजा और मन्त्री का धर्म	जगती आदि
४।४,५	इन्द्रासोमा वर्तयतं	इन्द्रासोमौ	हथियार बनाना	जगती
५	अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो	कृत्यादूषण आदि	हिंसा का नाश	उपरिष्टाद् बृहती आदि
६	यौ ते मातोन्ममार्ज	प्रजापति	गर्भ की रक्षा	अनुष्टुप् आदि
७	या बभ्रवो याश्च शुक्रा	ओषधि	रोग का विनाश	अनुष्टुप् आदि
८	इन्द्रो मन्थतु मन्थिता	इन्द्र आदि	शत्रु का नाश	निचृदनुष्टुप् आदि
९	कुतस्तौ जातौ कतमः	प्रजापति आदि	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१०(१)	विराड् वा इदमग्र आसीत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	आर्चीपङ्क्ति आदि
(२)	सोदक्रामत् सान्तरिक्षे	विराट्	ब्रह्म विद्या	साम्न्यनुष्टुप् आदि
(३)	सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	आर्ची पङ्क्ति आदि
(४)	सोदक्रामत्सासुराना-गच्छत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	साम्नी जगती आदि
(५)	सोदक्रामत् सा देवाना-गच्छत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	आर्च्युष्णिक् आदि
(६)	तद्यस्मा एवं विदुषे	विराट	ब्रह्म विद्या	साम्नी बृहती आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड ८ के मन्त्र अन्य वेदों में सपूर्ण वा कुछ भेद से॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड ८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक उत्तरार्चिकइत्यादि
१	आहार्षमविदं त्वा	१ । २०	१० । १६१ । ५		
२-२४	रक्षोहणं वाजिनमा	३ । १-२३	१० । ८७ । १-२३		
२५	वि ज्योतिषा बृहता	३ । २४	५ । २ । ९		
२६	अग्नी रक्षांसि सेधति	३ । २६	७ । १५ । १०		
२७-५१	इन्द्रासोमा तपतं	४ । १-२५	७ । १०४ । १-२५		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

अष्टमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—२१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; २, ३, १७—२१ अनुष्टुप्; ४, ९, १५, १६ प्रस्तारपङ्क्तिः; ५, ६, १०, ११ त्रिष्टुप्; ७ भुरिक् त्रिपदा त्रिष्टुप्; ८ विराट् पथ्या बृहती, १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती; १३ त्रिपदा भुरिङ् महाबृहती; १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती ॥

मनुष्यकर्त्तव्योपदेशः—मनुष्य कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अन्त॑काय मृ॒त्यवे॒ नमः॑ प्रा॒णा अ॑पा॒ना इ॒ह ते॑ रमन्ताम्
इ॒हायम॑स्तु॒ पुरु॑षः स॒हासु॑ना॒ सूर्य॑स्य भा॒गे अ॒मृत॑स्य लो॒के ॥१॥

अन्त॑काय । मृ॒त्यवे॑ । नमः॑ । प्रा॒णाः । अ॒पा॒नाः । इ॒ह । ते॒ । र॒म॒न्ता॒म् ॥ इ॒ह । अ॒यम् । अ॒स्तु॒ । पुरु॑षः । स॒ह । असु॑ना । सूर्य॑स्य । भा॒गे । अ॒मृत॑स्य । लो॒के ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अन्तकाय) मनोहर करने वाले [परमेश्वर] को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार है, [हे मनुष्य !] (ते) तेरे

१—(अन्तकाय) हसिमृग्रिण्वामिदमि०। उ० ३।८६। अम गत्यादिषु—तन्। अन्तो मनोहरः। तत्करोतीत्युपसंख्यानम्। वा० पा० ३। १। २६।

(प्राणाः) प्राण और (अपानाः) अपान (इह) इस [परमेश्वर] में (रमन्ताम्) रमें रहें। (इह) इस [जगत्] में (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (असुना सह) बुद्धि के साथ (सूर्यस्य) सब के चलाने वाले सूर्य [अर्थात् परमेश्वर] के (भागे) ऐश्वर्य समूह के बीच (अमृतस्य लोके) अमर लोक [मोक्षपद] में (अस्तु) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने आत्मा को परमात्मा के गुणों में निरन्तर लगाते हैं, वे सर्वथा उन्नति करते हैं ॥ १ ॥

सूर्य परमेश्वर का नाम है—यजु० ७। ४२। (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) सूर्य चेतन और जड़ का आत्मा है ॥

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अं॒शुमा॑न् ।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

उत् । ए॒न॒म् । भगः॑ । अ॒ग्र॒भी॒त् । उत् । ए॒न॒म् । सोमः॑ । अं॒शु-मा॑न् ॥
उत् । ए॒न॒म् । म॒रुतः॑ । दे॒वाः । उत् । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(भगः) सेवनीय सूर्य ने (एनम्) इसे (उत्) ऊपर को, (अंशुमान्) अच्छी किरणों वाले (सोमः) चन्द्रमा ने (एनम्) इसे (उत्)

इति अन्त—णिच्—एवुल्। अन्तं करोति, अन्तयतीति अन्तकः। तस्मै मनोहरकर्त्रे परमेश्वराय (मृत्यवे) अ० ५। ३०। १२। मृत्युं नाशयितुम् (प्राणाः) बहिर्मुखसंचारिणो वायवः (अपानाः) अवाङ्मुखसंचारिणो वायवः (इह) अस्मिन् परमात्मनि (ते) तव (रमन्ताम्) क्रीडन्तु (इह) अस्मिन् जगति (अयम्) निर्दिष्टः (अस्तु) भवतु (पुरुषः) मनुष्यः (सह) (असुना) प्रज्ञया—निघ० ३। ६। (सूर्यस्य) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च—यजु० ७। ४२। इति प्रमाणम् (भागे) भग—अण्। ऐश्वर्याणां समूहे (अमृतस्य) मोक्षस्य (लोके) स्थाने ॥

२—(उत्) ऊर्ध्वम् (एनम्) पुरुषम् (भगः) सेवनीयः सूर्यः (अग्रभीत्) अग्रहीत्। धृतवान् (उत्) (एनम्) (सोमः) चन्द्रः (अंशुमान्) प्रशस्तकिरणयुक्तः (उत्) (एनम्) (मरुतः) अ० १। २०। १। वायुगणाः

ऊपर को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है। (देवाः) दिव्य (मरुतः) वायुगणों ने (एनम्) इसे (उत्) ऊपर को, (इन्द्राग्नी) बिजुली और [भौतिक] अग्नि ने (स्वस्तये) अच्छी सत्ता के लिये (उत्) ऊपर को [ग्रहण किया है] ॥ २ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानी पुरुष सूर्य आदि संसार के सब पदार्थों से उपकार लेते हैं, वे कल्याण भोगते हैं ॥ २ ॥

इ॒ह तेऽसु॑रि॒ह प्रा॒ण इ॒हायु॑रि॒ह ते॒ मनः॑ ।
उत् त्वा॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो॒ दैव्या॑ वा॒चा भ॑रामसि ॥३॥

इ॒ह । ते॒ । असु॑ः । इ॒ह । प्रा॒णः । इ॒ह । आयु॑ः । इ॒ह । ते॒ । मनः॑ ॥ उत् । त्वा॒ । निः-ऋ॑त्याः । पाशे॑भ्यः । दैव्या॑ । वा॒चा । भ॒रा॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) इस [परमेश्वर] में (ते) तेरी (असुः) बुद्धि, (इह) इस में (प्राणः) प्राण, (इह) इसमें (आयुः) जीवन, (इह) इसमें (ते) तेरा (मनः) मन [हो]। (त्वा) तुझको (निर्ऋत्याः) महा विपत्ति [अविद्या] के (पाशेभ्यः) जालों से (दैव्या) दैवी (वाचा) वाणी [वेद विद्या] के साथ (उत्) ऊपर (भरामसि) हम धरते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा पालन में सब इन्द्रियों सहित आत्मसमर्पण करें, यही विपत्तियों से बचने के लिये वेद का उपदेश है ॥ ३ ॥

उत् क्रा॒मातः॑ पुरुष॒ माव॑ पत्था मृ॒त्योः पड्बी॑शमवमु॒ञ्चमा॑नः ।
मा च्छि॑त्था अ॒स्माल्लो॒काद॒ग्नेः सूर्य॑स्य सं॒दृशः॑ ॥ ४ ॥

(देवाः) प्रशस्तगुणाः (उत्) (इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (स्वस्तये) अ० १ । ३० । २ । सु + अस सत्तायाम्—ति । सुसत्तायै ॥

३—(इह) अस्मिन् परमेश्वरे (ते) तव (असुः) प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ (इह) (प्राणः) जीवनसाधनं वायुः (इह) (आयुः) जीवनम् (इह) (ते) (मनः) अन्तःकरणम् (उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (निर्ऋत्याः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तेः । अविद्यायाः (पाशेभ्यः) जालेभ्यः (दैव्या) देव-अञ्, ङीप् । देवात् परमेश्वरात् प्राप्तया (वाचा) वाण्या (भरामसि) धरामः ॥

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः । पड्वीशम् । अव-मुञ्चमानः ॥ मा । छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्-दृशः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुष) हे पुरुष ! (अतः) इस [वर्तमान दशा] से (उत् क्राम) आगे डग बढ़ा, (मृत्योः) मृत्यु [अज्ञान, निर्धनता आदि] की (पड्वीशम्) बेड़ी को (अवमुञ्चमानः) छोड़ता हुआ (मा अव पत्थाः) मत नीचे गिर। (अस्मात् लोकात्) इस लोक [वर्तमान अवस्था] से, (अग्नेः) अग्नि [शरीर और आत्मबल] से, और (सूर्यस्य) सूर्य के (संदृशः) दर्शन [नियम] से (मा छित्थाः) मत अलग हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी वर्तमान दशा से आगे बढ़ने के लिये नित्य पुरुषार्थ करे ॥ ४ ॥

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥५॥

तुभ्यम् । वातः । पवताम् । मातरिश्वा । तुभ्यम् । वर्षन्तु । अमृतानि । आपः ॥ सूर्यः । ते । तन्वे । शम् । तपाति । त्वाम् । मृत्युः । दयताम् । मा । प्र । मेष्ठाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तुभ्यम्) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में चलने वाला

४—(उत्) ऊर्ध्वम् (क्राम) क्रमु पादविक्षेपे। पादं विक्षिप (अतः) वर्तमानाया दशायाः (पुरुष) मनुष्य (मा अव पत्थाः) पद गतौ-लुङ्। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। पा० ७। २। १०। इट्प्रतिषेधः। झलो झलि। पा० ८। २। २६। सिचो लोपः। अवपतनं मा कार्षीः (मृत्योः) अज्ञाननिर्धनतादिदुःखस्य (पड्वीशम्) अ० ६। ९६। २। पाशप्रवेशम् (अवमुञ्चमानः) विमोचयन् (मा छित्थाः) छिदेर्लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः। छिन्नो मा भूः (अस्मात्) (लोकात्) अवस्थायाः (अग्नेः) शरीरात्मबलादित्यर्थः (सूर्यस्य) आदित्यस्य (संदृशः) दृशेः क्विप्। संदर्शनात् ॥

५—(तुभ्यम्) त्वदर्थम् (वातः) वायुः (पवताम्) शुद्धयतु (मातरिश्वा)

(वातः) वायु (पवताम्) शुद्ध हो, (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) जल धारायें (अमृतानि) अमृतवस्तुयें (वर्षन्तु) बरसावें। (सूर्यः) सूर्य (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) शान्ति से (तपाति) तपे, (मृत्युः) मृत्यु (त्वाम्) तुझ पर (दयताम्) दया करे, (मा प्र मेष्ठाः) तू मत दुःखी होवे ॥५॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य को वायु आदि पदार्थ सुखदायी होते हैं, और वह क्लेशों में नहीं पड़ता ॥ ५ ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥६॥

उत्-यानम् । ते । पुरुष । न । अव-यानम् । जीवातुम् । ते । दक्ष-तातिम् । कृणोमि ॥ आ । हि । रोह । इमम् । अमृतम् । सु-खम् । रथम् । अथ । जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पुरुष) हे पुरुष ! (ते) तेरा (उद्यानम्) चढ़ाव [होवे], (न) न (अवयानम्) गिराव, (ते) तेरे लिये (जीवातुम्) जीविका और (दक्षतातिम्) बल [योग्यता] (कृणोमि) मैं करता हूं। (हि) अवश्य (इमम्) इस

अ० ५। १०। ८। अन्तरिक्षसंचारी (तुभ्यम्) (वर्षन्तु) सिञ्चन्तु (अमृतानि), मृत्युनिवारकाणि वस्तूनि (आपः) जलधाराः (सूर्यः) (ते) तव (तन्वे) शरीराय (शम्) सुखम् (तपाति) लेटि, आडागमः (त्वाम्) (मृत्युः) (दयताम्) दय रक्षणे। पालयतु (मा प्र मेष्ठाः) मीङ् हिंसायाम्—लुङ्। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। पा० ७। २। १०। इट्प्रतिषेधः। हिंसितो दुःखितो मा भूः ॥

६—(उद्यानम्) ऊर्ध्वगमनम् (ते) तव (पुरुषः) (न) निषेधे (अवयानम्) अधः पतनम् (जीवातुम्) अ० ६। ५। २। जीविकम्—निरु० ११। ११। (ते) तव (दक्षतातिम्) सर्वदेवात्तातिल्। पा० ४। ४। १४२ बाहुलकात्, दक्षादपि तातिल् स्वार्थे। दक्षं बलं योग्यताम् (कृणोमि) करोमि (आ रोह) अधितिष्ठ (हि) अवश्यम् (इमम्) पूर्वोक्तम् (अमृतम्) सनातनम् (सुखम्) सुखप्रदम्

(अमृतम्) अमर [सनातन], (सुखम्) सुखदायक (रथम्) रथ पर (आ रोह) चढ़ जा [उपदेश मान], (अथ) फिर (जिर्विः) स्तुति योग्य [होकर] तू (विदथम्) विचार समाज में (आ वदासि) भाषण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वराज्ञा और गुरु शिक्षा से विघ्नों को हटाकर आगे बढ़ते हैं, वे संसार में स्तुति पाकर सभाओं के अधिष्ठाता होते हैं ॥ ६ ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन् । विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वे ह ॥७॥

मा । ते । मनः । तत्र । गात् । मा । तिरः । भूत् । मा । जीवेभ्यः । प्र । मदः । मो । अनु । गाः । पितॄन् ॥ विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । त्वा । इह ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरा (मनः) मन (तत्र) वहां [अधर्म में] (मा गात्) न जावे, और (मा तिरो भूत्) लुप्त न होवे, (जीवेभ्यः) जीवों के लिये (मा प्र मदः) भूल मत कर, (पितॄन् अनु) पितरों [माननीय माता पिता आदि विद्वानों] से न्यून होकर (मा गाः) मत चल । (विश्वे) सब (देवाः) इन्द्रियां (इह) इस [शरीर] में (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षन्तु) रक्षा करें ॥ ७ ॥

(रथम्) यानम् । उपदेशमित्यर्थः (अथ) अनन्तरम् (जिर्विः) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् । उ० ४ । ५४ । जॄ स्तुतौ—क्विन्, छान्दसो ह्रस्वः । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जीर्विः । स्तुत्यः (विदथम्) अ० १ । १३ । ४ । विद विचारणे—अथ, ङित् । विचारसमाजम् । यज्ञम्—निघ० ३ । १७ (आ वदासि) लेटि रूपम् । व्यक्तं भाषय ॥

७—(ते) तव (मनः) (तत्र) तस्मिन् कुकर्मणि (मा गात्) मा गच्छेत् (मा तिरो भूत्) अन्तर्हितं विलीनं न भवेत् (जीवेभ्यः) प्राणिनामर्थाय (मा प्र मदः) प्रपूर्वो मदिरनवधाने—लुङ्, पुषादित्वादङ् । प्रमादं मा कुरु (पितॄन् अनु) हीने च । पा० १ । ४ । ८६ । इत्यनुर्हीने कर्मप्रवचनीयः । पितृभ्यो मातापित्रादि-विद्वद्भ्यो न्यूनः सन् (मा गाः) गमनं मा कुरु (विश्वे) सर्वे (देवाः) इन्द्रियाणि (अभि) सर्वतः (रक्षन्तु) (त्वा) त्वाम् (इह) अस्मिन् शरीरे ॥

भावार्थ—मनुष्य अधर्म छोड़ कर सावधानी से सब प्राणियों पर उपकार करें, और माननीय पुरुषों से हेटे न रहकर जितेन्द्रिय और प्रबलेन्द्रिय रहें ॥ ७ ॥

मा गुतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

मा । गुतानाम् । आ । दीधीथाः । ये । नयन्ति । पुरा-वतम् ॥ आ । रोह । तमसः । ज्योतिः । आ । इहि । आ । ते । हस्तौ । रभामहे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(गतानाम्) [उन] गये हुये [कुमार्गियों] का (आ) कुछ भी (मा दीधीथाः) मत प्रकाश कर, (ये) जो [मनुष्य को धर्म से] (परावतम्) दूर (नयति) ले जाते हैं। (तमसः) अन्धकार में से (आ रोह) ऊपर चढ़, (ज्योतिः) प्रकाश में (आ इहि) आ, (ते) तेरे (हस्तौ) दोनों हाथों को (आ रभामहे) हम पकड़ते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ-मनुष्य कुमार्गियों के मत में न फंस कर परस्पर ज्ञान बढ़ाकर उन्नति करें ॥ ८ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ । अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

श्यामः । च । त्वा । मा । शबलः । च । प्र-इषितौ । यमस्य । यौ । पथिरक्षी इति पथि-रक्षी । श्वानौ ॥ अर्वाङ् । आ ।

८—(गतानाम्) कुमार्गं प्राप्तानाम् (आ) ईषदर्थे (मा दीधीथाः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—लुङ्, छान्दसः सिचो लुक्। प्रकाशं मा कुरु (ये) कुमार्गिणः (नयन्ति) गमयन्ति। मनुष्यं सत्यात्, इति शेषः (परावतम्) दूरदेशम् (आ रोह) अधितिष्ठ (तमसः) अन्धकारमध्यात् (ज्योतिः) प्रकाशम् (एहि) आगच्छ (ते) तव (हस्तौ) (आ रभामहे) लभस्य रः। आलभामहे। गृह्णीमः ॥

इ॒हि॒ । मा । वि । दी॒ध्यः॒ । मा । अत्र॑ । ति॒ष्ठः॒ । परा॑क्-मनाः ॥९॥

भाषार्थ—(श्यामः) चलने वाला [प्राणवायु] (च च) और (शबलः) जाने वाला [अपान वायु] (त्वा) तुझको (मा) न [छोड़ें], (यौ) जो दोनों [प्राण और अपान] (यमस्य) नियन्ता मनुष्य के (प्रेषितौ) भेजे हुये, (पथिरक्षी) मार्गरक्षक (श्वानौ) दो कुत्तों [के समान हैं]। (अर्वाङ्) समीप (आ इहि) आ, (मा वि दीध्यः) विरुद्ध मत क्रीड़ा कर, (इह) यहां पर (पराङ्मनाः) उदास मन होकर (मा तिष्ठः) मत ठहर ।९।

भावार्थ—मन्त्र के प्रथम पाद में [छोड़ें] पद अध्याहार है । मनुष्य प्राण, और अपान द्वारा बल पराक्रम स्थिर रखकर कभी दीन न होवें । प्राण और अपान शरीर की इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे कुत्ते मार्ग में अपने स्वामी की ॥

यजुर्वेद ३४ । ५५ में वर्णन है—" तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ) वहां पर दो न सोने वाले और बैठक [शरीर] में बैठने वाले, चलने फिरने वाले [प्राण और अपान] जागते हैं" ॥

मैतं पन्थामनु॑ गा भी॒म ए॒ष येन॒ पूर्वं॒ नेयथ॒ तं ब्र॑वीमि । तम॑ ए॒तत् पु॑रुष॒ मा प्र प॑त्था भ॒यं प॒रस्ता॒दभ॑यं ते अ॒र्वाक् ॥ १० ॥ (१)

९—(श्यामः) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । श्यैङ् गतौ-मक् । गमनशीलः प्राणवायुः (च) (त्वा) (मा) निषेधे । त्यजतामिति शेषः (शबलः) शपेर्वश्च । उ० १ । १०५ । शव गतौ-कल, वस्य वः । गतिमान् । अपानवायुः (च) (प्रेषितौ) प्रेरितौ । नियोजितौ (यमस्य) नियामकमनुष्यस्य (यौ) प्राणापानौ (पथिरक्षी) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । पथिन्+रक्ष पालने—इन् । मार्गरक्षकौ (श्वानौ) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । कुक्कुरौ यथा (अर्वाङ्) अ० ३ । २ । ३ । अभिमुखः । समीपस्थः (एहि) आगच्छ (वि) विरुद्धम् (मा दीध्यः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—लेट्, अडागमः, परस्मैपदं छान्दसम् । देवनं क्रीडनं मा कार्षीः (अत्र) संसारे (मा तिष्ठः) गतिं निवृत्य मा वर्तस्व (पराङ्मनाः) उन्मनाः ॥

मा । एतम् । पन्थाम् । अनु । गाः । भीमः । एषः । येन । पूर्वम् । न । इयथ । तम् । ब्रवीमि ॥ तमः । एतत् । पुरुष । मा । प्र । पत्थाः । भयम् । परस्तात् । अभयम् । ते । अर्वाक् १०(१)

भाषार्थ—(एतम्) इस (पन्थाम्) पथ [अधर्मपथ] पर (मा अनु गाः) मत कभी चल, (एषः) यह (भीमः) भयानक है, (येन) जिस [मार्ग] से (पूर्वम्) पहिले (न इयथ) तू नहीं गया है, (तम्) उसी [मार्ग] को (ब्रवीमि) मैं कहता हूं। (पुरुष) हे पुरुष ! (एतत्) इस (तमः) अन्धकार में (प्र) आगे (मा पत्थाः) मत पद रख (परस्तात्) दूरस्थान [कुपथ] में (भयम्) भय है, (अर्वाक्) इस ओर [धर्मपथ में] (ते) तेरे लिये (अभयम्) अभय है ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वानों के निश्चय से मनुष्यों को अधर्म छोड़कर धर्म पर चलना आनन्द दायक है ॥ १० ॥

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते । वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥ ११ ॥

रक्षन्तु । त्वा । अग्नयः । ये । अप्-सु । अन्तः । रक्षतु । त्वा । मनुष्याः । यम् । इन्धते ॥ वैश्वानरः । रक्षतु । जात-वेदाः । दिव्यः । त्वा । मा । प्र । धाक् । वि-द्युता । सह ॥ ११ ॥

१०—(एतम्) प्रसिद्धम् (पन्थाम्) पन्थानम् । कुमार्गमित्यर्थः (अनु) निरन्तरम् (मा गाः) मा याहि (भीमः) भयानकः (एषः) कुमार्गः (येन) (पूर्वम्) अग्रे (न) निषेधे (इयथ) इण् गतौ-लिट्, छान्दसं रूपम् । इयेथ । गतवानसि (तम्) कुमार्गम् (ब्रवीमि) कथयामि (तमः) अन्धकारम् (एतत्) (पुरुष) (प्र) अग्रे (मा पत्थाः)-म० ४ । पदनं गमनं मा कार्षीः (भयम्) (परस्तात्) परस्मिन् दूरदेशे, कुमार्ग इत्यर्थः (अभयम्) कुशलम् (ते) तुभ्यम् (अर्वाक्) अभिमुखम् । समीपम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (ये) जो (अग्नयः) अग्नियां हैं, वे (त्वा) तेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें, (यम्) जिसको (मनुष्याः) मनुष्य [यज्ञ आदि में] (इन्धते) जलाते हैं, वह [अग्नि] (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। (वैश्वानरः) सब नरों में वर्तमान, (जातवेदाः) धन वा ज्ञान उत्पन्न करने वाला [जाठराग्नि तेरी] (रक्षतु) रक्षा करे, (दिव्यः) आकाश में रहने वाला [सूर्य] (विद्युता सह) बिजुली के साथ (त्वा) तुझ को (मा प्र धाक्) न जला डाले ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार के अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेकर शरीर रक्षा करें ॥ ११ ॥

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर। रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च। अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

मा। त्वा। क्रव्य-अत्। अभि। मंस्त। आरात्। सम्-कसुकात्। चर॥ रक्षतु। त्वा। द्यौः। रक्षतु। पृथिवी। सूर्यः। च। त्वा। रक्षताम्। चन्द्रमाः। च॥ अन्तरिक्षम्। रक्षतु। देव-हेत्याः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (क्रव्यात्) मांस भक्षक

११—(रक्षन्तु) (त्वा) (अग्नयः) (ये) (अप्सु) उदकेषु (अन्तः) मध्ये (रक्षतु) पालयतु (अन्ता रक्षतु) ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। पा० ६। ३ १११। इति दीर्घः (त्वा) (मनुष्याः) (यम्) अग्निम् (इन्धते) अन्तर्गत-ण्यर्थः। दीपयन्ति यज्ञादिषु (वैश्वानरः) सर्वनरेषु वर्तमानो जाठराग्निः (रक्षतु) (जातवेदाः) जातधनः। जातज्ञानः (दिव्यः) दिवि आकाशे भवः सूर्यः (त्वा) (प्र) प्रकर्षेण (मा धाक्) दह भस्मीकरणे-लुङ्। मन्त्रे घसह्वर०। पा० २। ४। ८०। च्लेर्लुक्। मा दहतु ॥

१२—(त्वा) त्वाम् (क्रव्यात्) अ० २। २५। ५। मांसभक्षकः पशुरोगादिः

[पशु, रोग, आदि] (मा अभि मंस्त) न किसी प्रकार मारे (संकसुकात्) नाश करने वाले [विघ्न] से (आरात्) दूर दूर (चर) चल। (द्यौः) प्रकाशमान ईश्वर (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे, (पृथिवी) पृथिवी (रक्षतु) रक्षा करे, (सूर्यः) सूर्य (च च) और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा दोनों (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक [तुझको] (देवहेत्याः) इन्द्रियों की चोट से (रक्षतु) बचावे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विघ्नों से बचकर सब पदार्थों का यथावत् उपयोग करते और इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे सुखी रहते हैं ॥ १२ ॥

बोधश्च॑ त्वा प्रतीबोधश्च॑ रक्षतामस्वप्नश्च॑ त्वानवद्रा॒णश्च॑ रक्षताम्। गो॒पा॒यंश्च॑ त्वा॒ जागृ॑विश्च॒ रक्षताम् ॥१३॥

बो॒धः। च॒। त्वा॒। प्र॒ति॒-बो॒धः। च॒। र॒क्ष॒ता॒म्। अ॒स्व॒प्नः। च॒। त्वा॒। अ॒न॒व॒-द्रा॒णः। च॒। र॒क्ष॒ता॒म् ॥ गो॒पा॒यन्। च॒। त्वा॒। जागृ॑विः। च॒। र॒क्ष॒ता॒म् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(बोधः) बोध [विवेक] (च) और (प्रतीबोधः) प्रतिबोध [चेतनता] (च) निश्चय करके (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें, (अस्वप्नः) न सोने वाले (च) और (अनवद्राणः) न भागने वाले [दोनों] (त्वा) तेरी (च) निश्चय करके (रक्षताम्) रक्षा करें। (गोपायन्) चौ-

---

(अभि) सर्वतः (मा मंस्त) मन ज्ञाने वधे च-लुङ्। मा वधीत्। मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १०। २६। (आरात्) दूरम् (संकसुकात्) अ० ५। ३१। ६! कस नाशने-ऊक, ह्रस्वः। नाशकात्। विघ्नात् (चर) गच्छ (द्यौः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (देवहेत्याः) ऊतियूतिजूति०। पा० ३। ३। ९७। हन गतौ वधे च-क्तिन्। इन्द्रियाणां हननात्। अन्यत् सुगमम् ॥

१३—(बोधः) विवेकः (च) समुच्चये (त्वा) त्वाम् (प्रतीबोधः) चेतना (च) निश्चयेन (रक्षताम्) पालयताम् (अस्वप्नः) अनिद्रः (च) (त्वा) (अनवद्राणः) द्रा स्वप्ने पलायने च—क्त। संयोगादेर्धातोर्यण्वतः।

कसी करने वाले (च) और (जागृविः) जागने वाले [दोनों] (च) अवश्य (त्वा) तुझको (रक्षताम्) बचावें ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विवेक और चेतना पूर्वक सावधान रहकर रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० ५ । ३० । १० ॥

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥१४

ते । त्वा । रक्षन्तु । ते । त्वा । गोपायन्तु । तेभ्यः । नमः । तेभ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ते) वे सब (त्वा) तेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें, (ते) वे सब (त्वा) तेरी (गोपायन्तु)चौकसी करें, (तेभ्यः) उनके लिये (नमः) नमस्कार है, (तेभ्यः) उनके लिये (स्वाहा) सुन्दरवाणी है ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा से अग्नि, पृथिवी, आदि पदार्थों से [मन्त्र ११,—१३] यथावत् उपकार लेकर रक्षा में प्रवृत्त रहें ॥१४॥

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः । मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि ।१५।

जीवेभ्यः । त्वा । सम्-उदे । वायुः । इन्द्रः । धाता । दधातु । सविता । त्रायमाणः ॥ मा । त्वा । प्राणः । बलम् । हासीत् । असुम् । ते । अनु । ह्वयामसि ॥ १५ ॥

पा० ८ । २ । ४३ । तस्य न । पलायमानः (गोपायन्) गोपायिता (जागृविः) अ० ५ । ३० । १० । जागरूकः । अन्यत्सुगमम् ॥

१४–(ते)–म० ११–१३ । अग्निपृथिव्यादिपदार्थाः (रक्षन्तु) पालयन्तु (त्वा) त्वाम् (गोपायन्तु) सर्वतो रक्षन्तु (नमः) सत्कारः (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । स्तुतिः । अन्यत्सुगमम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझको (जीवेभ्यः) जीवों के लिये (समुदे) पूरा उत्तमपन [करने] के लिये (वायुः) वायु, (इन्द्रः) मेघ और (धाता) पोषण करने वाला, (त्रायमाणः) पालन करने वाला (सविता) चलाने वाला सूर्य (दधातु) पुष्ट करे। (त्वा) तुझको (प्राणः) प्राण और (बलम्) बल (मा हासीत्) न छोड़े, (ते) तेरे लिये (असुम्) बुद्धि को (अनु) सदा (ह्वयामसि) हम बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि पदार्थों के यथावत् प्रयोगसे निरन्तर बुद्धि बढ़ावें ॥ १५ ॥

मा त्वा जुम्भः संहनुर्मा तमो विदुन्मा जिह्वा बुर्हिः प्रमयुः कृथा स्याः। उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तयें ॥ १६ ॥

मा। त्वा। जम्भः। सम्-हनुः। मा। तमः। विदत्। मा। जिह्वा। आ। बुर्हिः। प्र-मयुः। कथा। स्याः॥ उत्। त्वा। आदित्याः। वसवः। भरन्तु। उत्। इन्द्राग्नी इति। स्वस्तयें।१६।

भाषार्थ—(मा) न तो (जम्भः) नाश करने वाला (संहनुः) विघ्न, (मा) न (तमः) अन्धकार, (आ) और (मा) न (बर्हिः) सताने वाली (जिह्वा) जीभ (त्वा) तुझको (विदत्) पावे, (कथा) किस प्रकार से

१५—(जीवेभ्यः) जीवानां हिताय (त्वा) (समुदे) उङ् शब्दे-क्विप, तुक् च, पृषोदरादित्वाद् दत्वम्। सम्यगुत्कर्षाय (वायुः) (इन्द्रः) मेघः (धाता) पोषकः (दधातु) पोषयतु (त्वा) (प्राणः) आत्मबलम् (बलम्) शरीरबलम् (मा हासीत्) ओ हाक् त्यागे—लुङ्। मा त्याक्षीत् (असुम्) प्रज्ञाम् (ते) तुभ्यम् (अनु) निरन्तरम् (ह्वयामसि) आह्वयामः ॥

१६—(मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (जम्भः) जभि नाशने—अच्। नाशकः (संहनुः) शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनि०। उ० १। १०। हन हिंसागत्योः—उ। विघ्नः। मृत्युः (मा) (तमः) अन्धकारः (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ्। लभताम् (मा) (जिह्वा) रसना (आ) समुच्चये (बर्हिः) बृंहेर्नलोपश्च। उ० २। १०९।

(प्रमयुः) तू गिर जाने वाला (स्याः) होवे । (त्वा) तुझको (आदित्याः) प्रकाशमान विद्वान् लोग और (वसवः) श्रेष्ठ पदार्थ (उत्) ऊपर (भरन्तु) ले चलें और (इन्द्राग्नी) मेघ और अग्नि (स्वस्तये) सुन्दर सत्ता के लिये (उत्) ऊपर [ले चलें] ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब विघ्नों और अपवादों से बचकर विद्वानों और उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से उन्नति करते हैं, वे अपने जीवन में सुख भोगते हैं ॥ १६ ॥

उत् त्वा द्यौरुत् पृ॑थिव्युत् प्र॒जाप॑तिरग्रभीत् ।
उत् त्वा मृ॒त्योरोष॑धयः सोम॑राज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

उत् । त्वा । द्यौः । उत् । पृ॒थि॒वी । उत् । प्र॒जा-प॑तिः । अ॒ग्र॒भी॒त् ॥ उत् । त्वा । मृ॒त्योः । ओष॑धयः । सोम॑-राज्ञीः । अ॒पी॒प॒र॒न् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझको (द्यौः) सूर्य ने (उत्) ऊपर को, (पृथिवी) पृथिवी ने (उत्) ऊपर को और (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर ने (उत्) ऊपर को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है । (त्वा) तुझको (सोमराज्ञीः) सोम [अमृत वा चन्द्रमा] को राजा रखनेवाली (ओषधयः) ओषधियों ने (मृत्योः) मृत्यु से [अलग कर] (उत्) भली भांति (अपीपरन्) पाला है ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर, सूर्य और पृथिवी के नियमों को विचार कर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके प्रसन्न रहें ॥ १७ ॥

बर्ह हिंसायाम्—इसि । हिंसास्वभावा (प्रमयुः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । डुमिञ् प्रक्षेपणे—उ । प्रक्षिप्तः (कथा) केन प्रकारेण (स्याः) त्वं भवेः (उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (आदित्याः) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमाना विद्वांसः (वसवः) श्रेष्ठपदार्थाः (भरन्तु) धारयन्तु (उत्) (इन्द्राग्नी) मेघपावकौ (स्वस्तये) सुसत्तायै ॥

१७—(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) त्वाम् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (पृथिवी) (प्रजापतिः) प्रजापालको जगदीश्वरः (अग्रभीत्) गृहीतवान् (मृत्योः) मृत्युरूपदुःखात् (ओषधयः) अन्नादिपदार्थाः (सोमराज्ञीः) सोमोऽमृतं चन्द्रो वा राजा यासां ताः (अपीपरन्) पृ पालनपूरणयोः—लुङ् । अपालयन् ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

अयम् । देवाः । इह । एव । अस्तु । अयम् । मा । अमुत्र । गात् । इतः ॥ इमम् । सहस्र-वीर्येण । मृत्योः । उत् । पारयामसि ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजय चाहने वाले पुरुषो ! (अयम्) यह [शूर पुरुष] (इह) यहां [धर्म्मात्माओं में] (एव) ही (अस्तु) रहे, (अयम्) यह (अमुत्र) वहां [दुष्टों में] (इतः) यहां से [सत्समाज से] (मा गात्) न जावे । (इमम्) इस [पुरुष] को (सहस्रवीर्येण) सहस्रों प्रकार के सामर्थ्य के साथ (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले प्रकार (पारयामसि) हम पार लगाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य एक दूसरे को दुष्कर्मों से बचाकर धर्म में प्रवृत्त कर विज्ञान शिल्प आदि द्वारा अनेक प्रकार बल बढ़ाकर मृत्यु अर्थात् दरिद्रता आदि दुःखों से सुरक्षित रहें ॥ १८ ॥

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् । सम् । धमन्तु । वयः-धसः ॥ मा । त्वा । व्यस्त-केश्यः । मा । त्वा । अघ-रुदः । रुदन् ॥१९॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले

१८—(अयम्) शूरपुरुषः (देवाः) हे विजिगीषवः (इह) धर्मात्मसु (एव) निश्चयेन (अस्तु) भवतु (मा गात्) न गच्छेत् (अमुत्र) तत्र । दुष्टेषु (इतः) अमरलोकात् । सत्समाजात् (इमम्) सत्पुरुषम् (सहस्रवीर्येण) अपरिमितसामर्थ्येन (मृत्योः) दरिद्रतादिदुःखात् (उत्) उत्कर्षेण (पारयामसि) पार कर्मसमाप्तौ । यद्वा, पॄ पालनपूरणयोः । पारयामः । तारयामः । पालयामः ॥

१९—(उत्) उत्कर्षेण (त्वा) त्वाम् (मृत्योः) दरिद्रतादिक्लेशात् (अपी-

प्रकार (अपीपरम्) मैं ने बचाया है। (वयोधसः) जीवन धारण करने वाले पदार्थ (सम्) ठीक ठीक (धमन्तु) मिलें। (त्वा) तुझको (मा) न तौ (व्यस्तकेश्यः) प्रकाश गिरा देने वाली [विपत्तियां], और (मा) न (त्वा) तुझे (अघरुदः) पाप की पीड़ायें (रुदन्) रुलावें ॥ १९ ॥

भवार्थ—मनुष्य विद्वानों द्वारा अज्ञान से बचकर पुरुषार्थ करके विपत्तियों से छूट कर कभी दुःख न उठावें ॥ १९ ॥

आहा॑र्षम॒विदं॑ त्वा॒ पुन॒रागाः॒ पुन॑र्णवः ।
सर्वा॑ङ्ग॒ सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च तेऽविदम् ॥ २० ॥

आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । अ॒वि॒द॒म् । त्वा॒ । पुनः॑ । आ । अ॒गाः॒ । पुनः॑ऽनवः ॥ सर्व॑ऽअङ्ग । सर्व॑म् । ते॒ । चक्षुः॑ । सर्व॑म् । आयुः॑ । च॒ । ते॒ । अ॒वि॒द॒म् ॥ २० ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझको (आ अहार्षम्) मैंने ग्रहण किया है और (अविदम्) पाया है, तू (पुनर्णवः) नवीन होकर (पुनः) फिर (आ अगाः) आया है। (सर्वाङ्ग) हे सम्पूर्ण [विद्या के] अङ्ग वाले (ते) तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (चक्षुः) दर्शन सामर्थ्य (च) और (ते)

परम्) पॄ पालनपूरणयोः—लुङ्। रक्षितवानस्मि (सम्) सम्यक् (धमन्तु) गच्छन्तु—निघ० २। १४। प्राप्नुवन्तु (वयोधसः) जीवनधारकाः पदार्थाः (मा) निषेधे (त्वा) (व्यस्तकेश्यः) वि + असु क्षेपणे—क्त + काशृ दीप्तौ—घञ्। आकारस्य एकारः। स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्। पा० ४। १। ५४। इति ङीष्। केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२। २५। व्यस्तः केशः प्रकाशो याभिस्ताः। नाशितप्रकाशाः (त्वा) (अघरुदः) रुदेः क्विप्। अघस्य रुदः। पापपीडाः (मा रुदन्) रुदिर् अश्रुविमोचने—लुङ्। अन्तर्गतण्यर्थः। मा रूरुदन्। मा रोदयन्तु ॥

२०—(आ) समन्तात् (अहार्षम्) स्वीकृतवानस्मि (अविदम्) लब्धवानस्मि। (त्वा) ब्रह्मचारिणम् (पुनः) विद्याप्राप्त्यनन्तरम् (आ अगाः) आगतवानसि (पुनर्णवः) विद्यया नवीनजीवनः सन् (सर्वाङ्ग) प्राप्त—

तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (अविदम्) मैंने पायी है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिस पुरुष को आचार्य स्वीकार करके विद्यादान देकर द्विजन्मा बनाता है, वह सब प्रकार विद्या से प्रकाशित होकर उत्तम जीवनयुक्त होता है ॥ २० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १६१। ५॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।

अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥२१॥

वि। अवात्। ते। ज्योतिः। अभूत्। अप। त्वत्। तमः। अक्रमीत् ॥ अप। त्वत्। मृत्युम्। निःऽऋतिम्। अप। यक्ष्मम्। नि। दध्मसि ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (ज्योतिः) जोति (वि) विविध प्रकार (अवात्) आई है और (अभूत्) उपस्थित हुई है, (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार (अप अक्रमीत्) चलदिया है। (त्वत्) तुझसे (मृत्युम्) मृत्यु को और (निर्ऋतिम्) अलक्ष्मी को (अप) अलग और (यक्ष्मम्) राजरोग को (अप) अलग (नि दध्मसि) हम धरते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदद्वारा अज्ञान का नाश करके दुःखों और क्लेशों से छूट कर नीरोग होकर आनन्द भोगे ॥ २१ ॥

सूक्तम् २ ॥

१-२८ ॥ १-६, ११-१३, १५, १६, १९-२८ प्रजापतिः; ७ भवाशर्वौ ; ८, १० मृत्युः ; ९ विश्वे देवाः ; १४ द्यावापृथिव्यादयः ; १७ वशा ; १८ व्रीहियवौ देवते ॥

विद्यासम्पूर्णाङ्ग (सर्वम्) सम्पूर्णम् (ते) तुभ्यम् (चक्षुः) दर्शनसामर्थ्यम् (आयुः) जीवनम्। अन्यद् गतम् ॥

२१—(वि) विविधम् (अवात्) वा गतिगन्धनयोः—लङ्। अगच्छत् (ते) तुभ्यम् (ज्योतिः) प्रकाशः (अभूत्) उपस्थितमभूत् (त्वत्) त्वत्तः (तमः) अन्धकारः। अबोधः (अप अक्रमीत्) अपक्रान्तमभूत् (अप) पृथक्-करणे (त्वत्) (मृत्युम्) प्राणनाशकं दुःखम् (निर्ऋतिम्) कृच्छ्रापत्तिम् (अप) (यक्ष्मम्) राजरोगम् (नि दध्मसि) निदध्मः। नीचैः स्थापयामः ॥

१, २, ७ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ३, २६ आस्तारपङ्क्तिः ; ४ प्रस्तारपङ्क्तिः ; ५, १०, १६-१८, २०, २३-२५, २७ अनुष्टुप् ; ६, १५ पथ्या पङ्क्तिः ; ८, १३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ; ९ पञ्चपदा जगती ; ११ विष्टारपङ्क्तिः ; १२, २२, २८ पुरस्ताद् बृहती ; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; १९ उपरिष्टाद् बृहती ; २१ बृहती छन्दः ॥

कल्याणप्राप्त्युपदेशः—कल्याण की प्राप्ति का उपदेश ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते । असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥

आ । रभस्व । इमाम् । अमृतस्य । श्नुष्टिम् । अच्छिद्यमाना । जरत्-अष्टिः । अस्तु । ते ॥ असुम् । ते । आयुः । पुनः । आ । भरामि । रजः । तमः । मा । उप । गाः । मा । प्र । मेष्ठाः ॥१॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अमृतस्य) अमृत की (इमाम्) इस (श्नुष्टिम्) प्राप्ति को (आ) भलीभांति (रभस्व) ग्रहण कर, (अच्छिद्यमाना) बिना कटती हुई (जरदष्टिः) स्तुति की व्याप्ति [फैलाव] (ते) तेरे लिये (अस्तु) होवे । (ते) तेरे (असुम्) बुद्धि और (आयुः) जीवन को (पुनः) बार बार (आ) अच्छे प्रकार (भरामि) मैं पुष्ट करता हूं, (रजः) रजोगुण और (तमः) तमोगुण को (मा उप गाः) मत प्राप्त हो और (मा प्र मेष्ठाः) मत पीड़ित हो ॥ १ ॥

१—(आ) समन्तात् (रभस्व) उपक्रमस्व । गृहाण (इमाम्) वक्ष्यमाणाम् (अमृतस्य) अमरणस्य । पुरुषार्थस्य (श्नुष्टिम् (अ० ३ । १७ । २ । ष्णुसु आदाने—क्तिन्, छान्दसं रूपम् । प्राप्तिम् (अच्छिद्यमाना) अच्छेदनीया (जरदष्टिः) अ० २ । २८ । ५ । जॄ स्तुतौ—अतृन्+अशु व्याप्तौ—क्तिन् । स्तुतिव्याप्तिः (अस्तु) (ते) तुभ्यम् (असुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ९ (ते) तव (आयुः) जीवनम् (पुनः) वारं वारम् (आ) (भरामि) पोषयामि (रजः) सत्त्वगुणप्रतिबन्धकं रजोगुणम् (तमः) हिताहितविवेकबाधकं तमोगुणम् (मा उप गाः) इण् गतौ—लुङ् मा प्राप्नुहि (मा प्र मेष्ठाः) मीञ् हिंसायाम् लुङ् । हिंसां पीडां मा प्राप्नुहि ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक सत्त्वगुण के प्रतिबन्धक रजोगुण और हित अहित ज्ञान के बाधक तमोगुण को छोड़कर सात्त्विक होकर जीवन को सफल करें ॥ १ ॥

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय। अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥२

जीवताम्। ज्योतिः। अभि-एहि। अर्वाङ्। आ। त्वा। हरामि। शत-शारदाय॥ अव-मुञ्चन्। मृत्यु-पाशान्। अशस्तिम्। द्राघीयः। आयुः। प्र-तरम्। ते। दधामि॥ २॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (जीवताम्) जीते हुये मनुष्यों की (ज्योतिः) ज्योति (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (अभ्येहि) सब ओर से प्राप्त कर, (त्वा) तुझ को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (आ) सब प्रकार (हरामि) स्वीकार करता हूं। (मृत्युपाशान्) मृत्यु के फन्दों और (अशस्तिम्) अपकीर्त्ति को (अवमुञ्चन्) छोड़ता हुआ मैं (द्राघीयः) अधिक दीर्घ और (प्रतरम्) अधिक उत्तम (आयुः) जीवन को (ते) तेरे लिये (दधामि) पुष्ट करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य जीते हुये अर्थात् पुरुषार्थी जनों का अनुकरण करके मानसिक और शारीरिक रोगों और निन्दित कर्मों से अलग रहकर कीर्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव। यत् ते

२—(जीवताम्) जीव प्राणधारणे—शतृ। प्राणिनां पुरुषार्थिनाम् (ज्योतिः) अनुकरणरूपं प्रकाशम् (अभ्येहि) सर्वतः प्राप्नुहि (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (आ) समन्तात् (त्वा) त्वां पुरुषम् (हरामि) स्वीकरोमि (शतशारदाय) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्ताय जीवनाय (अवमुञ्चन्) उत्सृजन् (मृत्युपाशान्) दुःखबन्धान् (अशस्तिम्) अपकीर्तिम् (द्राघीयः) प्रियस्थिर०। पा० ६। ४। १५७। दीर्घ—ईयसुन्, द्राघादेशः। दीर्घतरम् (आयुः) जीवनम् (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (ते) तुभ्यम् (दधामि) पोषयामि ॥

मनस्त्वयि तद् धारयामि संवित्स्वाङ्गै वंद जिह्वयालंपन् ३

वातात् । ते । प्राणम् । अविदम् । सूर्यात् । चक्षुः । अहम् । तव ॥ यत् । ते । मनः । त्वयि । तत् । धारयामि । सम् । वित्स्व । अङ्गैः । वद । जिह्वया । अलंपन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (वातात्) वायु से (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को और (सूर्यात्) सूर्य से (तव) तेरी (चक्षुः) दृष्टि (अहम्) मैं ने (अविदम्) पाया है । (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) मन है, (तत्) उस को (त्वयि) तुझ में (धारयामि) स्थापित करता हूं, (अङ्गैः) [शास्त्र के] सब अङ्गों से (सम् वित्स्व) यथावत् जान, (जिह्वया) जीभ से (अलपन्) बकवाद न करता हुआ (वद) बोल ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे वायु से प्राण और सूर्य से दृष्टि स्थिर रहती है, वैसेही मनुष्य आत्मा में मन को निश्चल करके पदार्थों के तत्त्व को साक्षात् करके सारांश का उपदेश करे ॥ ३ ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि । नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ४

प्राणेन । त्वा । द्वि-पदाम् । चतुः-पदाम् । अग्निम्-इव । जातम् । अभि । सम् । धमामि ॥ नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः । प्राणाय । ते । अकरम् ॥ ४ ॥

३—(वातात्) वायुसकाशात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनम् (अविदम्) लब्धवानस्मि (सूर्यात्) आदित्यात् (चक्षुः) दृष्टिम् (अहम्) प्राणी (तव) (यत्) (ते) तव (मनः) अन्तः करणम् (त्वयि) तवात्मनि (तत्) मनः (धारयामि) स्थापयामि (सम् वित्स्व) समो गमृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः । पा० १ । ३ । २९ । सं पूर्वाद् विद ज्ञाने आत्मनेपदम् । सम्यग् ज्ञानं प्राप्नुहि (अङ्गैः) शास्त्राङ्गैः (वद) उदीरय (जिह्वया) रसनया (अलपन्) लपनं प्रलापमनर्थकथनमकुर्वन् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (द्विपदाम्) दो पायों और (चतुष्पदाम्) चौपायों के (प्राणेन) प्राण से (अभि) सब ओर से (सम् धमामि) मैं फूंकता हूं, (इव) जैसे (जातम्) उत्पन्न हुये (अग्निम्) अग्नि को। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरी (चक्षुषे) दृष्टि को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (प्राणाय) प्राण [प्रबलता] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं ने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु की दृष्टि और प्रबलता विचार कर दोपाये और चौपाये आदि प्राणियों से पुरुषार्थ सीखकर अपने पराक्रम से प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी होवें ॥ ४ ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥

अयम् । जीवतु । मा । मृत । इमम् । सम् । ईरयामसि ॥
कृणोमि । अस्मै । भेषजम् । मृत्यो इति । मा । पुरुषम् । वधीः ॥५

भाषार्थ—(अयम्) यह [जीव] (जीवतु) जीता रहे (मा मृत) न मरे, (इमम्) इस [जीव] को (सम् ईरयामसि) हम वायु समान [शीघ्र] चलाते हैं। (अस्मै) इस के लिये मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं (मृत्यो) हे मृत्यु ! (पुरुषम्) [इस] पुरुष को (मा वधीः) मत मार ॥ ५ ॥

४—(प्राणेन) जीवनेन (त्वा) (द्विपदाम्) मनुष्यादीनाम् (चतुष्पदाम्) गवाश्वादीनाम् (अग्निम्) भौतिकपावकम् (इव) यथा (जातम्) नवोत्पन्नम् (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् (धमामि) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः। दीर्घश्वासेन संयोजयामि (नमः) नमस्कारः (ते) तव (मृत्यो) (चक्षुषे) दृष्टये (नमः) प्राणाय) प्रकृष्टाय बलाय (ते) तव (अकरम्) कृतवानस्मि ॥

५—(अयम्) जीवः (जीवतु) प्राणान् धरतु (मा मृत) मृङ् प्राणत्यागे—लुङ्। प्राणान् मा त्यजतु (इमम्) आत्मानम् (समीरयामसि) वायुवच्छीघ्रं प्रेरयामः (कृणोमि) करोमि (अस्मै) जीवाय (भेषजम्) औषधम् (मृत्यो) (पुरुषम्) जीवम् (मा वधीः) मा जहि ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी निरालसी होकर धर्म में वायु समान शीघ्र चलते हैं, वे अमर मनुष्य दुःख में नहीं फंसते ॥ ५ ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् । त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवे ऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघ-रिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ॥ त्रायमाणाम् । सहमानाम् । सहस्वतीम् । इह । हुवे । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जीवलाम्) जीवन देनेवाली, (नघरिषाम्) न कभी हानि करनेवाली, (जीवन्तीम्) जीव रखनेवाली, (त्रायमाणाम्) रक्षा करनेवाली, (सहमानाम्) [रोग] दबा लेनेवाली, (सहस्वतीम्) बल वाली (ओषधीम्) ओषधि [समान वेद विद्या] को (इह) यहां [आत्मा में] (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) शुभ करने के लिये (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ओषधि समान वेद विद्या का सेवन करते हैं; वे शुभ भोगते हैं ॥ ६ ॥

(जीवला, जीवन्ती, और त्रायमाणा) ओषधि विशेष भी हैं ॥

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु । भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥

६—(जीवलाम्) जीव+ला दाने—क, टाप् । जीवप्रदाम् (नघरिषाम्) स घा वीरो न रिष्यति-ऋक्० १ । १८ । ४ । एवमत्र (न) निषेधे (घ) अवधारणे, सांहितिको दीर्घः, रिष हिंसायाम्—क, टाप् । नैव हिंसाशीलाम् (जीवन्तीम्) रुहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि । उ० ३ । १२७ । जीव प्राणधारणे—झच्, षित्वात् ङीष् । प्राणधारिकाम् । अशुष्काम् (ओषधीम्) भेषजम् (त्रायमाणाम्) रक्षन्तीम् (सहमानाम्) रोगस्याभिभवित्रीम् (सहस्वतीम्) बलवतीम् (इह) आत्मनि (हुवे) आह्वयामि (अस्मै) जीवहिताय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । शुभकरणाय ॥

अधि । ब्रूहि । मा । आ । रभथाः । सृज । इमम् । तवं । एव । सन् । सर्व-हायाः । इह । अस्तु ॥ भवाशर्वौ । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अप-सिध्यं । दुः-इतम् । धत्तम् । आयुः ॥७॥

भाषार्थ—[हे मृत्यु-म० ४] (अधि ब्रूहि) ढाढ़स दे, (मा आ रभथाः) मत पकड़, (इमम्) इस [पुरुष] को (सृज) छोड़, यह (तव एव सन्) तेरा ही होकर (सर्वहायाः) सब गति वाला (इह) यहां (अस्तु) रहे। (भवाशर्वौ) भव, [सुख देने वाले प्राण] और शर्व [क्लेश वा मल नाश करने वाले अपान वायु] तुम दोनों (मृडतम्) प्रसन्न हो, (शर्म) सुख (यच्छतम्) दान करो और (दुरितम्) दुर्गति (अपसिध्य) हटा कर (आयुः) जीवन (धत्तम्) पुष्ट करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु अर्थात् विपत्ति को सम्पत्ति का कारण समझकर पूर्ण साहसी होकर आत्मिक और शारीरिक बल से विघ्न हटाकर कीर्तिमान् होवें ॥ ७ ॥

अस्मै मृ॑त्यो॒ अधि॑ ब्रूही॒मं द॑यस्वो॒दि॒तो॒३॑ऽयमे॑तु । अरि॑ष्टः सर्वा॑ङ्गः सु॒श्रुज्ज॒रसा॑ श॒तहा॑यन आ॒त्मना॒ भुज॑मश्नुताम् ॥८॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः । अयम् । एतु ॥ अरिष्टः । सर्व-अङ्गः । सु-श्रुत् । जरसा । शत-हायनः । आत्मना । भुजम् । अश्नुताम् ॥ ८ ॥

७—(अधि ब्रूहि) अनुग्रहेण वद (मा आ रभथाः) मा गृहाण (सृज) त्यज (इमम्) जीवम् (तव) (एव) (सन्) (सर्वहायाः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। ओ हाङ् गतौ-असुन्, युगागमः। सर्वगतिः (इह) अस्मिन् संसारे (अस्तु) (भवाशर्वौ) अ० ४। २८। १। सुखस्य भावयिता कर्ता भवः प्राणः, दुःखस्य शरिता नाशकः शर्वोऽपानवायुश्च तौ (मृडतम्) सुखितौ भवतम् (शर्म) सुखम् (यच्छतम्) दत्तम् (अपसिध्य) निराकृत्य (दुरितम्) दुर्गतिम् (धत्तम्) पोषयतम् (आयुः) जीवनम् ॥

भाषार्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु (अस्मै) इस [मनुष्य] को (अधि ब्रूहि) ढाढ़स दे, (इमम्) इस पर (दयस्व) दया कर, (अयम्) यह [मनुष्य] (उत् इतः=उदितः) उदय होता हुआ (एतु) चले। (अरिष्टः) निर्हानि, (सर्वाङ्गः) पूरे अङ्गों वाला, (सुश्रुत्) भली भांति सुनने वाला, (जरसा) स्तुति के साथ (शतहायनः) सौ वर्षों वाला होकर (आत्मना) आत्मबल से (भुजम्) पालन सामर्थ्य (अश्नुताम्) प्राप्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विपत्तियों में ढाढ़स बांधकर आगे बढ़ते जाते हैं वे आत्मावलम्बी [सूर्य के समान अन्धकार से] उदय होकर पूरा सुख भोगते हैं ॥ ८ ॥

दे॒वानां॑ हे॒तिः परि॑ त्वा वृणक्तु पा॒रया॑मि त्वा॒ रज॑स॒ उत् त्वा॑ मृ॒त्योर॑पीपरम् । आ॒राद॒ग्निं क्र॒व्यादं॑ नि॒रूहं॑ जी॒वात॑वे ते परि॒धिं द॑धामि ॥ ९ ॥

दे॒वाना॑म् । हे॒तिः । परि॑ । त्वा॒ । वृ॒णक्तु॒ । पा॒रया॑मि । त्वा॒ । रज॑सः । उत् । त्वा॒ । मृ॒त्योः । अ॒पी॒प॒र॒म् ॥ आ॒रात् । अ॒ग्निम् । क्र॒व्य-अद॑म् । निः-ऊह॑न् । जी॒वात॑वे । ते॒ । प॒रि-धिम् । द॒धा॒मि॒ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) इन्द्रियों की (हेतिः) चोट (त्वा) तुझे (परि) सर्वथा (वृणक्तु) त्यागे, मैं (त्वा) तुझे (रजसः) राग से (पारयामि) पार करता हूं, (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले प्रकार

८—(अस्मै) मनुष्याय (मृत्यो) (अधि) अनुग्रहेण (ब्रूहि) वद (इमम्) मनुष्यम् (दयस्व) दय पालने । दयां कुरु (उदितः) उद्गतः । उन्नतः (अयम्) मनुष्यः (एतु) गच्छतु (अरिष्टः) निर्हानिः (सर्वाङ्गः) पूर्णशरीरावयवः (सुश्रुत्) सुष्ठु श्रोता (जरसा) अ० १ । ३० । २ । स्तुत्या (शतहायनः) शतसंवत्सरायुर्युक्तः (आत्मनः) स्वावलम्बनेन (भुजम्) भुज पालने-क । पालनसामर्थ्यम् (अश्नुताम्) प्राप्नोतु ॥

९—(देवानाम्) इन्द्रियाणाम् (हेतिः) हननम् (परि) सर्वतः (त्वा) (वृणक्तु) वर्जयतु (पारयामि) तारयामि (त्वा) (रजसः) रागात् (उत्)

(अपीपरम्) मैं ने बचाया है। (क्रव्यादम्) मांसभक्षक [रोगोत्पादक] (अग्निम्) अग्नि को (आरात्) दूर (निरूहन्) हटाता हुआ मैं (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) परिकोटा (दधामि) स्थापित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के विकार और विघ्नों को हटा कर अपना जीवन स्थिर करें ॥ ९ ॥

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्। पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥ (३)

यत्। ते। नि-यानम्। रजसम्। मृत्यो इति। अनव-धर्ष्यम्। पथः। इमम्। तस्मात्। रक्षन्तः। ब्रह्म। अस्मै। वर्म। कृण्मसि॥१०(३)

भाषार्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु ! (यत्) जो (ते) तेरा (रजसम्) संसार सम्बन्धी (नियानम्) मार्ग (अनवधर्ष्यम्) अजेय है। (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (इमम्) इस [पुरुष] को (रक्षन्तः) बचाते हुये हम (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (ब्रह्म) ब्रह्म [वेद विद्या वा परमेश्वर] को (वर्म) कवच (कृण्मसि) बनाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस कठिनाई को सामान्य पुरुष नहीं रोक सकते, उसको ब्रह्मवादी जन पार करके मोक्ष सुख पाते हैं ॥ १० ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।

उत्कर्षेण (मृत्योः) मरणात् (अपीपरम्) अ० ८ । १ । १७ । अपालयम् (आरात्) दूरे (अग्निम्) (क्रव्यादम्) मांसभक्षकम्। रोगोत्पादकम् (निरूहन्) निर+वह प्रापणे शतृ, वस्य ऊकारश्छान्दसः। निर्गमयन् (जीवातवे) अ० ६। ५। २। जीवनाय (ते) तव (परिधिम्) प्राकारम् (दधामि) स्थापयामि ॥

१०—(यत्) (ते) तव (नियानम्) निरन्तरगमनम्। मार्गः (रजसम्) अर्श आद्यच्। लोकसंबद्धम् (मृत्यो) (अनवधर्ष्यम्) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। ञिधृषा प्रागल्भ्ये—ण्यत्। धर्षितुं जेतुमशक्यम्। अजेयम् (पथः) मार्गात् (इमम्) पुरुषम् (तस्मात्) प्रसिद्धात् (रक्षन्तः) पालयन्तः (ब्रह्म) परिवृढं वेदं परमेश्वरं वा (अस्मै) पुरुषाय (वर्म) कवचम् (कृण्मसि) कृण्मः। कुर्मः ॥

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान् ११

कृणोमि । ते । प्राणापानौ । जराम् । मृत्युम् । दीर्घम् । आयुः । स्वस्ति ॥ वैवस्वतेन । प्र-हितान् । यम-दूतान् । चरतः । अप । सेधामि । सर्वान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (प्राणापानौ) प्राण और अपान, (जराम्=जरया) स्तुति के साथ (मृत्युम्) मृत्यु [प्राणत्याग], (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन और (स्वस्ति) कल्याण [अच्छी सत्ता] को (कृणोमि) मैं करता हूं। (वैवस्वतेन) मनुष्य सम्बन्धी [कर्म] द्वारा (प्रहितान्) भेजे हुये, (चरतः) घूमते हुये (सर्वान्) सब (यमदूतान्) मृत्यु के दूतों को (अप सेधामि) मैं हटाता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग अपनी शारीरिक और आत्मिक दशा सुधार कर सब दरिद्रता, रोग आदि दुःखों को हटाते हैं ॥ ११ ॥

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥

आरात् । अरातिम् । निः-ऋतिम् । परः । ग्राहिम् । क्रव्य-अदः । पिशाचान् ॥ रक्षः । यत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । तत् । तमः-इव । अप । हन्मसि ॥ १२ ॥

११—(कृणोमि) करोमि (ते) तव (प्राणापानौ) शरीरे ऊर्ध्वाधः संचारिणौ वायू (जराम्) अ० २ । ११ । ७ । तृतीयार्थे द्वितीया । जरया स्तुत्या (मृत्युम्) मरणम् (दीर्घम्) लम्बमानम् (आयुः) जीवनम् (स्वस्ति) सुसत्ताम् । क्षेमम् (वैवस्वतेन) अ० ६ । ११६ । १ । विवस्वत्—अण् । विवस्वन्तो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । मनुष्य सम्बन्धिना कर्मणा (प्रहितान्) प्रेरितान् (यमदूतान्) मृत्युसंदेशहरान् । निर्धनत्वरोगादीन् (चरतः) परिभ्रमतः (अप सेधामि) दूरं गमयामि (सर्वान्) निःशेषान् ॥

भाषार्थ—(अरातिम्) निर्दानता, (निर्ऋतिम्) महामारी [दरिद्रता आदि महाविपत्ति] को (आरात्) दूर, (ग्राहिम्) जकड़ने वाली पीड़ा, (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] और (पिशाचान्) मांस भखने वाले [जीवों] को (परः) परे । और (यत्) जो कुछ (दुर्भूतम्) कुशील (रक्षः) राक्षस [दुष्ट प्राणी है], (तत्) उस (सर्वम्) सब को (तमःइव) अन्धकार के समान (अप हन्मसि) हम मार हटाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य हिंसक रोगों, जीवों और दोषों से चौकस रह कर सुखी रहें ॥ १२ ॥

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः । यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्

अग्नेः । ते । प्राणम् । अमृतात् । आयुष्मतः । वन्वे । जातवेदसः ॥ यथा । न । रिष्याः । अमृतः । स-जूः । असः । तत् । ते । कृणोमि । तत् । ऊं इति । ते । सम् । ऋध्यताम् ॥१३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अमृतात्) अमर, (आयुष्मतः) बड़ी आयु वाले, (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले (अग्नेः) अग्नि [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (वन्वे) मैं मांगता हूं । (यथा) जिससे (न रिष्याः) तू न मरे, (सजूः) [उसके साथ] प्रीति वाला

१२—(आरात्) दूरम् (अरातिम्) रा दाने-क्तिन् । निर्दानताम् (निर्ऋतिम्) अ० २ । ११ । २ । कृच्छ्रापत्तिम् (परः) परस्तात् । दूरे (ग्राहिम्) अ० २ । ६ । १ । ग्रहणशीलां पीडाम् (क्रव्यादः) मांसभक्षकान् रोगान् (पिशाचान्) अ० १ । १६ । ३ । मांसाशनान् जीवान् (रक्षः) राक्षसः । दुष्टस्वभावः (यत्) (सर्वम्) (दुर्भूतम्) अनुचितम् (तत्) (तमः) अन्धकारम् (इव) यथा (अप हन्मसि) विनाशयामः ॥

१३—(अग्नेः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनम्) (अमृतात्) अमरात् (आयुष्मतः) दीर्घायुष्कात् (वन्वे) अहं याचे (जातवेदसः) उत्पन्नपदार्थज्ञात् (यथा) येन प्रकारेण (न रिष्याः) मा मृथाः (अमृतः) अमरः (सजूः) परमेश्वरेण सप्रीतिः (तत्) कर्म (ते) तुभ्यम्

तू (अमृतः) अमर (असः) रहे, मैं (तत्) वह [कर्म] (ते) तेरे लिये (कृणोमि) करता हूं, (तत् उ) वही (ते) तेरे लिये (सम्) यथावत् (ऋध्यताम्) सिद्ध होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा और गुरु जनों की शिक्षा में चलते हैं, वे बलवान् होकर सुख भोगते हैं ॥ १३ ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

शिवे इति । ते । स्ताम् । द्यावापृथिवी इति । असंतापे इत्यसम्-तापे । अभि-श्रियौ ॥ शम् । ते । सूर्यः । आ । तपतु । शम् । वातः । वातु । ते । हृदे ॥ शिवाः । अभि । क्षरन्तु । त्वा । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी, (असन्तापे) सन्ताप रहित और (अभिश्रियौ) सब ओर से ऐश्वर्यप्रद (स्ताम्) होवें । (सूर्यः) सूर्य (ते) तेरे लिये (शम्) शान्ति से (आ तपतु) तपता रहे, और (वातः) पवन (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति से (वातु) चले । (शिवाः) मङ्गलकारी, (दिव्याः) दिव्य गुणवाले, (पयस्वतीः) दूध [उत्तम रस] वाले (आपः) जल (त्वा अभि) तेरे लिये (क्षरन्तु) बहें ॥ १४ ॥

(कृणोमि) करोमि (तत्) (उ) अवधारणे (ते) तुभ्यम् (सम्) सम्यक् (ऋध्यताम्) सिध्यतु ॥

१४—(शिवे) कल्याणकारिण्यौ (ते) तुभ्यम् (स्ताम्) भवताम् (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी (असन्तापे) सन्तापरहिते (अभिश्रियौ) अभितः सर्वतः श्रीर्लक्ष्मीर्याभ्यां ते । अभिश्रीप्रदे (शम्) यथा तथा सुखम् (ते) त्वदर्थम् (सूर्यः) आदित्यः (आ तपतु) प्रकाशयतु (शम्) सुखम् (वातः) वायुः (वातु) वहतु (ते) तव (हृदे) हृदयाय (शिवाः) मङ्गलकारिण्यः (अभि)

भावार्थ—मनुष्य आकाश पृथिवी आदि पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १४ ॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि । तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥१५

शिवाः । ते । सन्तु । ओषधयः । उत् । त्वा । अहार्षम् । अधरस्याः । उत्तराम् । पृथिवीम् । अभि ॥ तत्र । त्वा । आदित्यौ । रक्षताम् । सूर्याचन्द्रमसौ । उभा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधें [अन्न आदि] (शिवाः) मङ्गलकारी (सन्तु) होवें, मैंने (त्वा) तुझको (अधरस्याः) नीची [पृथिवी] से (उत्तराम्) ऊंची (पृथिवीम् अभि) पृथिवी पर (उत् अहार्षम्) उठाया है । (तत्र) वहां [ऊंचे स्थान पर] (त्वा) तुझको (उभा) दोनों (आदित्यौ) प्रकाशमान (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा [के समान नियम] (रक्षताम्) बचावें ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि पदार्थों के सुन्दर उपयोग से दिन दिन अधिक उन्नति करके प्रत्यक्ष सूर्य चन्द्रमा के समान परस्पर पालन करें ॥ १५ ॥

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

यत् । ते । वासः । परि-धानम् । याम् । नीविम् । कृणुषे ।

प्रति (क्षरन्तु) स्रवन्तु (त्वा) त्वाम् (आपः) जलानि (दिव्याः) उत्तमगुणाः (पयस्वतीः) पयसा दुग्धेन श्रेष्ठरसेन युक्ताः ॥

१५—(शिवाः) सुखकराः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (ओषधयः) व्रीह्यादयः (उत् अहार्षम्) उद्धृतवानस्मि (त्वा) त्वाम् (अधरस्याः) नीचायाः पृथिव्याः (उत्तराम्) उत्कृष्टाम् (पृथिवीम्) भूमिम् (अभि) प्रति (तत्र) उत्तरस्यां पृथिव्याम् (आदित्यौ) अ० १ । ९ । १ । आदीप्यमानौ (रक्षताम्) पालयताम् (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्यचन्द्रौ यथा (उभा) उभौ ॥

त्वम् ॥ शिवम् । ते । तन्वे । तत् । कृण्मः । सम्-स्पर्शे । अद्रूक्ष्णम् । अस्तु । ते ॥ १६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जिस (वासः) वस्त्र को (परिधानम्) ओढ़ना और (याम्) जिस (नीविम्) पेटी [फेंटा] को (ते) अपने लिये (त्वम्) तू (कृणुषे) बनाता है। (तत्) उसे (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शिवम्) सुख देने वाला (कृण्मः) हम बनाते हैं, वह (ते) तेरे लिये (संस्पर्शे) छूने में (अद्रूक्ष्णम्) अनखुरखुरा (अस्तु) होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य कवच, अङ्गरक्षा आदि वस्त्र शरीर के लिये, सुखदायक बनावें ॥ १६ ॥

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

यत् । क्षुरेण । मर्चयता । सु-तेजसा । वप्ता । वपसि । केश-श्मश्रु ॥ शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोषीः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(वप्ता) नापित तू (मर्चयता) [केशों का] पकड़ने वाले (सुतेजसा) बड़े तेज (यत्) जिस (क्षुरेण) छुरा से (केशश्मश्रु) केश और और डाढ़ी मूंछ को (वपसि) बनाता है। [उससे] (नः) हमारे (शुभम्) सुन्दर (मुखम्) मुख और (आयुः) जीवन को (मा प्र मोषीः) मत घटा ॥ १७ ॥

१६—(यत्) (ते) त्वदर्थम्। स्वस्मै (वासः) वस्त्रम् (परिधानम्) उपर्य्याच्छादनम् (याम्) (नीविम्) नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः। उ० ४। १३६। नि+व्येञ् संवरणे-इण, स च डित्, यलोपश्च। कटिबन्धनम् (कृणुषे) करोषि (त्वम्) (शिवम्) सुखकरम् (ते) तव (तन्वे) शरीराय (तत्) वस्त्रम् (कृण्मः) कुर्मः (संस्पर्शे) स्पर्शकरणे (अद्रूक्ष्णम्) क्ष्ण सिञ्जि० । उ० ३। २। रूक्ष पारुष्ये—नक्, दकारश्छान्दसः। अरूक्षम्। अकोठरम् (अस्तु) (ते) तुभ्यम् ॥

१७—(यत्), येन (क्षुरेण) क्षौरास्त्रेण (मर्चयता) मर्च शब्दे ग्रहणे च—शतृ। केशानां ग्रहीत्रा (सुतेजसा) सुतीक्ष्णेन (वप्ता) डु वप बीजसन्ताने मुण्डने च—तृन्। केशच्छेत्ता । नापितः (वपसि) मुण्डयसि। छिन्नांत्स

भावार्थ—मनुष्य केश छेदन करा के मुख और जीवन की शोभा बढ़ावें ॥ १७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि चूड़ाकर्म प्रकरण में आया है ॥

शि॒वौ ते॑ स्तां व्रीहिय॒वाव॑बला॒साव॑दोम॒धौ ।
ए॒तौ यक्ष्मं॒ वि बा॑धेते ए॒तौ मु॑ञ्चतो॒ अंह॑सः ॥ १८ ॥

शि॒वौ । ते॒ । स्ता॒म् । व्री॒हि॒-य॒वौ । अ॒ब॒ला॒सौ । अ॒दो॒म॒धौ ॥
ए॒तौ । यक्ष्म॑म् । वि । बा॒धे॒ते॒ इति॑ । ए॒तौ । मु॒ञ्च॒तः॒ । अंह॑सः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (व्रीहियवौ) चावल और जौ (शिवौ) मङ्गल करनेवाले, (अबलासौ) बल के न गिराने वाले और (अदोमधौ) भोजन में हर्ष करनेवाले (स्ताम्) हों। (एतौ) यह दोनों (यक्ष्मम्) राज रोग को (वि) विशेष करके (बाधेते) हटाते हैं, (एतौ) यह दोनों (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चावल और जौ आदि सात्त्विक अन्न का भोजन प्रसन्न होकर करना चाहिये, जिससे वह पुष्टिकारक हो ॥ १८ ॥

यद॒श्नासि॒ यत् पिब॑सि धा॒न्यं॑ कृ॒ष्याः पयः॑ ।
यदा॒द्यं॑१॒ यद॑ना॒द्यं सर्वं॑ ते॒ अन्न॑मवि॒षं कृ॑णोमि ॥ १९ ॥

(केशश्मश्रु) क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । क्लिश उपतापे, क्लिशू विबाधने-अन्, लस्य लोपः । इति केशः कचः । श्मश्रु यथा-अ० ५, १६ । २ । शिरोरोमाणि मुखरोमाणि च (शुभम्) शोभनम् (मुखम्) (नः) अस्माकम् (आयुः) जीवनम् (मा प्र मोषीः) मा प्रहिंसीः ॥

१८—(शिवौ) सुखकरौ (ते) तुभ्यम् (स्ताम्) (व्रीहियवौ) अन्नविशेषौ (अबलासौ) अ० ६ । ६३ । १ । अ+बल+असु क्षेपणे-क्विप् । शरीरबलस्य अक्षेप्तारौ (अदोमधौ) अद भक्षणे-असुन्+मद हर्षे-अच्, दस्य धः । भोजने हर्षकरौ (एतौ) व्रीहियवौ (यक्ष्मम्) राजरोगम् (वि) विशेषेण (बाधेते) अपनयतः (एतौ) (मुञ्चतः) मोचयतः (अंहसः) कष्टात् ॥

यत् । अ॒श्नासि॑ । यत् । पिब॑सि । धा॒न्य॑म् । कृ॒ष्याः । पयः॑ ॥
यत् । आ॒द्य॑म् । यत् । अ॒ना॒द्यम् । सर्व॑म् । ते॒ । अन्न॑म् ।
अ॒वि॒षम् । कृ॒णो॒मि॒ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो तू (कृष्याः) खेती का [उपजा] (धान्यम्) धान्य (अश्नासि) खाता है, और (यत्) जो तू (पयः) दूध वा जल (पिबसि) पीता है। (यत्) चाहे (आद्यम्) पुराना [धरा हुआ], (यत्) चाहे (अनाद्यम्) नवीन [पुराने से भिन्न] हो, (सर्वम्) वह सब (अन्नम्) अन्न (ते) तेरे लिये (अविषम्) निर्विष (कृणोमि) करता हूं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य खान पान विचार पूर्वक करते हैं, वे नीरोग रहते हैं ॥ १९ ॥

सायणाचार्य ने अर्थ किया है—(आद्यम्) खाने योग्य, सुख से भक्षणीय और (अनाद्यम्) न खाने योग्य, कठिन वा अत्यन्त कटु तिक्त द्रव्य ॥

अह्ने॑ च त्वा॒ रात्र॑ये चो॒भाभ्यां॒ परि॑ दद्मसि ।
अ॒राये॑भ्यो जिघ॒त्सुभ्य॑ इ॒मं मे॒ परि॑ रक्षत ॥ २० ॥ (४)

अह्ने॑ । च॒ । त्वा॒ । रात्र॑ये । च॒ । उ॒भाभ्या॑म् । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ॥
अ॒राये॑भ्यः । जि॒घ॒त्सु॒-भ्यः॑ । इ॒मम् । मे॒ । परि॑ । र॒क्ष॒त॒ ॥ २० ॥ (४)

भाषार्थ—(त्वा) तुझे (उभाभ्याम्) दोनों (अह्ने) दिन (च च)

१९—(यत्) यत्किञ्चित् (अश्नासि) खादसि (यत्) (पिबसि) (धान्यम्) अन्नम् (कृष्याः) कृषिकर्मणः प्राप्तम् (पयः) दुग्धं जलं वा (यत्) यदि वा (आद्यम्) दिगादिभ्यो यत् । पा० ४ । ३ । ५४ । आदि-यत् । आदौ भवम् । प्रथमम् । पुराणम् । यद्वा अद भक्षणे-ण्यत् । अदनीयम् । सुखेन भक्षणीयम्-यथा सायणः (यत्) अनाद्यम्-आद्येन प्रथमेन भिन्नम् । नवीनम् । यद्वा अदनानर्हं कठिनद्रव्यम्, अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम्-इति सायणः (सर्वम्) (ते) तुभ्यम् (अन्नम्) जीवनसाधनं भक्षणीयं वा द्रव्यम् (अविषम्) निर्विषम् । नीरोगम् (कृणोमि) करोमि ॥

२०—(अह्ने) दिनाय । प्रकाशकालाय (त्वा) त्वाम् (रात्रये) अन्धकार-

और (रात्र्यै) रात्रि को (परि दद्मसि) हम सौंपते हैं। (अरायेभ्यः) निर्दानी और (जिघत्सुभ्यः) खाना चाहने वाले लोगों से (इमम्) इस [पुरुष] को (मे) मेरे लिये (परि) सब प्रकार (रक्षत) तुम बचाओ ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाश अन्धकार और समय कुसमय का विचार करके शत्रुओं से परस्पर रक्षा करें ॥ २० ॥

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

शतम् । ते । अयुतम् । हायनान् । द्वे इति । युगे इति । त्रीणि । चत्वारि । कृण्मः ॥ इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (शतम्) सौ और (अयुतम्) दश सहस्र (हायनान्) वर्षों को [क्रम से] (द्वे युगे) दो युग, (त्रीणि) तीन [युग] और (चत्वारि) चार [युग] (कृण्मः) हम करते हैं। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वे देवाः) सब दिव्य पदार्थ [सूर्य, पृथिवी आदि] (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) अनुकूल रहें ॥ २१ ॥

कालाय (च च) समुच्चये (उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (परि दद्मसि) समर्पयामः (अरायेभ्यः) रा दाने—घञ् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । अदातृभ्यः (जिघत्सुभ्यः) अद भक्षणे—सन्—उप्रत्ययः । लुङ्सनोर्घस्लृ । पा० २ । ४ । ३७ । अदेर्घस्लादेशे । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इट्प्रतिषेधः । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति तत्वम् । भक्षणेच्छुकेभ्यः पुरुषेभ्यः (इमम्) पुरुषम् (मे) मह्यम् (परि) सर्वतः (रक्षत) पालयत ॥

२१—(शतम्) कलिसन्धेः शतदैववर्षाणि (ते) तुभ्यम् (अयुतम्) कलियुगस्य दशसहस्रदैववर्षाणि (हायनान्) अ० ३ । १० । ६ । संवत्सरान् (द्वे युगे) द्विगुणितं शतंचायुतंच द्वापरस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि (त्रीणि) त्रिगुणितं शतं चायुतं च त्रेतायुगस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि (चत्वारि) चतु-

भावार्थ—परमेश्वर ने यह सृष्टि और काल चक्र मनुष्य के उपकार के लिये बनाये हैं। विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की अपार महिमा में अपना पराक्रम बढ़ाकर नये नये आविष्कार करके अमर नाम करते हैं ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० १। ३५। ४ ॥

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सृष्टि का समय क्रम कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग और वर्षों का अर्थ दैववर्ष जान पड़ता है, सो इस प्रकार है ॥

सन्धिकाल	युगकाल
१००×१=१००	१०,०००×१=१०,०००
१००×२=२००	१०,०००×२=२०,०००
१००×३=३००	१०,०००×३=३०,०००
१००×४=४००	१०,०००×४=४०,०००
योगसन्धि १,००० वर्ष	योगयुग १,००,०००

योगसन्धि और युग १,०१,०००

गुणितं शतं चायुतं च कृतयुगस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि (क्रमः) क्रमः। अन्यद् यथा-अ० १। ३५। ४ (इन्द्राग्नी) वाय्वग्नी (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (ते) प्रसिद्धाः (अनुमन्यन्ताम्) अनुकूला भवन्तु (अहृणीयमानाः) असंकुचन्तः ॥

१—अथर्ववेद काण्ड ८ सूक्त २ मन्त्र २१ के अनुसार युगवर्ष गणना ॥

सूचना—मन्त्र में केवल [सौ, दश सहस्र, वर्षें, दो युग, तीन और चार] पद हैं, कलि आदि पदों की कल्पना की गयी है । एक दैववर्ष में ३६० [तीन सौ साठ] मानुष वा सौर वर्ष होते हैं ॥

सन्धि और युग	कलि		द्वापर		त्रेता		कृतयुग		चतुर्युगी	
	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष
सन्धि	१००	३६,०००	२००	७२,०००	३००	१,०८,०००	४००	१,४४,०००	१,०००	३,६०,०००
युग	१०,०००	३६,००,०००	२०,०००	७२,००,०००	३०,०००	१,०८,००,०००	४०,०००	१,४४,००,०००	१,००,०००	३,६०,००,०००
योग	१०,१००	३६,३६,०००	२०,२००	७२,७२,०००	३०,३००	१,०९,०८,०००	४०,४००	१,४५,४४,०००	१,०१,०००	३,६३,६०,०००

२—मनु अध्याय १ श्लोक ६९—७० और सूर्य सिद्धान्त अध्याय १ श्लोक १५-१७ के अनुसार युग वर्ष गणना ॥

सन्धि और युग	कृतयुग		त्रेतायुग		द्वापरयुग		कलियुग		चतुर्युगी	
	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष
सन्ध्या वर्ष	४००	१,४४,०००	३००	१,०८,०००	२००	७२,०००	१००	३६,०००	१,०००	३,६०,०००
युग वर्ष	४,०००	१४,४०,०००	३,०००	१०,८०,०००	२,०००	७,२०,०००	१,०००	३,६०,०००	१०,०००	३६,००,०००
संध्यांशवर्ष	४००	१,४४,०००	३००	१,०८,०००	२००	७२,०००	१००	३६,०००	१,०००	३,६०,०००
योग ...	४,८००	१७,२८,०००	३,६००	१२,९६,०००	२४,०००	८,६४,०००	१,२००	४,३२,०००	१२,०००	४३,२०,०००

[आगे मनु श्लोक ७१, ७२ के अनुसार बारह सहस्र चतुर्युगी का एक दैव युग और एक सहस्र दैव युग का ब्रह्मा का एक दिन, और इतनी ही रात्री । अर्थात् १२,००० दैव वर्ष × १००० युग × ३६० मानुष वर्ष=४,३२,००,००,००० [चार अरब बत्तीस करोड़] मानुष वर्ष का एक दिन और इतनी वर्षों की ब्रह्मा की रात्री है, परन्तु मन्त्र का संबन्ध इससे नहीं है] ॥

शरदे॑ त्वा हेम॒न्ताय॑ वस॒न्ताय॑ ग्रीष्माय॒ परि॑ दद्मसि ।
व॒र्षाणि॒ तुभ्यं॑ स्यो॒नानि॒ येषु॒ वर्ध॑न्त॒ ओष॑धीः ॥ २२ ॥

श॒रदे॑ । त्वा॒ । हे॒म॒न्ताय॑ । व॒स॒न्ताय॑ । ग्री॒ष्माय॑ । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ॥
व॒र्षाणि॑ । तुभ्य॑म् । स्यो॒नानि॑ । येषु॑ । वर्ध॑न्ते । ओष॑धीः ॥२२॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझे (शरदे) शरद्, (हेमन्ताय) हेमन्त [और शिशिर], (वसन्ताय) वसन्त और (ग्रीष्माय) ग्रीष्म [ऋतु] को (परि दद्मसि) हम सौंपते हैं । (वर्षाणि) वर्षायें (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) मनभावनी [होवें], (येषु) जिनमें (ओषधीः) औषधें [अन्न आदि वस्तुयें] (वर्द्धन्ते) बढ़ती हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब ऋतुओं से यथावत् उपयोग लेकर सुखी रहें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० ६ । ५५ । २ । से करो जहां छह ऋतुयें वर्णित हैं ॥

मृ॒त्युरी॑शे द्वि॒पदां॑ मृ॒त्युरी॑शे॒ चतु॑ष्पदाम् ।
तस्मा॑त् त्वां मृ॒त्योर्गोप॑ते॒रुद्भ॑रामि॒ स मा बि॑भेः ॥ २३ ॥

मृ॒त्युः । ई॒शे॒ । द्वि॒-पदा॑म् । मृ॒त्युः । ई॒शे॒ । चतुः॑-पदाम् ॥ तस्मा॑त् ।
त्वाम् । मृ॒त्योः । गोऽ-प॑तेः । उत् । भ॒रा॒मि॒ । सः । मा । बि॒भेः ॥२३॥

भाषार्थ—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दोपायों का (ईशे) शासक है, (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम्) चौपायों का (ईशे) शासक है । (तस्मात्)

२२—(परि दद्मसि) समर्पयामः (वर्षाणि) श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः (तुभ्यम्) (स्योनानि) सुखकराणि (येषु) (वर्द्धन्ते) उत्पद्यन्ते (ओषधीः) व्रीहियवादयः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६ । ५५ । २ । (शरदे) आश्विनकार्तिकात्मकाय कालाय (त्वा) त्वाम् (हेमन्ताय) अग्रहायणपौषात्मकाय कालाय । शिशिरसहिताय माघफाल्गुनसहिताय (ग्रीष्माय) ज्येष्ठाषाढात्मकाय कालाय ॥

२३—(मृत्युः) (ईशे) ईष्टे । शासको भवति (द्विपदाम्) पदद्वयोपेतानां मनुष्यपक्ष्यादीनाम् (मृत्युः) (ईशे) (चतुष्पदाम्) पदचतुष्टययुक्तानां

उस (गोपतेः) पृथिवी के स्वामी (मृत्योः) मृत्यु से (त्वाम्) तुझे (उत् भरामि) ऊपर उठाता हूं (सः) सो तू (मा बिभेः) मत भय कर ॥ २३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष प्रबल मृत्यु से निर्भय होकर विचरते रहते हैं॥२३॥

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

सः । अरिष्ट । न । मरिष्यसि । न । मरिष्यसि । मा । बिभेः ॥
न । वै । तत्र । म्रियन्ते । नो इति । यन्ति । अधमम् । तमः ॥२४॥

भाषार्थ—(अरिष्ट) हे निर्हानि ! (सः) सो तू (न) नहीं (मरिष्यसि) मरेगा, तू (न) नहीं (मरिष्यसि) मरेगा, (मा बिभेः) मत भयकर। (तत्र) वहां पर [कोई] (वै) भी (न) नहीं (म्रियन्ते) मरते हैं, (नो) और नहीं (अधमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (यन्ति) जाते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—जहां पर मनुष्य ब्रह्म का विचार करते रहते हैं [देखो मन्त्र २५], वहां मृत्यु का भय नहीं होता ॥ २४ ॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

सर्वः । वै । तत्र । जीवति । गौः । अश्वः । पुरुषः । पशुः ॥
यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परि-धिः । जीवनाय । कम् ॥२५॥

गवाश्वादीनाम् (तस्मात्) प्रसिद्धात् (त्वाम्) मनुष्यम् (मृत्योः) मरणात् (गोपतेः) भूमिशासकात् (उत् भरामि) उद्धारयामि (सः) स त्वम् (मा बिभेः) भयं मा कुरु ॥

२४—(सः) स त्वम् (अरिष्ट) हे निर्हाने (न) निषेधे (मरिष्यसि) प्राणान् त्यक्ष्यसि (न) (मरिष्यसि) (मा बिभेः) भीतिं मा कुरु (न) (वै) अवश्यम्), (तत्र) ब्रह्मणि—मन्त्र २५ (म्रियन्ते) प्राणान् त्यजन्ति (नो) नैव (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (अधमम्) नीचीनम् (तमः) अन्धकारम् ॥

भाषार्थ—(सर्वः) (सब (वै) ही (तत्र) वहां (जीवति) जीता रहता है, (गौः) गौ, (अश्वः) घोड़ा, (पुरुषः) पुरुष, और (पशुः) पशु [हाथी ऊंट आदि] । (यत्र) जहां पर (इदम्) यह [प्रसिद्ध] (ब्रह्म) ब्रह्म [परमेश्वर] (जीवनाय) जीवन के लिये (कम्) सुख से (परिधिः) कोट [समान रक्षा साधन] (क्रियते) बनाया जाता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्म के आश्रित रहते हैं; व जीवन्मुक्त होकर सब सुख भोगते हैं ॥ २५ ॥

इस मन्त्र का सम्बन्ध मन्त्र २३, २४ से है ॥

परि॑ त्वा पातु समा॒नेभ्यो॑ऽभिचा॒रात् सब॑न्धुभ्यः ।
अम॑म्रिर्भवा॒मृतो॑ऽतिजी॒वो मा ते॑ हासिषु॒रस॑वः॒ शरी॑रम् ॥२६॥

परि॑ । त्वा॒ । पा॒तु॒ । स॒मा॒नेभ्यः॑ । अ॒भि॒-चा॒रात् । सब॑न्धु-भ्यः ॥ अम॑म्रिः । भ॒व॒ । अ॒मृतः॑ । अ॒ति॒-जी॒वः । मा । ते॒ । हा॒सि॒षुः॒ । अस॑वः । शरी॑रम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—वह [ब्रह्म—म० २५] (त्वा) तुझ को (अभिचारात्) दुष्कर्म से (सबन्धुभ्यः) बन्धुओं सहित (समानेभ्यः) साथियों के [हित के] लिये (परि) सब प्रकार (पातु) बचावे । (अमम्रिः) बिना मृत्युवाला,

२५—(सर्वः) निःशेषः (वै) एव (तत्र) ब्रह्माश्रये (जीवति) प्राणान् धारयति (गौः) धेनुः (अश्वः) घोटकः (पुरुषः) मनुष्यः (पशुः) गजोष्ट्रादिः (तत्र) (इदम्) प्रसिद्धम् (ब्रह्म) परिवृढः परमात्मा (परिधिः) प्राकारो यथा रक्षासाधनम् (जीवनाय) प्राणधारणाय (कम्) सुखेन ॥

२—(परि) सर्वतः (त्वा) त्वाम् (पातु) रक्षतु (समानेभ्यः) समानानां सदृशगुणस्वभावानां हिताय (अभिचारात्) विरुद्धाचरणात् । उपद्रवात् (सबन्धुभ्यः) बन्धुसहितेभ्यः (अमम्रिः) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० । ३ । २ । १७१ । मृङ् प्राणत्यागे—कि, नञ् समासः । अमरणशीलः (भव) (अमृतः) अमरः । पुरुषार्थी (अतिजीवः) उत्तरजीवी (ते) तव (मा हासिषुः) ओ हाक् त्यागे-लुङ् । मा त्यजन्तु (असवः) प्राणाः (शरीरम्) देहम् ॥

(अमृतः) अमर, (अतिजीवः) उत्तर जीवी (भव) हो, (ते) तेरे (असवः) प्राण [तेरे] (शरीरम्) शरीर को (मा हासिषुः) न छोड़ें ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर का सहारा लेकर परोपकार करते हैं, वे ब्रह्मचारी अधिक जीकर अधिक उपकारी होते हैं ॥ २६ ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

ये । मृत्यवः । एक-शतम् । याः । नाष्ट्राः । अति-तार्याः ॥
मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (ये) जो (एकशतम्) एक सौ एक (मृत्यवः) मृत्युयें और (याः) जो (नाष्ट्राः) नाश करने वाली [पीड़ायें] (अतितार्याः) पार करने योग्य हैं । (तस्मात्) उस [क्लेश] से (त्वाम्) तुझ को (देवाः) [तेरे] उत्तम गुण (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) अग्नि [सर्व व्यापक परमेश्वर] का आश्रय लेकर (अधि) अधिकार पूर्वक (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ २७ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी योगीजन सर्वगुरु परमेश्वर के आश्रय से उत्तम कर्म करके शारीरिक और आत्मिक पीड़ायें छोड़कर आनन्द पाते हैं ॥ २७ ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥ (५)

अग्नेः । शरीरम् । असि । पारयिष्णु । रक्षः-हा । असि । सपत्न-हा ॥ अथो इति । अमीव-चातनः । पूतुद्रुः । नाम । भेषजम् २८(५)

२७—(ये) (मृत्यवः) मृत्युहेतवो रोगादयः (एकशतम्) एकाधिकं शतम् । बहुसंख्याका इत्यर्थः (याः) (नाष्ट्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६ । नाशयतेः—त्रन् । नाशयित्र्यः पीडाः (अतितार्याः) अतितरीतव्याः । लङ्घनीयाः (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (तस्मात्) क्लेशात् (त्वाम्) मनुष्यम् (देवाः) उत्तमगुणाः (अग्नेः) पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । अग्निं सर्वव्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (वैश्वानरात्) सर्वनरहितमित्यर्थः (अधि) अधिकृत्य ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अग्नेः) अग्नि [तेज] का (शरीरम्) शरीर, (पारयिष्णु) पार लगाने वाला (असि) है, और (रक्षोहा) राक्षसों का नाश करने वाला, और (सपत्नहा) प्रतियोगियों का मारडालने वाला (असि) है। (अथो) और भी (अमीवचातनः) पीड़ा मिटाने वाला (पूतुद्रुः) शुद्धि पहुंचाने वाला (नाम) नाम का (भेषजम्) औषध है ॥ २८ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र इस सूक्त का उपसंहार है। मनुष्य तेजः स्वरूप परमात्मा की उपासना से अपने क्लेशों का नाश करें ॥ २८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-२६ ॥ अग्निरक्षोहा देवता ॥ १-६, ८-१०, ११, १६, १८, २१, त्रिष्टुप्; ७, १२-१५, १७, भुरिक् त्रिष्टुप्; १९, २४ निचृत् त्रिष्टुप्, २० विराट् त्रिष्टुप् २२, २३, अनुष्टुप्; २५ पंचपदा बृहती गर्भा जगती ; २६ गायत्री ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म। शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥

रक्षःहनम्। वाजिनम्। आ। जिघर्मि। मित्रम्। प्रथिष्ठम्। उप। यामि। शर्म ॥ शिशानः। अग्निः। क्रतु-भिः। सम्-इद्धः।

२८—(अग्नेः) तेजसः (शरीरम्) स्वरूपम् (असि) (पारयिष्णु) अ० ५। २८। १४। पारप्रापकं ब्रह्म (रक्षोहा) रक्षसां हन्ता परमेश्वरः (सपत्नहा) प्रतियोगिनां नाशकः (अथो) अपि च (अमीवचातनः) अ० १। २८। १। रोगनाशकः (पूतुद्रुः) अर्तेश्च तु। उ० १। ७२। पूङ् शोधने-तु, स च कित्। हरिमितयोर्द्रुवः। उ० १। ३४। पूतु+द्रु गतौ-कु, स च डित्। शुद्धिप्रापकः परमेश्वरः (नाम) प्रसिद्धौ (भेषजम्) औषधम् ॥

सः । नः । दिवा । सः । रिषः । पातु । नक्तम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहणम्) राक्षसों के मारने वाले, (वाजिनम्) महाबली, पुरुष को (आ) भली भांति (जिघर्मि) प्रकाशित [प्रख्यात] करता हूं, (प्रथिष्ठम्) अति प्रसिद्ध (मित्रम्) मित्र के पास (शर्म) शरण के लिये (उप यामि) मैं पहुंचता हूं। (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा अपने] (क्रतुभिः) कर्मों से (शिशानः) तीक्ष्ण किया हुआ और (समिद्धः) प्रकाशमान है, (सः) वह (नः) हमें (दिवा) दिन में, (सः) वह (नक्तम्) रात्रि में (रिषः) कष्ट से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी, पराक्रमी, प्रजापालक राजा की कीर्त्ति को प्रजागण गाते रहते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १-२३ कुछ पद भेद और मन्त्र क्रम भेद से ऋग्वेद में है-१०।८७।१-२३॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः। आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन्॥२॥

अयः-दंष्ट्रः । अर्चिषा । यातु-धानान् । उप । स्पृश । जात-वेदः । सम्-इद्धः ॥ आ । जिह्वया । मूर-देवान् । रभस्व । क्रव्य-अदः । वृष्ट्वा । अपि । धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) प्रसिद्ध ज्ञानवाले [राजन् !] (अयोदंष्ट्रः)

१—(रक्षोहणम्) रक्षसां हन्तारम् (वाजिनम्) महाबलवन्तम् (आ) समन्तात् (जिघर्मि) घृ दीप्तौ । दीपयामि । प्रख्यापयामि (मित्रम्) सखायम् (प्रथिष्ठम्) पृथु—इष्ठन् । र ऋतो हलादेर्लघोः । पा० ६ । ४ । १६१ । इति ऋकारस्य रः । टेः । ६ । ४ । १५५ । टेर्लोपः । पृथुतमम् । अतिप्रसिद्धम् (उपयामि) उपगच्छामि (शर्म) शर्मणे । शरणाय (शिशानः) शो तनूकरणे—शानच्, शपः श्लौः, अभ्यासस्य इत्वम्, आत्वम् । तीक्ष्णीकृतः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी राजा (क्रतुभिः) कर्मभिः—निघ० १ । २ (समिद्धः) सम्यग् दीप्तः (सः) शूरः (नः) अस्मान् (दिवा) दिवसे (सः) (रिषः) रिष हिंसायाम्,—क्विप् । कष्टात् (पातु) रक्षतु (नक्तम्) रात्रौ ॥

लोहसमान दांतवाला [पुरुषाङ्ग], (समिद्धः) प्रकाशमान तू (अर्चिषा) [अपने] तेज से (यातुधानान्) दुःखदायी जीवों को (उप स्पृश) पांवों से कुचल। (जिह्वया) [अपनी] जय शक्ति से (मूरदेवान्) मूढ़ [बुद्धिहीन] व्यवहार वालों को (आ रभस्व) पकड़ले, और (वृष्ट्वा) पराक्रमी होकर तू (क्रव्यादः) मास :खानेवालों को (आसन्) [फेंकने के स्थान] कारागार में (अपि धत्स्व) बन्द करदे ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिमान्, बलवान् राजा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ३।

उभा। उभयाविन्। उप। धेहि। दंष्ट्रौ। हिंस्रः। शिशानः। अवरम्। परम्। च॥ उत। अन्तरिक्षे। परि। याहि। अग्ने। जम्भैः। सम्। धेहि। अभि। यातु-धानान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उभयाविन्) हे पूर्ति की रक्षा करनेवाले ! तू [शत्रुओं [ाक (हिंस्रः) नाश करनेवाला और (शिशानः) तीक्ष्ण होकर (अवरम्)

२—(अयोदंष्ट्रः) लोहवद्दन्तोपेतः (अर्चिषा) स्वतेजसा (यातुधानान्) पीडांप्रदान् पुरुषान् (उप स्पृश) उपपूर्वकः स्पृश पादैर्मर्दने। पादैश्चूर्णीकुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (समिद्धः) प्रकाशितः (जिह्वया) शेवायह्व जिह्वा० । उ० १ । १५४ । जि जये—वन्, धोतोर्हुक् । जयशक्त्या (मूरदेवान्) रस्य ढः । दिवु व्यवहारे—अच् । मूरा अमूर न वयम्...मूढा वयं स्मऽमूढस्त्वमसि—निरु० ६ । ८ । मूढव्यवहारान् । मन्दबुद्धिव्यवहारयुक्तान् (आ रभस्व) सम्यग् गृहाण (क्रव्यादः) मांसभक्षकान् (वृष्ट्वा) वृष शक्तिबन्धने पराक्रमे च । पराक्रमी भूत्वा (अपि धत्स्व) बधान (आसन्) अस्यते क्षिप्यतेऽत्र आस्यम् । असु क्षेपणे—ण्यत् । पद्दन्नोमास्० पा० ६ । १ । ६३ । आसन् आदेशः । आस्नि । क्षेपणस्थाने । कारागारे ॥

३—(उभा) द्वौ (उभयाविन्) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ९९ । उभ पूर्तौ—कयन् । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । उभय + अव

नीचे के (च) और (परम्) ऊपर के (उभा) दोनों (दंष्ट्रौ) दांतों को (उप धेहि) काम में ला। (उत) और (अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (अन्तरिक्षे) आकाश में [विमान से हमारे] (परि) आस पास (याहि) विचर, (यातुधानान् अभि) दुःखदायी दुर्जनों पर (जम्भैः) दांतों [दंतीले तेज हथियारों] से (सम् धेहि) लक्ष्य कर [वेधले] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुर्जनों को इस प्रकार दबाकर रक्खे जैसे दांतों के बीच वस्तु को दबा लेते हैं और आकाश मार्ग से सावधानी रखकर दुष्टों का नाश करे ॥ ३ ॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् । प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अग्ने । त्वचम् । यातु-धानस्य । भिन्धि । हिंस्रा । अशनिः । हरसा । हन्तु । एनम् ॥ प्र । पर्वाणि । जात-वेदः । शृणीहि । क्रव्य-अत् । क्रविष्णुः । वि । चिनोतु । एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यातुधानस्य) दुःखदायी दुष्ट की (त्वचम्) खाल (भिन्धि) उजाड़ दे, [तेरी] (हिंस्रा) बध करनेवाली (अशनिः) बिजुली [बिजुली का वज्र] (हरसा)

रक्षणे—णिनि। हे पूर्निरक्षक (उप धेहि) उपयोजय (दंष्ट्रौ) दन्तौ (हिंस्रः) शत्रुनाशकः (शिशानः) म० १। तीक्ष्णीकृतः (अवरम्) अधोवर्तमानं दंष्ट्रम् (परम्) उपरि वर्तमानम् (च) (उत) अपि (अन्तरिक्षे) आकाशे विमानेन (परि) सर्वतः (याहि) संचर (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (जम्भैः) जभि नाशने—घञ्। नाशकर्मभिः। दन्तयुक्तायुधैः (संधेहि) लक्ष्यीकुरु (अभि) अभिलक्ष्य (यातुधानान्) पीड़ादायकान् ॥

४—(अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (त्वचम्) अ०१।२३।४। चर्म (यातुधानस्य) पीडाप्रदस्य (हिंस्रा) हिंसिका (अशनिः) विद्युत्। वज्रः (हरसा) तेजसा—निरु० ५। १२ (हन्तु) नाशयतु (प्र) प्रकर्षेण (पर्वाणि)

अपने तेज से (एनम्) इस [अत्याचारी] को (हन्तु) मारे। (जातवेदः) हे महाधनी राजन्! [उसके] (पर्वाणि) जोड़ों को (प्र शृणीहि) कुचल डाल, (क्रव्यात्) मांस खानेवाला, (क्रविष्णुः) भयंकर [सिंह, गीदड़, गिद्ध आदि जीव] (एनम्) इसको (वि चिनोतु) चींथ डाले ॥ ४॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को बिजुली वा अग्नि के हथियारों से कठिन दण्ड देकर विनाश करदे ॥ ४ ॥

यत्रे॒दानीं॒ पश्य॑सि जातवेद॒स्तिष्ठ॑न्तमग्न उ॒त वा॒ चर॑न्तम्।
उ॒तान्तरि॑क्षे॒ पत॑न्तं यातु॒धानं॒ तमस्ता॑ विध्य॒ शर्वा॒ शिशा॑नः॥५॥

यत्र॑। इ॒दानी॑म्। पश्य॑सि। जा॒त॒ऽवे॒दः॒। तिष्ठ॑न्तम्। अ॒ग्ने॒। उ॒त। वा॒। चर॑न्तम्॥ उ॒त। अ॒न्तरि॑क्षे। पत॑न्तम्। या॒तु॒ऽधान॑म्। तम्। अस्ता॑। वि॒ध्य॒। शर्वा॑। शिशा॑नः॥ ५॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले ! (अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन्!] (यत्र) जहां कहीं (इदानीम्) अब (तिष्ठन्तम्) खड़े हुये, (उत) और (वा) अथवा (चरन्तम्) घूमते हुये (उत) और (अन्तरिक्षे) आकाश में [विमान आदि से] (पतन्तम्) उड़ते हुये (यातुधानम्) दुःखदायी जन को (पश्यसि) तू देखता है, (शिशानः) तीक्ष्णस्वभाव, (अस्ता) बाण चलाने वाला तू (शर्वा) बाण वा वज्र से (तम्) उसे (विध्य) वेध ले ॥ ५ ॥

शरीरग्रन्थीन् (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन (शृणीहि) मर्दय (क्रव्यात्) मांसभक्षकः (क्रविष्णुः) ग्रेश्छन्दसि। पा० ३। २। १३७। क्नथ भये, णिच्—इष्णुच्, लस्य रः, णिलोपश्छान्दसः। क्रावयिष्णुः। भयङ्करो जन्तुः (वि चिनोतु) आकृष्य विप्रकीर्णं करोतु (एनम्) दुष्टम् ॥

५—(यत्र) (इदानीम्) (पश्यसि) निरीक्षसे (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (तिष्ठन्तम्) स्थितिं कुर्वन्तम् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (उत) अपि (वा) अथवा (चरन्तम्) गच्छन्तम् (उत) (अन्तरिक्षे) आकाशे (पतन्तम्) उड्डीयमानम् (यातुधानम्) दुःखप्रदं जनम् (तम्) (अस्ता) बाणानां क्षेप्ता (विध्य) ताडय (शर्वा) शरुणा। बाणेन वज्रेण वा (शिशानः)—म० १। तीक्ष्णस्वभावः ॥

भावार्थ—राजा पृथिवी, समुद्र और आकाश के उपद्रवियों का नाश करके प्रजा को पाले ॥ ५ ॥

यज्ञैरिषूः संनमंमानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः। ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

यज्ञैः। इषूः। सम्-नमंमानः। अग्ने। वाचा। शल्यान्। अशनि-भिः। दिहानः॥ ताभिः। विध्य। हृदये। यातु-धानान्। प्रतीचः। बाहून्। प्रति। भङ्ग्धि। एषाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन्!] (वाचा) वाणी [विद्या] द्वारा (यज्ञैः) संयोग वियोग व्यवहारों से (इषूः) वाणों को (संनममानः) सीधा करता हुआ, और (अशनिभिः) विजुलियों से (शल्यान्) [उनके] शिरों को (दिहानः) पोतता हुआ [तीक्ष्ण करता हुआ] तू (ताभिः) उन [वाणों] से (यातुधानान्) दुःखदायी जनों को (हृदये) हृदय में (विध्य) वेधले और (एषाम्) उनकी (वाहून्) भुजाओं को (प्रतीचः) उलटा करके (प्रति भग्ङ्ध) तोड़ दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा अपने शस्त्र अस्त्रों को विजुली आदि के प्रयोग से तीक्ष्ण रखकर शत्रुओं को मारे ॥ ६ ॥

उतारंब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्। अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आ-

६—(यज्ञैः) संयोगवियोगव्यवहारैः (इषूः) वाणान् (संनममानः) ऋजूकुर्वन् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् (वाचा) वाण्या। विद्यया (शल्यान्) वाणाग्राणि (अशनिभिः) विद्युत्प्रयोगैः (दिहानः) दिग्धान् कुर्वन् (ताभिः) इषुभिः (विध्य) ताडय (यातुधानान्) पीडाप्रदान् (प्रतीचः) प्रतिमुखान् कृत्वा (वाहून्) भुजान् (प्रति) प्रतिकूलम् (भग्ङ्ग्ध) भञ्जो आमर्दने। आमर्दय (एषाम्) यातुधानानाम् ॥ ७ ॥

मादः क्षिवङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

उत । आ-रब्धान् । स्पृणुहि । जात-वेदः । उत । आ-रेभाणान् । ऋष्टिभिः । यातु-धानान् ॥ अग्ने । पूर्वः । नि । जहि । शोशुचानः । आम-अदः । क्षिवङ्काः । तम् । अदन्तु । एनीः ॥ ७

भाषार्थ—(उत) और (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन वाले राजन् ! (आरब्धान्) [शत्रुओं करके] पकड़े हुओं को (स्पृणुहि) पाल (उत) और (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (पूर्वः) सब से पहिले और (शोशुचानः) अति प्रकाशमान तू (आरेभाणान्) [हमें] पकड़ने वाले (यातुधानान्) दुःखदायियों को (ऋष्टिभिः) दो धारा तरवारों से (नि जहि) मार डाल, (आमादः) मांस खानेवाली (एनीः) चितकबरी, (क्षिवङ्काः) अव्यक्त शब्द बोलने वालीं [चील आदि पक्षी] (तम्) हिंसक चोर को (अदन्तु) खा जावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के पालने और वैरियों के मारने में सदा उद्यत रहे ॥ ७ ॥

७—(उत) अपि च (आरब्धान्) रभ उपक्रमे—क्त । शत्रुभिर्गृहीतान् (स्पृणुहि) स्पृ पालने । पालय (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन राजन् (उत) (आरेभाणान्) रभ उपक्रमे—कानच् । अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि । पा० ६ । ४ । १२० । अकारस्य एत्वम्, अभ्यासलोपश्च । ग्रहणशीलान् (ऋष्टिभिः) ऋषी गतौ—क्तिन् । उभयतो धारयुक्तैः खड्गैः (यातुधानान्) पीड़ाप्रदान् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (पूर्वः) अग्रगामी (नि) निरन्तरम् (जहि) मारय (शोशुचानः) अ० ४ । ११ । ३ । भृशं दीप्यमानः (आमादः) मांसाशनाः (क्षिवङ्काः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । ञि क्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः, अव्यक्तशब्दे च-इण, स च डित् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । क्षिव + कै शब्दे-क । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इत्यलुक् । चिल्लादिपक्षिणः (तम्) तर्द हिंसने—ड । हिंसकं चोरम् (अदन्तु) भक्षयन्तु (एनीः) अ० ६ । ८३ । २ । कर्बुरवर्णाः ॥

इह प्र ब्रूहि यतुमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति।
तमा रभस्व सुमिधा यविष्ठ नृचक्षसुश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥८॥

इह । प्र । ब्रूहि । यतुमः । सः । अग्ने । यातु-धानः । यः । इदम् । कृणोति ॥ तम् । आ । रभस्व । सम्-इधा । यविष्ठ । नृ-चक्षसः । चक्षुषे । रन्धय । एनम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (इह) यहां पर (प्र ब्रूहि) बतला दे, (यतमः) जो कोइ (सः) वह (यातुधानः) दुःख-दायी, [है] (यः) जो (इदम्) यह [दुष्कर्म] (कृणोति) करता है। (यविष्ठ) हे बलिष्ठ ! (तम्) उसे (समिधा) [अपने] तेज से (आ रभस्व) पकड़ ले, और (निर्चक्षसः) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले की [अर्थात् अपनी] (चक्षुषे) दृष्टि के लिये (एनम्) उसे (रन्धय) आधीन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा प्रसिद्ध दुराचारियों को पकड़ कर दृष्टिगोचर रखकर उनका वृत्तान्त जानता रहे ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्युः प्र णय प्रचेतः। हिंस्रं रक्षांस्युभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥

तीक्ष्णेन । अग्ने । चक्षुषा । रक्ष । यज्ञम् । प्राञ्चम् । वसु-भ्यः । प्र । नय । प्र-चेतः ॥ हिंस्रम् । रक्षांसि । अभि । शोशुचानम् । मा । त्वा । दभन् । यातु-धानाः । नृ-चक्षः ॥ ९ ॥

८—(इह) अस्मिन् समाजे (प्र ब्रूहि) विज्ञापय (यतमः) तेषां मध्ये यः कश्चित् (सः) (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (यातुधानः) (यः) (इदम्) दुष्कर्म (कृणोति) करोति (तम्) पापिनम् (आ रभस्व) निगृहाण (समिधा) स्वतेजसा (यविष्ठ) हे युवतम बलिष्ठ (नृचक्षसः) मनुष्याणां द्रष्टुः (चक्षुषे) दर्शनाय (रन्धय) अ० ४ । २२ । १ । वशीकुरु (एनम्) दुष्टम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (तीक्ष्णेन चक्षुषा) तीक्ष्ण दृष्टि से (प्राञ्चम्) श्रेष्ठ (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार की (रक्ष) रक्षा कर, (प्रचेतः) हे दूरदर्शी [राजन् !] (वसुभ्यः) धनों के लिये [हमें] (प्र णय) आगे बढ़ा । (नृचक्षः) हे मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले ! (रक्षांसि अभि) राक्षसों पर (हिंस्रम्) हिंसा करने वाले और (शोशुचानम्) अति प्रकाशमान (त्वा) तुझ को (यातुधानाः) दुःखदायी लोग (मा दभन्) न सतावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो प्रतापी दूरदर्शी राजा उत्तम व्यवहारों की रक्षा करके अपना और प्रजा का धन बढ़ाता है, उसे शत्रु नहीं सता सकते ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा । तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥ (६)

नृ-चक्षाः । रक्षः । परि । पश्य । विक्षु । तस्य । त्रीणि । प्रति । शृणीहि । अग्रा ॥ तस्य । अग्ने । पृष्टीः । हरसा । शृणीहि । त्रेधा । मूलम् । यातु-धानस्य । वृश्च ॥ १० ॥ (६)

भाषार्थ—(नृचक्षाः) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला तू (रक्षः) राक्षस को (विक्षु) मनुष्यों के बीच (परि पश्य) जांच कर देख, (तस्य) उसके (त्रीणि) तीन (अग्रा) अग्रभाग [मस्तक और दो कंधे] (प्रति शृणीहि)

९—(तीक्ष्णेन) क्रूरेण (अग्ने) (चक्षुषा) दृष्ट्या (रक्ष) पालय (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (प्राञ्चम्) प्रगतम् । श्रेष्ठम् (वसुभ्यः) धनानां लाभाय (प्र णय) प्रगमय (प्रचेतः) दूरदर्शिन् राजन् (हिंस्रम्) हिंसकम् (रक्षांसि) राक्षसान् (अभि) प्रति (शोशुचानम्) भृशं दीपयन्तम् (मा दभन्) मा हिंसिषुः (त्वा) त्वाम् (यातुधानाः) राक्षसाः (नृचक्षः) हे मनुष्याणां द्रष्टः ॥

१०—(नृचक्षाः) नृणां द्रष्टा (रक्षः) दुष्टम् (परि) सर्वतः (पश्य) अवलोकय (विक्षु) मनुष्येषु । विशो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । (तस्य) (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (प्रति) प्रत्यक्षम् (शृणीहि) नाशय (अग्रा) अग्राणि । शिरः

तोड़ दे। (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तस्य) उसकी (पृष्टीः) पसलियां (हरसा) बल से (शृणीहि) कुचल डाल, (यातुधानस्य) दुःखदायी की (मूलम्) जड़ को (त्रेधा) तीन प्रकार से [दोनों जंघा और कटिभाग से] (वृश्च) काट दे ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवियों को दण्ड देने में सदा कठोर हृदय रहे ॥१०॥

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयंजातवेदः समक्षमेनं गृणते नियुङ्ग्धि ॥११॥

त्रिः। यातु-धानः। प्र-सितिम्। ते। एतु। ऋतम्। यः। अग्ने। अनृतेन। हन्ति ॥ तम्। अर्चिषा। स्फूर्जयन्। जात-वेदः। सम्-अक्षम्। एनम्। गृणते। नि। युङ्ग्धि ॥११॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (यातुधानः) वह दुःखदायी पुरुष (त्रिः) तीन वार (ते) तेरी (प्रसितिम्) बेड़ी को (एतु) प्राप्त हो, (यः) जो (ऋतम्) सत्य को (अनृतेन) असत्य से (हन्ति) तोड़ता है। (जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले [राजन् !] (अर्चिषा) अपने तेज से (तम् स्फूर्जयन्) उस पर गरजता हुआ तू (समक्षम्) सब के सन्मुख (एनम्) इस [शत्रु] को (गृणते) स्तुति करने वाले के [हित के] लिये (नि युङ्ग्धि) बांध ले ॥ ११ ॥

स्कन्धद्वयं च (तस्य) (अग्ने) (पृष्टीः) पार्श्वास्थीनि (शृणीहि) (त्रेधा) त्रिप्रकारेण। जङ्घाद्वयं कटिभागं च (मूलम्) शरीरस्य नीचभागम् (यातुधानस्य) (वृश्च) छिन्धि ॥

११—(त्रिः) त्रिवारम् (यातुधानः) पीडाप्रदः (प्रसितिम्) प्र + षिञ् बन्धने—क्तिन्। प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा—निरु० ६। १२। बन्धनम् (ते) तव (एतु) प्राप्नोतु (ऋतम्) सत्यनियमम् (यः) (अग्ने) तेजस्विन् राजन् (अनृतेन) मिथ्याकथनेन (हन्ति) नाशयति (तम्) दुष्टम् (अर्चिषा) तेजसा (स्फूर्जयन्) स्फुर्ज वज्रशब्दे—शतृ। गर्जयन् (जातवेदः) हे प्रसिद्ध-

भावार्थ—राजा चोर डाकू आदि दुष्टों को प्रजा के हित के लिये यथावत् दण्ड देवे ॥ ११ ॥

"(त्रिः) तीन बार" से प्रयोजन ऊपर, नीचे और मध्य पाश है, देखो अ० ७। ८३। ३॥

यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो यद् वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः। म॒न्योर्मन॑सः शर॒व्या॒३॒॑ या जाय॑ते॒ तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥ १२ ॥

यत्। अ॒ग्ने॒। अ॒द्य। मि॒थु॒ना। शपा॑तः। यत्। वा॒चः। तृ॒ष्टम्। ज॒नय॑न्त। रे॒भाः॥ म॒न्योः। मन॑सः। श॒र॒व्या᳕। जाय॑ते। या। तया॑। वि॒ध्य॒। हृद॑ये। या॒तु॒-धाना॑न् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यत्) जो (अद्य) आज (मिथुना) दो हिंसक मनुष्य [सत्पुरुषों से] (शपातः) कुवचन बोलते हैं, और (यत्) जो (रेभाः) शब्द करने वाले [शत्रु लोग] (वाचः) वाणी की (तृष्टम्) कठोरता (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं (मन्योः) क्रोध से (मनसः) मन की (या) जो (शरव्या) बाणों की झड़ी। (जायते) उत्पन्न होती है, (तया) उससे (यातुधानान्) दुःखदायियों को (हृदये) हृदय में (विध्य) वेधले ॥ १२ ॥

भावार्थ—राजा दुर्वचन भाषियों को विचार पूर्वक दण्ड देता रहे ॥ १२

ज्ञान (समक्षम्) प्रत्यक्षम् (एनम्) शत्रुम् (गृणते) स्तोत्रं कुर्वते (नियुङ्ग्धि) युज संयमने, चुरादिः, रुधादित्वं छान्दसम्। नियोजय। बधान॥

१२—(यत्) (अग्ने) (अद्य) अस्मिन् दिने (मिथुना) अ० ६। १४१। २। मिथृ वधे—उनन्। हिंसकौ (शपातः) शपतः (यत्) (वाचः) वाण्याः (तृष्टम्) ञि तृषा पिपासायाम्—भावे क्त। तृष्णाम्। कटुत्वमित्यर्थः (जनयन्त) जनयन्ति। उत्पादयन्ति (रेभाः) रेभृ शब्दे—अच्। शब्दायमानाः शत्रवः (मन्योः) क्रोधात् (मनसः) अन्तःकरणस्य (शरव्या) अ० १। १९। १। शरु-यत्। बाणसंहतिः (जायते) उत्पद्यते (या) (तया) (विध्य) ताडय (हृदये) (यातुधानान्) पीडाप्रदान्॥

परा॑ शृणीहि॒ तप॑सा यातु॒धाना॒न् परा॑ग्ने॒ रक्षो॒ हर॑सा शृणीहि । परा॒र्चिषा॒ मूर॑देवाञ्छृणीहि॒ परा॑सु॒तृपः॒ शोशु॑चतः शृणीहि ॥ १३ ॥

परा॑ । शृ॒णी॒हि॒ । तप॑सा । या॒तु॒-धाना॑न् । परा॑ । अ॒ग्ने॒ । रक्षः॑ । हर॑सा । शृ॒णी॒हि॒ ॥ परा॑ । अ॒र्चिषा॑ । मूर॑-देवान् । शृ॒णी॒हि॒ । परा॑ । अ॒सु॒-तृपः॑ । शोशु॑चतः । शृ॒णी॒हि॒ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तपसा) अपने तप [ऐश्वर्य वा प्रताप] से (यातुधानान्) दुःखदायियों को (परा शृणीहि) कुचल डाल, (रक्षः) राक्षसों [दुराचारियों वा रोगों] को (हरसा) अपने बल से (परा शृणीहि) मिटा दे । (अर्चिषा) अपने तेज से (मूरदेवान्) मूढ़ [निर्बुद्धि] व्यवहार वालों को (परा शृणीहि) नाश करदे, (शोशुचतः) अत्यन्त दमकते हुये, (असुतृपः) [दूसरों के] प्राणों से तृप्त होने वालों को (परा शृणीहि) चूर चूर कर दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा अत्यन्त क्लेशदायक प्राणियों के नाश करने में सदा उद्यत रहे ॥ १३ ॥

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः । वा॒चास्ते॑नं॒ शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न् विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥ १४ ॥

१३—(परा शृणीहि) सर्वथा विनाशय (तपसा) तापकेन तेजसा । ऐश्वर्येण । प्रतापेन (यातुधानान्) दुःखदायकान् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (रक्षः) बहुवचनस्यैकवचनम् । रक्षांसि । रोगान् दुष्टप्राणिनो वा (हरसा) बलेन (परा शृणीहि) विमर्दय (अर्चिषा) तेजसा (मूरदेवान्) मंत्र २। निर्बुद्धिव्यवहारयुक्तान् (असुतृपः) असुभिः परप्राणैरात्मानं तर्पयन्तः प्राणिनः (शोशुचतः) शुच दीप्तौ यङ्लुकि—छान्दसः शतृ । शोशुचानान् भृशं देदीप्यमानान् (परा शृणीहि) चूर्णीकुरु ॥

परा । अ॒द्य । दे॒वाः । वृ॒जि॒नम् । शृ॒ण॒न्तु॒ । प्र॒त्यक् । ए॒न॒म् । श॒पथाः । य॒न्तु॒ । सृ॒ष्टाः ॥ वा॒चा-स्ते॒नम् । शर॑वः । ऋ॒च्छ॒न्तु॒ । मर्म॑न् । विश्व॑स्य । ए॒तु॒ । प्र-सि॑तिम् या॒तु-धानः॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले शूर (अद्य) आज (वृजिनम्) पापी को (परा शृणन्तु) कुचल डालें, (सृष्टाः) [उसके] छोड़े हुये [कहे हुये] (शपथाः) कुवचन (एनम्) उसको (प्रत्यक्) प्रतिकूल गति से (यन्तु) पहुंचें । (शरवः) [हमारे] तीर (वाचास्तेनम्) वतचोर [छली] पुरुष को (मर्मन्) मर्मस्थान में (ऋच्छन्तु) प्राप्त होवें, (विश्वस्य) सब में प्रवेश करने वाले राजा की (प्रसितिम्) बेड़ी को (यातुधानः) दुःखदायी (एतु) पावे ॥ १४ ॥

भावार्थ—वीर राजा मिथ्यावादी, चोर, डाकुओं को दण्ड देकर नाश कर दे ॥ १४ ॥

मांसभक्षकस्य शिरश्छेदनोपदेशः—मांस भक्षक के शिर काटने का उपदेश ॥

यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातुधानः॑ । यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒साऽपि॑ वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरु॑षेयेण । क्र॒विषा॑ । स॒म्-अ॒ङ्क्ते । यः । अश्व्ये॑न ।

१४—(अद्य) अस्मिन् दिने (देवाः) विजिगीषवः शूराः (वृजिनम्) अ० १।१०।३। पापिनम् । वक्रस्वभावम् (पराशृणन्तु) दूरे नाशयन्तु (प्रत्यक्) प्रतिकूलगत्या (एनम्) वृजिनम् (शपथाः) कुवचनानि (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (सृष्टाः) त्यक्ताः । उच्चारिताः (वाचास्तेनम्) मृषावचनेन हर्तारम् (शरवः) वाणाः (ऋच्छन्तु) ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । प्राप्नुवन्तु (मर्मन्) अ० ५।८।६। जीवमरणस्थाने (विश्वस्य) अशूप्रुषिलटि० । उ० १। १५१। विश प्रवेशने—क्वन् । सर्वत्र प्रवेशकस्य राज्ञः (एतु) गच्छतु (प्रसितिम्) म० ११। निगडम् । शृङ्खलाम् (यातुधानः) दुःखदायकः ॥

पशुना । यातु-धानः ॥ यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि । हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (यातुधानः) दुःखदायी जीव (पौरुषेयेण) पुरुष वध से [प्राप्त] (क्रविषा) मांस से, (यः) जो (अश्व्येन) घोड़े के [मांस से] और (पशुना) [दूसरे] पशु से (समङ्क्ते) [अपने को] पुष्ट करता है। और (यः) जो (अघ्न्यायाः) [नहीं मारने योग्य] गौ के (क्षीरम्) दूध को (भरति=हरति) नष्ट करता है, (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तेषाम्) उनके (शीर्षाणि) शिरों को (हरसा) अपने बल से (अपि वृश्च) काट डाल ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो कोई पुरुष, मनुष्य वा घोड़े वा अन्य पशु का मांस खावे वा गौ को मारकर दूध को घटावे, राजा उसका शिर कटवा दे ॥ १५ ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः । परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातु-धानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् । अदितये । दुः-एवाः ॥ परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओषधीनाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

१५—(यः) राक्षसः (पौरुषेयेण) अ० ७ १०५ । १ । पुरुषवधेन प्राप्तेन (क्रविषा) अर्चिशुचिहु० । उ० २ । १०८ । क्रव वधे—इसि । मांसेन (समङ्क्ते) सम्पूर्वकः अञ्जू भरणे भक्षणे च । आत्मानं पोषयति (यः) (अश्व्येन) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । अश्व—यत् । अश्वसम्बन्धिना क्रविषा (पशुना) अजादिप्राणिना (यातुधानः) दुःखदायकः (यः) (अघ्न्यायाः) अ० ३ । ३० । १ । अहन्तव्याया गोः (भरति) हृग्रहोर्भः । हरति नाशयति (क्षीरम्) दुग्धम् (अग्ने) (तेषाम्) यातुधानानाम् (शीर्षाणि) शिरांसि (हरसा) बलेन (अपि वृश्च) सर्वथा छिन्धि ॥

भाषार्थ—(यातुधानाः) दुःखदायी जन [जो] (गवाम्) गौओं का (विषम्) जल (भरन्ताम्=हरन्ताम्) बिगाड़ें, [तौ, वे] (दुरेवाः) दुराचारी लोग (अदितये) अखण्ड नीति के लिये (आ) सर्वथा (वृश्चन्ताम्) काट दिये जावें। (देवः) व्यवहार जानने वाला (सविता) सर्व प्रेरक राजा (एनान्) उनको (परा ददातु) दूर हटावे, और वे [राजपुरुष] उनके (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न आदि वस्तुओं] के (भागम्) भाग को (परा जयन्ताम्) जीत लेवें ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो दुराचारी लोग गौ घाट आदि स्थानों को नष्ट करें, राजा उनको नीति अनुसार दण्ड देवे ॥ १६ ॥

संवत्सरीणं पर्य उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः। पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥ १७ ॥

सम्-वत्सरीणम्। पयः। उस्रियायाः। तस्य। मा। आशीत्। यातु-धानः। नृ-चक्षः॥ पीयूषम्। अग्ने। यतमः। तितृप्सात्। तम्। प्रत्यञ्चम्। अर्चिषा। विध्य। मर्मणि ॥ १७ ॥

१६—(विषम्) विष्लृ व्याप्तौ-क। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। वि+ष्णा शौचे-ड। णलोपः, यद्वा, षच सेवने-ड। विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य, विपूर्वस्य वा सचतेः—निरु० १२। २६। जलम् (गवाम्) धेनूनाम् (यातुधानाः) दुःखदायिनः (भरन्ताम्) हरन्ताम्। नाशयन्तु (आ) समन्तात् (वृश्चन्ताम्) यकारलोपः। वृश्च्यन्ताम् छिन्ना भवन्तु (अदितये) अ० २। २८। ४। अदितिः=वाक्—निघ० १। ११। अखण्डायै नीतये (दुरेवाः) अ० ७। ५०। ७। दुष्टमतियुक्ताः (परा ददातु) निरस्यतु (एनान्) दुष्टान् (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) सर्वप्रेरको राजा (भागम्) अंशम (ओषधीनाम्) व्रीहियवादीनाम् (परा जयन्ताम्) जयेन गृह्णन्तु राजपुरुषाः ॥

भाषार्थ—(उस्रियायाः) गौ का [हमारे] (संवत्सरीणम्) निवासस्थान में उपस्थित [जो] (पयः) दूध है, (नृचक्षः) हे मनुष्यों पर दृष्टि रखनेवाले राजन्! (यातुधानः) दुःखदायी जन (तस्य) उसका (मा आशीत्) न भोजन करे। (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन्!] (यतमः) जो कोई [उनमें से हमारे] (अमृतम्) अमृत [अन्न दुग्ध आदि से] (तितृप्सात्) पेट भरना चाहे, (तम् प्रत्यञ्चम्) उस प्रतिकूलवर्ती को (अर्चिषा) अपने तेज से (मर्मणि) मर्मस्थान में (विध्य) छेद ले ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा सावधानी रक्खे कि कोई दुष्ट जन प्रजा के पदार्थों को न हड़प जावे ॥ १७ ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः । सहमूरानन दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातु-धानान् । न । त्वा । रक्षांसि । पृतनासु । जिग्युः ॥ सह-मूरान् । अनु । दह । क्रव्य-अदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत । दैव्यायाः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् राजन्! तू (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले [प्राणियों वा रोगों] को (सनात्) नित्य (मृणसि) नष्ट करता है,

१७—(संवत्सरीणम्) अ० ७। ७७। ३। सम्+वस निवासे-सरन्, ख-प्रत्ययो भवे। सम्यग् निवासे गृहे भवम् (पयः) दुग्धम् (उस्रियायाः) अ० ४। २६। ५। गोः (तस्य) पयसः (मा आशीत्) अश भोजने-लुङ्, अड्भावश्छान्दसः। मा अशीत्-यथा ऋग्वेदपदपाठे। न भोजनं कुर्यात् (यातुधानः) (नृचक्षः) हे नृणां द्रष्टः (पीयूषम्) पीयेरूषन्। उ० ४। ७६। पीय प्रीणने-ऊषन्। अमृतम्। दुग्धम (अग्ने) (यतमः) तेषां यः कश्चित् (तितृप्सात्) तृप्यतेः सनि। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। पा० ७। २। १०। इण्निषेधः, लेटि आडागमः। तर्पयितुमिच्छेत्, आत्मानम् (तम्) दुष्टम् (प्रत्यञ्चम्) प्रतिकूलगतिमन्तम् (अर्चिषा) तेजसा (विध्य) ताडय (मर्मणि) जीवमरणस्थाने ॥

१८—(सहमूरान्) मूलेन कारणेन सहितान्। यद्वा मूढमनुष्यैः सहि-

(रक्षांसि) राक्षसों ने (त्वा) तुझे (पृतनासु) संग्रामों में (न) नहीं (जिग्युः) जीता है। (क्रव्यादः) मांस भक्षकों को (सहमूरान्) [उनके] मूल [अथवा मूढ़ मनुष्यों] सहित (अनु दह) भस्म कर दे, (ते) तेरे (दैव्यायाः) दिव्य गुण वाले (हेत्याः) वज्र से (मा मुक्षत) वे न छूटें ॥ १८ ॥

भावार्थ—राजा दुःखदायी मनुष्यों को उनके मूल और साथियों सहित नाश करने में उत्साही रहे ॥ १८ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अथर्व० ५। २९। ११ ॥

त्वं नो॑ अग्ने अध॒राद् उ॑दक्त॒स्त्वं प॒श्चादु॒त र॑क्षा पु॒रस्ता॑त्। प्रति॒ त्ये ते॑ अ॒जरा॑स॒स्तपि॑ष्ठा अ॒घशं॑सं॒ शोशु॑चतो दह॒न्तु ॥ १९ ॥

त्वम्। नः। अग्ने। अधरात्। उदक्तः। त्वम्। पश्चात्। उत। रक्ष। पुरस्तात् ॥ प्रति। त्ये। ते। अजरासः। तपिष्ठाः। अघ-शंसम्। शोशुचतः। दहन्तु ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (त्वम्) तू (नः) हमें (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से, (त्वम्) तू (पश्चात्) पीछे से (उत) और (पुरस्तात्) आगे से (रक्ष) बचा। (ते) तेरे (त्ये) वे (अजरासः) अजर (तपिष्ठाः) अत्यन्त तपाने वाले, (शोशुचतः) अत्यन्त चमकते हुये [वज्र] (अघशंसम्) बुरा चीतने वाले को (प्रति दहन्तु) जला डालें ॥ १९ ॥

भावार्थ—राजा समुद्र, आकाश, पहाड़, पृथिवी आदि के डाकुओं से बिजुली और अग्नि के शस्त्र अस्त्रों द्वारा प्रजा की रक्षा करे ॥ १९ ॥

तान्। अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ५। २९। ११ ॥

१९—(त्वम्) (नः) अस्मान् (अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (अधरात्) अधोदेशात् (उदक्तः) उदक्-तसिल्। उदग्देशात्। उपरिस्थानात् (त्वम्) (पश्चात्) (उत) अपि च (रक्ष) (पुरस्तात्) अग्रदेशात् (प्रति) प्रतिकूलम् (त्ये) ते प्रसिद्धाः (ते) तव (अजरासः) अजराः। सुदृढाः (तपिष्ठाः) तापयितृतमाः (अघशंसम्) अ० ४। २१। ७। अनिष्टचिन्तकम् (शोशुचतः) म० १३। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। नुम् निषेधः। भृशं दीप्यमाना वज्राः (दहन्तु) भस्मसात् कुर्वन्तु ॥

पुश्चात् पुरस्तादधुरादुतोत्त॒रात् कुविः काव्येन॒ परि॑ पाह्यग्ने । सखा॑ सखा॑यमुजरो॑ जरि॒म्णे अग्ने॒ मर्ताँ॒ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः ॥ २० ॥ (७)

पुश्चात् । पुरस्तात् । अधुरात् । उत । उत्तुरात् । कुविः । काव्येन । परि॑ । पाहि । अग्ने ॥ सखा॑ । सखा॑यम् । अजरः । जुरिम्णे । अग्ने । मर्तान् । अमर्त्यः । त्वम् । नः ॥ २० ॥ (७)

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (कविः) बुद्धिमान् तू (काव्येन) अपनी बुद्धिमत्ता के साथ (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से, (अधरात्) नीचे से (उत) और (उत्तरात्) ऊपर से, (अग्ने) हे राजन् ! (अजरः) अजर (सखा) मित्र [के समान] (सखायम्) मित्र को (जरिम्णे) स्तुति के लिये, (अमर्त्यः) अमर (त्वम्) तू (नः) हम (मर्तान्) मनुष्यों को (परि) सब ओर से (पाहि) बचा ॥ २० ॥

भावार्थ—नीतिमान् राजा अपनी नीति कुशलता से दृढ़ चित्त होकर प्रजा की रक्षा करके संसार में स्तुति पावे ॥ २० ॥

तद॑ग्ने॒ चक्षुः॒ प्रति॑ धेहि रे॒भे श॑फारुजो॒ येन॒ पश्य॑सि यातु॒धाना॑न् । अ॒थ॒र्व॒वज्ज्योति॑षा दैव्ये॑न स॒त्यं धूर्व॑न्तम॒चितं॒ न्यो॑ष ॥ २१ ॥

तत् । अग्ने । चक्षुः॑ । प्रति । धेहि । रेभे । शफ-आरुजः । येन॑ । पश्य॑सि । यातु-धानान् ॥ अथर्व-वत् । ज्योति॑षा । दैव्ये॑न । सत्यम् । धूर्व॑न्तम् । अचितम् । नि । ओष ॥ २१ ॥

२०—(उत्तरात्) उपरिदेशात् (कविः) मेधावी—निघ० ३ । १५ । (काव्येन) कविकर्मणा । बुद्धिमत्तया (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (सखा) सुहृत् (सखायम्) सुहृदं यथा (अजरः) अजीर्णः (जरिम्णे) अ० २ । २८ । १ । जॄ स्तुतौ—भावे—इमनिन् । स्तुतये (मर्तान्) मनुष्यान् (अमर्त्यः) अमरः (त्वम्) (नः) अस्मान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तत्) वह [क्रोधभरी] (चक्षुः) आंख (रेभे) कोलाहल मचाने वाले [शत्रु] पर (परि धेहि) डाल, (येन) जिससे (शफारुजः) शान्ति तोड़ने वाले (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (पश्यसि) तू देखता है। (अथर्ववत्) निश्चल स्वभाव वाले ऋषि के समान तू (दैव्येन) देवताओं [विद्वानों] से पाये हुये (ज्योतिषा) तेज से (सत्यम्) सत्य (धूर्वन्तम्) नाश करने वाले (अचितम्) अचेत को (नि ओष) जला दे ॥ २१ ॥

भावार्थ—नीतिमान् राजा विद्वानों की सम्मति से प्रजा की शान्ति में विघ्नकारी, मिथ्यावादी दुष्टों को नाश करे ॥ २१ ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हुन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ॥
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भङ्गुर-वतः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धृषद्वर्णम्) अभयस्वभाव, (भङ्गुरवतः) नाश कर्म वाले [कपटी] के (हन्तारम्) नाश करने वाले (त्वा) तुझ को (दिवेदिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि) परि धि बनाते हैं ॥२२॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ २२ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७ । ७१ । १ ॥

२१—(तत्) क्रूरम् (अग्ने) (चक्षुः) दृष्टिम् (प्रति) प्रतिकूलम् (धेहि) स्थापय (रेभे)—म० १२ । शब्दायमाने । कोलाहलं कुर्वाणे दुष्टे (शफारुजः) शम शान्तौ—अच् मस्य फः पृषोदरादित्वात्—इति शब्दस्तोममहानिधिः । शफ + आ + रुजो भङ्गे—क्विप् । शान्तिसम्भञ्जकान् (येन) चक्षुषा (पश्यसि) अवलोकयसि (यातुधानान्) पीडाप्रदान् (अथर्ववत्) अ० ४ । १ । ७ । निश्चलस्वभावो मुनिर्यथा (ज्योतिषा) तेजसा (दैव्येन) देवाद् यञञौ । वा० पा० ४ । १ । ८५ । देव—यञ् । देवेभ्यो विद्वद्भ्यः प्राप्तेन (सत्यम्) यथार्थम् (धूर्वन्तम्) धुर्वी हिंसायाम्—शतृ । हिंसन्तम् (अचितम्) अचेत्तारम् निर्बुद्धिम् (नि) नितराम् (ओष) उष दाहे—लोट् । दह ॥

२२—अयंमन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ७१ । १ ॥

विषेण॑ भङ्गुराव॑तः प्रति॑ स्म रक्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ तिग्मेन॑ शोचिषा॑ तपु॑रग्राभिरर्चिभिः ॥ २३ ॥

विषेण॑ । भङ्गुर-व॑तः । प्रति॑ । स्म । रक्षसः॑ । जहि ॥ अग्ने॑ । तिग्मेन॑ । शोचिषा॑ । तपु॑ः-अग्राभिः । अर्चि-भिः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (विषेण) विष से [वा अपनी व्याप्ति से] (भङ्गुरवतः) नाश कर्म वाले (रक्षसः) राक्षसों को (स्म) अवश्य (तिग्मेन) तीव्र (शोचिषा) तेज से और (तपुरग्राभिः) तापयुक्त शिखाओं वाली (अर्चिभिः) ज्वालाओं से (प्रति जहि) नाश कर दे ॥ २३ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवियों को तीव्र दण्ड देता रहे ॥ २३ ॥

वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा । प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्षो॑भ्यो॒ विनिक्ष्वे॑ ॥ २४ ॥

वि । ज्योति॑षा । बृह॒ता । भा॒ति॒ । अ॒ग्निः । आ॒विः । विश्वा॑नि । कृणुते॒ । म॒हि-त्वा ॥ प्र । अदे॑वीः । मा॒याः । स॒ह॒ते॒ । दुः-एवाः॑ । शिशी॑ते । शृङ्गे॒ इति॑ । रक्षः॑-भ्यः । वि-निक्ष्वे॑ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] (बृहता) बड़ी (ज्योतिषा) तेज के साथ (वि भाति) चमकता है, और (विश्वानि) सब

२३—(विषेण) गरलेन स्वव्यापनेन वा (भङ्गुरवतः) अ० ७ । ७१ । १ नाशकर्मयुक्तान् (प्रति) प्रतिकूलम् (स्म) अवश्यम् (रक्षसः) पुंल्लिङ्गत्वं छान्दसम् । रक्षांसि (जहि) नाशय (अग्ने) (तिग्मेन) तीक्ष्णेन (शोचिषा) तेजसा (तपुरग्राभिः) अर्तिपृकपि० । उ० २ । ११७ । तप दाहे—उसि । तापकशिखायुक्ताभिः (अर्चिभिः) ज्वालाभिः ॥

२४—(वि) विविधम् (ज्योतिषा) तेजसा (बृहता) महता (भाति) प्रकाशते (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी राजा (आविः) अर्चिशुचिहु० । उ० २ ।

वस्तुओं को (महित्वा) अपनी महिमा से (आविः कृणुते) प्रकट करता है। (अदेवीः) अशुद्ध, (दुरेवाः) दुर्गति वाली (मायाः) बुद्धियों को (प्रसहते) जीत लेता है, और (शृङ्गे) दो प्रधान सामर्थ्य [प्रजापालन और शत्रुनाशन] को (रक्षोभ्यः) दुष्टों के (विनिक्ष्वे) विनाश के लिये (शिशीते) तेज करता है।२४।

भावार्थ—जैसे सूर्य अग्नि आदि प्रकाश करके सब पदार्थों को दिखाता और अन्धकार मिटाता है, वैसे ही प्रतापी राजा अपनी प्रधानता से प्रजा का पालन शत्रुओं का नाश करता है ॥ २४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५। २। ९।

ये ते॒ शृङ्गे॑ अ॒जरे॑ जातवेदस्ति॒ग्महे॑ती॒ ब्रह्म॑संशिते।
ताभ्यां॑ दु॒र्हार्द॑मभि॒दास॑न्तं किमी॒दिनं॑ प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑
जातवेदो॒ वि नि॑क्ष्व ॥ २५ ॥

ये इति॑। ते॒। शृङ्गे॒ इति॑। अ॒जरे॒ इति॑। जात॒-वे॒दः॒। ति॒ग्म-हे॑ती॒ इति॑ ति॒ग्म-हे॑ती। ब्रह्म॑संशिते॒ इति॒ ब्रह्म॑-संशिते ॥ ताभ्या॑म्। दुः॒-हार्द॑म्। अ॒भि॒-दास॑न्तम्। कि॒मी॒दिन॑म्। प्र॒त्य॒ञ्च॑म्। अ॒र्चिषा॑। जात॒-वे॒दः॒। वि। नि॒क्ष्व॒ ॥ २५ ॥

१०८। आङ्+अव रक्षणादिषु-इसि। प्राकट्ये (विश्वानि) सर्वाणि वस्तूनि (कृणुते) करोति (महित्वा) महिम्ना (प्र) प्रकर्षेण (अदेवीः) अशुद्धाः (मायाः) बुद्धीः (सहते) अभिभवति। जयति (दुरेवाः) अ० ७। ५०। ७। दुर्गतियुक्ताः (शिशीते) तेजते (शृङ्गे) शृणातेर्ह्रस्वश्च। उ० १। १२६। शॄ हिंसायाम्—गन्, स च कित्, नुट् च। शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा—निरु० २। ७। शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च—इत्यमरः २३। २६। द्विप्रकारे प्राधान्ये प्रजापालनं शत्रुनाशनं च (रक्षोभ्यः) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। वा० पा० २। ३। ६२। रक्षसाम्। दुष्टानाम् (विनिक्ष्वे) भृमृशीङ्०। १। ७। णिक्ष चुम्बने, विपूर्वको नाशने-उप्रत्ययः, यणादेशः। विनिक्ष्वे। विनाशाय ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे बड़े ज्ञान वाले राजन्! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अजर [अनश्वर] (शृङ्गे) दो प्रधान सामर्थ्य [प्रजापालन और शत्रुनाशन] (तिग्महेती) तेज हथियारों वाले, (ब्रह्मसंशिते) वेद से तीक्ष्ण किये गये हैं। (ताभ्याम्) उन दोनों से (दुर्हार्दम्) दुष्ट हृदय वाले, (अभिदासन्तम्) अति दुःख देने वाले, (प्रत्यञ्चम्) प्रतिकूल चलने वाले, (किमीदिनम्) [अब क्या हो रहा है, यह क्या हो रहा है, ऐसे] खोजी शत्रु को (अर्चिषा) अपने तेज से, (जातवेदः) हे बड़े धन वाले! (वि निक्ष्व) तू नाश कर दे ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो वेदानुगामी राजा अपनी राज्यशक्ति को प्रजापालन और शत्रुनाशन में लगाता है, वह कीर्तिमान् होता है ॥ २५ ॥

अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।
शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥ (८)

अ॒ग्निः । रक्षां॑सि । से॒धति । शु॒क्र-शो॑चिः अम॑र्त्यः ॥
शुचिः । पा॒व॒कः । ईड्यः॑ ॥ २६ ॥ (८)

भावार्थ—(शुक्रशोचिः) शुद्धतेज वाला, (अमर्त्यः) अमर, (शुचिः) पवित्र, (पावकः) शुद्ध करने वाला, (ईड्यः) स्तुति योग्य वा खोजने योग्य (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी सेनापति] (रक्षांसि) दुष्टों को (सेधति) शासन में रखता है ॥ २६ ॥

२५—(ये) (ते) तव (शृङ्गे) म० २४। द्वे प्राधान्ये प्रजापालनं शात्रुनाशनं च (अजरे) अजीर्णे। अनश्वरे (जातवेदः) हे प्रभूतधन (तिग्महेती) सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०। पा० ७। १। ३६। पूर्वसवर्णदीर्घः। तिग्महेतिनी। तीक्ष्णायुधे (ब्रह्मसंशिते) वेदद्वारा तीक्ष्णीकृते (ताभ्याम्) प्राधान्याभ्याम् (दुर्हार्दम्) अ० २। ७।५। दुष्टहृदयम् (अभिदासन्तम्) सर्वतो हिंसन्तम् (किमीदिनम्) अ० १। ७। १। पिशुनं शत्रुम् (प्रत्यञ्चम्) प्रतिकुलगन्तारम् (अर्चिषा) तेजसा (जातवेदः) हे बहुधन (वि निक्ष्व)—म० २४। विनाशय ॥

२६—(अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी सेनाधीशः (रक्षांसि) दुष्टान् (सेधति) षिधू शासने। शास्ति (शुक्रशोचिः) शुद्धतेजाः (अमर्त्यः) अमरणधर्मा। महापुरुषार्थी (शुचिः) पवित्रः (पावकः) संशोधकः (ईड्यः) स्तुत्यः। अन्वेषणीयः ॥

भावार्थ—प्रतापी, अमर अर्थात् शूर वीर पराक्रमी शुद्धाचरणी राजा दुष्टों को जीतकर कीर्ति पावे ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७। १५। १० ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२५ ॥ १-७, १५, २५ इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ; ८, १६, १९-२२, २४ इन्द्रः; ९, १२, १३ सोमः; १०, १४ अग्निः; ११ देवाः; १७ ग्रावाणः; १८ मरुतः; २३ पृथिव्यन्तरिक्षे देवते ॥ १—३, ५, ६, १८, २१ जगती; ४ विराड्जगती; ७ निचृज्जगती; ८, १२, २४ निचृत् त्रिष्टुप्; ९, ११, १३, १४, १६, १७, १९, २२ त्रिष्टुप्; १० विराट् त्रिष्टुप्; १५, स्वराट् त्रिष्टुप्; २०, २३ भुरिक् त्रिष्टुप्; २५ पादनिचृदनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑ ।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १

इन्द्रा॑सोमा । तप॑तम् । रक्षः॑ । उ॒ब्जत॑म् । नि । अ॒र्प॒यत॑म् । वृ॒ष॒णा॒ । त॒मः॒-वृधः॑ ॥ परा॑ । शृ॒णी॒त॒म् । अ॒चितः॑ । नि । ओ॒ष॒त॒म् । ह॒तम् । नु॒देथा॑म् । नि । शि॒शी॒त॒म् । अ॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] तुम दोनों (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) तपाओ, (उब्जतम्) दबाओ, (वृषणा) हे बलिष्ठ ! तुम दोनों (तमोवृधः) अन्धकार बढ़ाने वालों को (नि अर्पयतम्) नीचे डालो। (अचितः) अचेतों [मूर्खों] को (परा शृणीतम्) कुचल डालो, (नि ओषतम्) जला दो, (अत्त्रिणः) खाऊ जनों को

१—(इन्द्रासोमा) देवता द्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इत्यानङ्। इन्द्रः सूर्यश्च सोमश्चन्द्रश्चतौ। तादृशौ राजमन्त्रिणौ (तपतम्) तापयतम् (रक्षः) जातावेकवचनम्। रक्षांसि (उब्जतम्) उब्ज आर्जवे हिंसने च। हिंस्तम् (नि अर्पयतम्) ऋ गतौ, णिचि, पुगागमः। नीचैः प्रापयतम् (वृषणा) वृषणौ। बलिष्ठौ (तमोवृधः) अन्धकारवर्धकान् (परा शृणीतम्) विमर्दयतम्

(हतम्) मारो, (नुदेथाम्) ढकेलो, (नि शिशीतम्) छील डालो [दुर्बल कर दो] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री उपद्रवियों को कठिन दण्ड देते रहें ॥ १ ॥

यह सूक्त म० १—२५। कुछ भेद से ऋग्वेद में है। ७। १०४। १-२५ ॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा। सम्। अघ-शंसम्। अभि। अघम्। तपुः। ययस्तु। चरुः। अग्नि मान्-इव ॥ ब्रह्म-द्विषे। क्रव्य-अदे। घोर-चक्षसे। द्वेषः। धत्तम्। अनवायम्। किमीदिने ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] (अघशंसम् अभि) बुरा चीतने वाले को (तपुः) तपन करने वाला (अघम्) दुःख (सम् ययस्तु) क्लेश देता रहे, (इव) जैसे (अग्निमान्) अग्निवाला (चरुः) चरु [पात्र] क्लेश देता है]। (ब्रह्मद्विषे) वेद के द्वेषी, (क्रव्यादे) मांस खाने वाले, (किमीदिने) लुतरे के लिये (अनवायम्) निरन्तर (द्वेषः) द्वेष (धत्तम्) तुम दोनों धारण करो ॥ २ ॥

(अचितः) अचित्तान्। मूढान् (नि ओषतम्) नितरां दहतम् (हतम्) मारयतम् (नुदेथाम्) प्रेरयेथाम् (नि शिशीतम्) शोऽतनूकरणे। नितरां तनूकुरुतम्। निर्बलान् कुरुतम् (अत्त्रिणः) अ०१।७।३। अदनशीलान्। भक्षकान् ॥

२—(इन्द्रासोमा) म० १। (सम्) सम्यक् (अघशंसम्) अ० ४। २१।७। अनिष्टं चिन्तकम् (अभि) प्रति (अघम्) दुःखम् (तपुः) अर्तिपृवपि०। उ० २। ११७। तप दाहे—उसि। तापकम् (ययस्तु) यसु प्रयत्ने। आयासयुक्तं क्लेशप्रदं भवतु (चरुः) पात्रम् (अग्निमान्) अग्नियुक्तः (इव) यथा (ब्रह्मद्विषे) वेदद्वेष्ट्रे (क्रव्यादे) मांसभक्षकाय (घोरचक्षसे) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—असुन्। क्रूररूपाय। परुषवचनाय (द्वेषः) अप्रीतिम् (धत्तम्) धारयतम् (अनवायम्) अन + अव परिभवे + इण गतौ—अच्।

भावार्थ—राजा और मन्त्री घोर पापियों को निरन्तर दण्ड देकर प्रजापालन करें ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्। यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा। दुः-कृतः। वव्रे। अन्तः। अनारम्भणे। तमसि। प्र। विध्यतम् ॥ यतः। न। एषाम्। पुनः। एकः। चन। उत्-अयत्। तत्। वाम्। अस्तु। सहसे। मन्यु-मत्। शवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] तुम दोनों (दुष्कृतः) दुष्कर्मियों को (वव्रे अन्तः) [ढकने वाले] गढ़े के बीच (अनारम्भणे) अथाह (तमसि) अन्धकार में (प्र विध्यतम्) छेद डालो। (यतः) जिस [गढ़े] से (एषाम्) उनमें से (पुनः) फिर (एकः चन) कोई भी (न) न (उदयत्) ऊपर आवे, (तत्) सो (वाम्) तुम दोनों का (मन्युमत्) क्रोधभरा (शवः) बल [उनके] (सहसे) हराने के लिये (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रयत्नशाली राजा और मन्त्री सब अत्याचारियों को घेर कर नाश कर दें ॥ ३ ॥

अव्यवहितम्। निरन्तरम् (क्रिमीदिने) अ० १।७।१। पिशुनाय ॥

३—(इन्द्रासोमा) म० १। तेजस्विनौ राजमन्त्रिणौ (दुष्कृतः) दुष्कर्मिणः पुरुषान् (वव्रे) घञर्थे कविधानम्। वा० पा० ३।२।५८। वृञ् संवरणे-क। कृञादीनां के द्वे भवतः। वा पा० ३।२।५८। आवरके स्थाने। कूपे—निघ० ३।२३। (अन्तः) मध्ये (अनारम्भणे) रभि औत्सुक्ये—ल्युट्। अनारम्भ्यमाणे। अगम्यमाने (प्र) प्रकर्षेण (विध्यतम्) ताडयतम् (यतः) यस्मात् स्थानात् (न) निषेधे (एषाम्) उपद्रविणाम् (पुनः) (एकश्चन) एकोऽपि (उदयत्) इण् गतौ—लेट्, अडागमः उद्गच्छेत् (तत्) तस्मात्कारणात् (वाम्) युवयोः (अस्तु) (सहसे) अभिभवाय (मन्युमत्) क्रोधयुक्तम् (शवः) अ० ५।२।२। बलम् ॥

म० ४, ५ आयुधनिर्माणोपदेशः—म० ४, ५ हथियार बनाने का उपदेश ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्। उत् तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । वधम् । सम् । पृथिव्याः । अघ-शंसाय । तर्हणम् ॥ उत् । तक्षतम् । स्वर्यम् । पर्वतेभ्यः । येन । रक्षः । वावृधानम् । नि-जूर्वथः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] तुम दोनों (दिवः) आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (वधम्) मारू हथियार (सम् वर्तयतम्) लुढ़काओ, [जिससे] (अघशंसाय) बुरा चीतने वाले के लिये (तर्हणम्) मरण [होवे]। (स्वर्यम्) धड़ाके वाला वा तपा देने वाला [हथियार] (पर्वतेभ्यः) पहाड़ों से (उत् तक्षतम्) ढलवाओ, (येन) जिस से (वावृधानम्) बढ़ते हुये (रक्षः) राक्षस को (निजूर्वथः) तुम दोनों मार गिराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री ऐसे ऐसे हथियार बनवायें जिनके द्वारा शत्रुओं को आकाश, भूमि, पहाड़ों और गढ़ की भीतों आदि से मार सकें ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः। तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥

४—(इन्द्रासोमा) म० १। (वर्तयतम्) वर्तनेन प्रेरयतम् (दिवः) आकाशात् (वधम्) हननसाधनमायुधम् (सम्) सम्यक् (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (अघशंसाय) अनिष्टचिन्तकाय (तर्हणम्) तृह हिंसायाम्—ल्युट्। मरणम् (उत्) उत्कर्षेण (तक्षतम्) तनूकुरुतम् (स्वर्यम्) अ० २।५।६। स्वृ शब्दोपतापयोः। शब्दकारकं प्रतापकं वायुधम् (पर्वतेभ्यः) शैलेभ्यः। दुर्गशिखरेभ्यः (येन) वधेन (रक्षः) राक्षसजातिम् (वावृधानम्) वर्धमानम् (निजूर्वथः) जुर्वी हिंसायाम्। निहथः ॥

इन्द्रासोमा। वर्तयतम्। दिवः। परि। अग्नि-तप्तेभिः। युवम्। अश्महन्म-भिः॥ तपुः-वधेभिः। अजरेभिः। अत्त्रिणः। नि। पर्शाने। विध्यतम्। यन्तु। नि-स्वरम्॥ ५॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री!] (युवम्) तुम दोनों (दिवः) आकाश से (अग्नितप्तेभिः) अग्नि से तपाये हुये, (अश्महन्मभिः) मेघ के समान चलने वाले [अथवा फैलने वाले पदार्थों पत्थर, लोहे आदि से मार करने वाले] (अजरेभिः) अजर [अटूट] (तपुर्वधेभिः) तपा देने वाले हथियारों से (अत्त्रिणः) खाऊ लोगों को (परि वर्तयतम्) लुढ़कवा दो, (पर्शाने) गढ़े के बीच (नि विध्यतम्) छेद डालो, वे लोग (निस्वरम्) चुप्पी (यन्तु) प्राप्त करें॥ ५॥

भावार्थ—सेनापति लोग वायुयानों में चढ़ कर आकाश से आग्नेय हथियारों द्वारा शत्रुओं को मार गिरावें॥ ५॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना। यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम्॥ ६॥

इन्द्रासोमा। परि। वाम्। भूतु। विश्वतः। इयम्। मतिः।

५—(इन्द्रासोमा) म० १। (परिवर्तयतम्) वर्तनेन प्रेरयतम् (दिवः) आकाशात् (अग्नितप्तेभिः) अग्निना संतप्तैः (युवम्) युवाम् (अश्महन्मभिः) अशिशकिभ्यां छन्दसि। उ० ४। १४७। अशू व्याप्तौ संघाते च—मनिन्। अश्मा मेघः—निघ० १। १०। हन हिंसागत्योः—मनिन्। मेघवद् गमनशीलैः। यद्वा व्यापनशीलैः पदार्थैः पाषाणलोहादिभिर्मारयद्भिः (तपुर्वधेभिः) तापकैरायुधैः (अजरेभिः) अजीर्णैः। दृढैः (नि) नितराम् (पर्शाने) सम्यानच् स्तुवः। उ० २। ८९। स्पृश स्पर्शने—आनच्। यद्वा, पर+शॄ हिंसायाम्—आनच्, स च डित्। पृषोदरादिरूपम्। पर्शानो मेघः—टिप्पणी, निघ० १। १०। गुहायाम्। गर्ते (विध्यतम्) ताडयतम् (यन्तु) प्राप्नुवन्तु ते शत्रवः (निस्वरम्) शब्दराहित्यम्॥

कुक्ष्यां । अश्वा-इव । वाजिना ॥ याम् । वाम् । होत्राम् । परि-हिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि । नृपती इवेति नृपती-इव । जिन्वतम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री ।] (इयम्) यह (मतिः) मति [बुद्धि] (वाम्) तुम दोनों को (विश्वतः) सब ओर से (परि भूतु) सर्वथा व्यापे, (इव) जैसे (कक्ष्या) पेटी (वाजिना) बलवान् (अश्वा) घोड़े को । (याम्) जिस (होत्राम्) वाणी को (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) बुद्धि के साथ (परि हिनोमि) मैं सन्मुख करता हूं, (नृपती इव) दो नरपतियों के समान तुम दोनों (इमा) इन (ब्रह्माणि) ब्रह्म ज्ञानों से (जिन्वतम्) तृप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री वेदोक्त उत्तम शिक्षाओं को ग्रहण करके धर्म कर्म में प्रवृत्त रहें ॥ ६ ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥

प्रति । स्मरेथाम् । तुजयत्-भिः । एवैः । हतम् । द्रुहः । रक्षसः । भङ्गुर-वतः ॥ इन्द्रासोमा । दुः-कृते । मा । सु-गम् । भूत् । यः । मा । कदा । चित् । अभि-दासति । द्रुहुः ॥ ७ ॥

६—(इन्द्रासोमा) म० १ । (परि) सर्वथा (वाम्) युवाम् (भूतु) भवतु । व्याप्नोतु (विश्वतः) सर्वतः (इयम्) (मतिः) बुद्धिः (कक्ष्या) कक्षसम्बन्धिनी रज्जुः (अश्वा) सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छे० । पा० ७ । १ । ३९ । द्वितीयाया आकारः । अश्वम् (इव) यथा (वाजिना) विभक्तेराकारः । वाजिनम् । बलवन्तम् (याम्) (वाम्) युवाभ्याम् (होत्राम्) वाणीम्—निघ० १ । ११ । (परिहिनोमि) हि गतिवृद्ध्योः । प्रेरयामि । सम्मुखयामि (मेधया) प्रज्ञया (इमा) इमानि (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (नृपती) राजानौ (इव) (जिन्वतम्) प्रीणयतम् । तर्पयतम् ॥

भाषार्थ—(तुजयद्भिः) बलवान् (पवैः) शीघ्रगामी [पुरुषों] के साथ (प्रति स्मरेथाम्) तुम दोनों स्मरण करते रहो, (द्रुहः) द्रोही, (भङ्गुरवतः) नाश कर्म वाले (रक्षसः) राक्षसों को (हतम्) मारो। (इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] [उत] (दुष्कृते) दुष्कर्मी के लिये (सुगम्) सुगति (मा भूत्) न होवे, (यः) जो (द्रुहुः) द्रोही मनुष्य (मा) मुझे (कदा चित्) कभी भी (अभिदासति) सतावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री बलवान् शीघ्रगामी सैनिकों से शत्रुओं को मार कर प्रजा की रक्षा करें ॥ ७ ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः। आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ ८ ॥

यः। मा। पाकेन। मनसा। चरन्तम्। अभि-चष्टे। अनृतेभिः। वचः-भिः॥ आपः-इव। काशिना। सम्-गृभीताः। असन्। अस्तु। असतः। इन्द्र। वक्ता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [दुराचारी] (पाकेन) परिपक्क [दृढ़] (मनसा) मन से (चरन्तम्) विचरते हुये (मा) मुझको (अनृतेभिः) असत्य (वचोभिः)

७—(प्रति) व्याप्तौ (स्मरेथाम्) स्मरतम् (तुजयद्भिः) तुज हिंसायाम्—शतृ, गुणाभावः। तोजयद्भिः। बलवद्भिः (पवैः) इणशीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इण् गतौ—वन्। गन्तृभिः। शीघ्रगामिभिः पुरुषैः (हतम्) मारयतम् (द्रुहः) द्रोहिणः (रक्षसः) पुंल्लिङ्गः। राक्षसान् (भङ्गुरवतः) नाशकर्मयुक्तान् (इन्द्रासोमा) तेजस्विनौ राजमन्त्रिणौ (दुष्कृते) दुष्टकारिणे (सुगम्) गम्लृ—ड। सुगमम्। सुखम्। सुगतिः (मा भूत्) मा भवतु (यः) (मा) माम् (कदाचित्) कदापि (अभिदासति) सर्वतो हिनस्ति (द्रुहुः) पृभिदिव्यधि०। उ० १। २३। द्रुह अनिष्टचिन्तने—कु। द्रोग्धा ॥

८—(यः) दुराचारी (मा) माम् (पाकेन) परिपक्केन (मनसा) अन्तःकरणेन (चरन्तम्) प्रवर्तमानम् (अभिचष्टे) आक्रोशति (अनृतेभिः) असत्यैः

वचनों से (अभिचष्टे) झिड़कता है। (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन्! (काशिना) मुट्ठी में (संगृभीताः) लिये हुये (आपः इव) जल के समान, [वह] (असतः) असत्य का (वक्ता) बोलने वाला (असन्) अविद्यमान (अस्तु) हो जावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा मिथ्यावादी लोगों को इस प्रकार नष्ट कर देवे, जैसे मुट्ठी में बांधा हुआ जल वा वायु बिखर जाता है ॥ ८ ॥

ये पा॒कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑ । अह॑ये॒ वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥ ९ ॥

ये । पा॒क॒-शं॒स॒म् । वि॒-हर॑न्ते । एवैः॑ । ये । वा॒ । भ॒द्रम् । दू॒षय॑न्ति । स्व॒धाभिः॑ ॥ अह॑ये । वा॒ । तान् । प्र॒-द॒दा॑तु । सोमः॑ । आ । वा॒ । द॒धा॒तु॒ । निः॒-ऋ॑तेः । उ॒प-स्थे॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [दुष्ट] (एवैः) शीघ्रगामी [पुरुषार्थी] पुरुषों के साथ [वर्तमान] (पाकशंसम्) दृढ़ स्तुतिवाले पुरुष को (विहरन्ते) विशेष करके नष्ट करते हैं, (वा) अथवा (स्वधाभिः) आत्मधारणाओं के साथ [रहने वाले] (भद्रम्) कल्याण को (दूषयन्ति) दूषित करते हैं। (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (वा) अवश्य (तान्) उन्हें (अहये) सर्प [समान क्रूर

(वचोभिः) वचनैः (आपः) व्यापकानि जलानि (इव) यथा (काशिना) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। काशृ दीप्तौ—इन्। काशिर्मुष्टिः प्रकाशनात्—निरु० ६। १। मुष्टिना (संगृभीताः) संगृहीताः (असन्) अस—सत्तायाम्—शतृ। अविद्यमानः (अस्तु) (असतः) असत्यस्य (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (वक्ता) वाचकः ॥

९—(ये) दुष्टाः (पाकशंसम्) शंसु स्तुतौ दुर्गतौ च—अप्रत्ययः, टाप् दृढप्रशंसायुक्तम् (विहरन्ते) विशेषेण बाधन्ते (एवैः) म० ७। गन्तृभिः पुरुषार्थिभिः सह (ये) (वा) अथ वा (भद्रम्) कल्याणम् (दूषयन्ति) खण्डयन्ति (स्वधाभिः) अ० २। २९। ७। आत्मधारणाभिः (अहये) सर्पवत् क्रूराय। वधकाय (वा) अवश्यम् (तान्) दुष्टान् (प्र ददातु) समर्पयतु (सोमः)

पुरुष] को (प्र ददातु) दे देवे, (वा) अथवा (निर्ऋतेः) अलक्ष्मी की (उपस्थे) गोद में (आ दधातु) रख देवे ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो कोई पाखण्डी उपकारी सज्जनों के कामों में बाधा डालें, राजा उनको बधक आदि से मरवा डाले अथवा निर्धन कर देवे ॥ ९ ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्। रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥ (९)

यः । नः । रसम् । दिप्सति । पित्वः । अग्ने । अश्वानाम् । गवाम् । यः । तनूनाम् ॥ रिपुः । स्तेनः । स्तेय-कृत् । दभ्रम् । एतु । नि । सः । हीयताम् । तन्वा । तना । च ॥ १० ॥ (९)

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यः) जो [दुष्ट] (नः) हमारे (पित्वः) रक्षा साधन अन्न आदि के और (यः) जो (अश्वानाम्) घोड़ों के और (गवाम्) गौओं के (तनूनाम्) शरीरों के (रसम्) रस [तत्त्व] को (दिप्सति) मिटाना चाहे। (स्तेनः) वह तस्कर, (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (रिपुः) शत्रु (दभ्रम्) कष्ट को (एतु) प्राप्त हो

ऐश्वर्यवान् प्रेरको वा राजा (आ) समन्तात् (दधातु) स्थापयतु (निर्ऋतेः) अ० २। १०। १। कृच्छ्रापत्तेः। अलक्ष्म्याः (उपस्थे) उत्सङ्गे ॥

१०—(यः) (नः) अस्माकम् (रसम्) सारम् (दिप्सति) अ० ४। ३६। १। दम्भितुं हिंसितुमिच्छति (पित्वः) अ० ४। ६। ३। पा रक्षणे—तु, यणादेशः। पितोः। रक्षासाधनस्यान्नादेः (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (अश्वानाम्) (गवाम्) (यः) (तनूनाम्) शरीराणाम् (रिपुः) रपेरिच्चोपधायाः। उ० १। २६। रप व्यक्तायां वाचि—कु, यद्वा रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु—कु, फस्य पः। शत्रुः (स्तेनः) चोरः (स्तेयकृत्) मोषकर्ता (दभ्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ०। २। १३। दभि हिंसायाम्—रक्। हिंसाम् (एतु) प्राप्नोतु (नि) निश्चयेन (सः) (हीयताम्) हीनो भवतु (तन्वा) शरीरेण (तना) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो०। पा० ३। १। १३४। तनु विस्तारे—अच। सुपां

और (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से (च) और (नात) धन से (नि) सर्वथा (हीयताम्) हीन हो जावे ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की सम्पति हरने वाले डाकू चोर आदिकों को दण्ड देकर स्वाधीन रक्खे ॥ १० ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः । प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥

परः । सः । अस्तु । तन्वा । तना । च । तिस्रः । पृथिवीः । अधः । अस्तु । विश्वाः ॥ प्रति । शुष्यतु । यशः । अस्य । देवाः । यः । मा । दिवा । दिप्सति । यः । च । नक्तम् ॥११॥

भाषार्थ—(सः) वह [दुष्ट] (तन्वा) अपने शरीर से (च) और (तना) धन से (परः) परे (अस्तु) हो जावे और (विश्वाः) सब (तिस्रः) तीनों (पृथिवीः अधः) भूमियों [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं] से नीचे नीचे (अस्तु) हो जावे। (देवाः) हे विद्वानो ! (अस्य) उसका (यशः) यश (प्रति शुष्यतु) सूख जावे, (यः) जो (मा) मुझे (दिवा) दिन में (च) और (यः) जो (नक्तम्) रात्रि में (दिप्सति) सताना चाहे ॥ ११

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा को दिन वा रात्रि में सतावे उसको विद्वान् लोग सब प्रकार दण्ड देवें ॥ ११ ॥

सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः । तनेन धनेन—निघ० २ । १० (च) ॥

११—(परः) परस्तात् । दूरे (सः) शत्रुः (अस्तु) (तन्वा) (तना) म० १० । धनेन (च) (तिस्रः) त्रिप्रकाराः (पृथिवीः) भूमीः । शारीरिकात्मिकसामाजिकव्यवस्थाः (अधः) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते । वा० पा० २ । ३ । २ । इत्यधसो योगे द्वितीया । अधोऽधः (अस्तु) (विश्वाः) व्याप्ताः सर्वाः (प्रति) प्रातिकूल्ये (शुष्यतु) शुष्कं भवतु (यशः) कीर्त्तिः (अस्य) पापिनः (देवाः) हे विद्वांसः । शूराः (यः) (मा) माम् । धार्मिकम् (दिवा) अहनि (दिप्सति म० १० । हिंसितुमिच्छति (यः) (च) (नक्तम्) रात्रौ ॥

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासंच्च वचसी पस्पृधाते । तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२

सु-विज्ञानम् । चिकितुषे । जनाय । सत् । च । असत् । च । वचसी इति । पस्पृधाते इति ॥ तयोः । यत् । सत्यम् । यतरत् । ऋजीयः । तत् । इत् । सोमः । अवति । हन्ति । असत् ॥१२॥

भाषार्थ—(चिकितुषे) ज्ञानी (जनाय) पुरुष के लिये (सुविज्ञानम्) सुगम विज्ञान है, [कि] (सत्) सत्य (च च) और (असत्) असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) दोनों परस्पर विरोधी होते हैं। (तयोः) उन दोनों में से (यत्) जो (सत्यम्) सत्य और (यतरत्) जो कुछ (ऋजीयः) अधिक सीधा है, (तत्) उसको (इत्) ही (सोमः) सर्वप्रेरक राजा (अवति) मानता है और (असत्) असत्य को (हन्ति) नष्ट करता है ॥ १२॥

भावार्थ—विवेकी मर्मज्ञ राजा सत्य और असत्य का निर्णय करके सत्य को मानता और असत्य को छोड़ता है ॥ १२ ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् । हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

१२—(सुविज्ञानम्) विज्ञातुं सुशकं भवति (चिकितुषे) अ० ४ । ३० । २। विदुषे (जनाय) मनुष्याय (सत्) सत्यम् (च च) (असत्) असत्यम् (वचसी) वचने (पस्पृधाते) स्पर्ध संघर्षे—लटि शपः श्लुः, छान्दसं रूपम् । स्पर्धेते । परस्परं विरोधयतः (तयोः) सदसतोर्मध्ये (यत्) (सत्यम्) यथार्थम् (यतरत्) यत् किंचित् (ऋजीयः) ऋजु-ईयसुन् । सरलतरम् (तत्) (इत्) एव (सोमः) सर्वप्रेरको राजा (अवति) गृह्णाति (हन्ति) नाशयति (असत्) असत्यम् (हन्त्यासत्) छान्दसो दीर्घः ॥

न । वै । ऊं इति । सोमः । वृजिनम् । हिनोति । न । क्षत्रियम् । मिथुया । धारयन्तम् ॥ हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्तम् । उभौ । इन्द्रस्य । प्र-सितौ । शयाते इति १३

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (वृजिनम्) पापी को (न वै उ) न कभी भी (हिनोति) बढ़ाता है, और (न) न (मिथुया) [प्रजा की] हिंसा (धारयन्तम्) धारण करनेवाले (क्षत्रियम्) क्षत्रिय [बलवान्] को। वह (रक्षः) राक्षस को (हन्ति) मारता है, और (असत्) झूंठ (वदन्तम्) बोलनेवाले को (हन्ति) मारता है, (उभौ) वे दोनों (इन्द्रस्य) राजा की (प्रसितौ) बेड़ी में (शयाते) सोते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का अपमान करके कारागार में रक्खे और नाश करे ॥ १३ ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने। किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि । वा । अहम् । अनृत-देवः । अस्मि । मोघम् । वा । देवान् । अपि-ऊहे । अग्ने ॥ किम् । अस्मभ्यम् । जात-वेदः । हृणीषे । द्रोघ-वाचः । ते । निः-ऋथम् । सचन्ताम् ।१४।

भाषार्थ—(यदि वा) क्या (अहम्) मैं (अनृतदेवः) झूंठे व्यवहार

१३—(न) निषेधे (वै) अवधारणे (उ) निश्चये (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (वृजिनम्) अ० १ । १० । ३ । पापिनम् (हिनोति) वर्धयति (न) (क्षत्रियम्) क्षत्रं बलम् तद्वन्तम् । बलिनम् (मिथुया) अ० ४ । २९ । ७ । मिथु—विभक्त्योर्याच्—पा ७ । १ ३९ । मिथु प्रजाहिंसनम् (धारयन्तम्) आचरन्तम् (हन्ति) (रक्षः) राक्षसम् (असत्) अनृतम् (वदन्तम्) कथयन्तम् (उभौ) (इन्द्रस्य) राज्ञः (प्रसितौ) अ० ८ । ३ । ११ । शृङ्खलायाम् (शयाते) वर्तेते ॥

१४—(यदि वा) प्रश्ने (अहम्) सत्यवादी (अनृतदेवः) असत्यव्यवहारी

वाला (अस्मि) हूं, (वा) अथवा, (अग्ने) हे विज्ञानी राजन्! (देवान्) स्तुति योग्य पुरुषों को (मोघम्) व्यर्थ (अप्यूहे) निन्दित जानता हूं। (जातवेदः) हे बड़े ज्ञानवाले राजन्! तू (किम्) किस लिये (अस्मभ्यम्) हम पर (हृणीषे) क्रोध करता है, (द्रोघवाचः) अनिष्ट बोलने वाले पुरुष (ते) तेरे (निर्ऋथम्) क्लेश को (सचन्ताम्) भोगें ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा सत्यवादी और असत्यवादियों का निर्णय करके यथोचित व्यवहार करे ॥ १४ ॥

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य । अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥

अद्य । मुरीय । यदि । यातु-धानः । अस्मि । यदि । वा । आयुः । ततप । पुरुषस्य ॥ अध । सः । वीरैः । दश-भिः । वि । यूयाः । यः । मा । मोघम् । यातु-धान । इति । आह ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (मुरीय) मैं मर जाऊं, (यदि) जो मैं (यातुधानः) पीड़ा देनेवाला (अस्मि) हूं, (यदि वा) अथवा (पुरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) मैं ने सताया है। (अध) सो (सः) वह तू (दशभिः) दश (वीरैः) वीरों से (वि यूयाः) अलग हो जा,

(अस्मि) (मोघम्) व्यर्थम् (वा) अथवा (देवान्) स्तुत्यान् पुरुषान् (अप्यूहे) अपि निन्दायाम्+ऊह वितर्के—लट्। निन्दितान् विचारयामि (किम्) कथम् (अस्मभ्यम्) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः। पा० १।४।३७। इति चतुर्थी। अस्मान् प्रति (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (हृणीषे) क्रुध्यसि (द्रोघवाचः) अनिष्टवादिनः (ते) तव (निर्ऋथम्) अ० ६।६३।१। क्लेशम् (सचन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

१५—(अद्य) वर्तमाने दिने (मुरीय) मृङ् प्राणत्यागे—विधि लिङ्। बहुलं छन्दसि। पा० २।४।७३। तुदादेरदादित्वम्। बहुलं छन्दसि। पा० ७।१।१०३। ऋकारस्य उकारः। अहं म्रियेय (यदि) (यातुधानः) पीडाप्रदः (अस्मि) (यदि वा) (आयुः) जीवनम् (ततप) अहं सन्तापितवान्

(यः) जो आप (मा) मुझ से (मोघम्) व्यर्थ (इति) यह (आह) कहे (यातुधान) "तू दुःखदायी है" ॥ १५ ॥

भावार्थ—सत्पुरुषों के दुःखदायी होने से मनुष्य का मर जाना अच्छा है, और मिथ्या अपवादियों का भी नाश होना चाहिये ॥ १५ ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट १६

यः । मा । अयातुम् । यातु-धान । इति । आह । यः । वा । रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ॥ इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः । पदीष्ट ॥१६॥

भाषार्थ—(यः) जो (मा अयातुम्) मुझ अदुःखदायी को (इति) यह (आह) कहे, (यातुधान) "तू दुःखदायी है," (वा) अथवा (यः) जो (रक्षाः) राक्षस होकर (इति) यह (आह) कहे, (शुचिः अस्मि) "मैं पवित्र हूं"। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (तम्) उस को (महता) विशाल (वधेन) मारू हथियार से (हन्तु) मारे और वह (विश्वस्य) प्रत्येक (जन्तोः) जीव के (अधमः) नीचे होकर (पदीष्ट) चले ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो छली पुरुष धर्मात्माओं को अधर्मी बतावे और आप अधर्मी होकर धर्मात्मा बने, ऐसे पाखण्डियों को राजा सर्वथा दण्ड देवे ॥ १६ ॥

(पुरुषस्य) मनुष्यस्य (अद्य) अथ (सः) स त्वम् (वीरैः) शूरैः (दशभिः) (वियूयाः) वियुक्तो भवेः (यः) यो भवान् (मा) माम् (मोघम्) व्यर्थम् (यातुधान) त्वं यातुधानोऽसि (इति) अनेन प्रकारेण (आह) ब्रूते ॥

१६—(यः) दुराचारी (मा) माम् (अयातुम्) कृवापा० । उ० १ । १ । यत ताडने—उण् । अपीडकम् (यातुधान) हे यातनाप्रद (इति) एवम् (आह) ब्रूते (यः) (वा) (रक्षाः) पु० लि० । राक्षसाः (शुचिः) पवित्रः (इति) (आह) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (तम्) (हन्तु) मारयतु (महता) अतिप्रभाववता (वधेन) मारकेणायुधेन (विश्वस्य) सर्वस्य । प्रत्येकस्य (जन्तोः) जीवस्य (अधमः) निकृष्टः (पदीष्ट) अ० ७ । ३१ । १ । पत्सीष्ट । गम्यात् ॥

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमपं द्रुहुस्तन्वं १ गूहमाना। वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षसं उपब्दैः॥१७

प्र। या जिगाति। खर्गला-इव। नक्तम्। अप। द्रुहुः। तन्वम्। गूहमाना॥ वव्रम्। अनन्तम्। अव। सा। पदीष्ट। ग्रावाणः। घ्नन्तु। रक्षसः। उपब्दैः॥ १७॥

भाषार्थ—(या) जो (द्रुहुः) बुरा चीतने वाली स्त्री (तन्वम्) शरीर [स्वरूप] को (अप गूहमाना) छिपाती हुई (खर्गला इव) खड्ग लिये हुये जैसे [अथवा व्यथा देने वाली उलूकी आदि के समान] (नक्तम्) रात्रि में (प्र जिगाति) निकलती है। (सा) वह (अनन्तम्) अथाह (वव्रम्) गढ़े को (अव) अधोमुख होकर (पदीष्ट) प्राप्त हो, (ग्रावाणः) सूक्ष्मदर्शी लोग (उपब्दैः) शब्दों के साथ (रक्षसः) राक्षसों को (घ्नन्तु) मारें॥ १७॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपराधी स्त्री पुरुषों को उनका दोष प्रकट करके दण्ड देवें॥ १७॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वीच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन। वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥ १८॥

१७—(प्र) प्रकर्षे। बहिर्भावे (या) (जिगाति) गाङ् गतौ। परस्मैपदत्वं जुहोत्यादित्वं च छान्दसम्, जिगाति गतिकर्मा—निघ० २। १४। गच्छति (खर्गला) खड्ग+ला आदाने-क, डस्य रः। खड्गं गृह्णाना। यद्वा पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा० ३। ३। ११८। खर्ज पूजने व्यथने च—घप्रत्ययः। चजोः कु घिण्ण्यतोः। पा० ७। ३। ५२। इति कुत्वम्+ला दाने-क। व्यथादात्री। उलूक्यादिः (इव) यथा (नक्तम्) रात्रौ (अपगूहमाना) संवृण्वती। अप्रकाशयन्ती (द्रुहुः) म० ७। द्रोग्ध्री (तन्वम्) शरीरम्। स्वरूपम् (वव्रम्) म० ३। कूपम् (अनन्तम्) अनवधिकम् (अव) अवेत्य। अधोमुखी भूत्वा (सा) दुष्टा (पदीष्ट) म० १६। गम्यात् (ग्रावाणः) अ० ३। १०। ५। गॄ विज्ञापे-कनिप्। सूक्ष्मदर्शिनः (घ्नन्तु) मारयन्तु (रक्षसः) राक्षसान् (उपब्दैः) अ० २। २४। ६। वाग्भिः—निघ० १। ११॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः । सम् । पिनष्टन ॥ वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्त-भिः । ये । वा । रिपः । दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुमारक वीरो ! (विक्षु) मनुष्यों के बीच (वि तिष्ठध्वम्) फैल जाओ, (रक्षसः) उन राक्षसों को (इच्छत) ढूंढ़ो, (गृभायत) पकड़ो, (सम् पिनष्टन) पीस डालो (ये) जो (वयः) पक्षी [समान] (भूत्वा) होकर (नक्तभिः) रातों में [विमान आदि से] (पतयन्ति) उड़ते हैं, (वा) अथवा (ये) जिन्होंने (देवे) दिव्य गुण युक्त (अध्वरे) हिंसा रहित व्यवहार [यज्ञ] में (रिपः) हिंसायें (दधिरे) धरी हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—शूरवीर पुरुष चोर उचक्के आदि शुभ कर्मों में विघ्न डालने वाले दुष्टों को छान बीन करके नष्ट करे ॥ १८ ॥

प्र वर्तय दिवो ऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३ऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

प्र । वर्तय । दिवः । अश्मानम् । इन्द्र । सोम-शितम् । मघ-वन् । सम् । शिशाधि ॥ प्राक्तः । अपाक्तः । अधरात् । उदक्तः । अभि । जहि । रक्षसः । पर्वतेन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले

१८—(वि) विविधम् (तिष्ठध्वम्) तिष्ठत (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शत्रुमारकाः शूराः (विक्षु) मनुष्येषु—निघ० २ । ३ (इच्छत) अन्विच्छत । अनुसंधत्त (गृभायत) अ० २ । ३० । ४ । गृह्णीत (रक्षसः) राक्षसान् (सम्) सम्यक् (पिनष्टन) चूर्णीकुरुत (वयः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः—इण्, स च डित् । पक्षिणो यथा (ये) राक्षसाः (भूत्वा) (पतयन्ति) उड्डीयन्ते (नक्तभिः) रात्रिभिः (ये) (वा) (रिपः) हिंसाः । विघ्नान् (दधिरे) धृतवन्तः (देवे) दिव्यगुणयुक्ते (अध्वरे) अ० १ । ४ । २ । हिंसारहितव्यवहारे । यज्ञे—निघ० ३ । १७ ॥

१९—(प्रवर्तय) प्रेरय (दिवः) आकाशात् (अश्मानम्) अशिशक्तिभ्य

राजन् ! (सोमशितम्) ऐश्वर्यवान् शिल्पी द्वारा तेज किये गये (अश्मानम्) व्यापने वाले पदार्थ पत्थर लोह आदि [अथवा पत्थर समान दृढ़ हथियार] को (सम्) सर्वथा (शिशाधि) तीक्ष्ण कर और (दिवः) आकाश से (प्र वर्तय) लुढ़का दे। (प्राक्तः) सामने से (अपाक्तः) दूर से, (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से (रक्षसः) राक्षसों को (पर्वतेन) पहाड़ [बड़े हथियार] से (अभि) सब ओर से (जहि) मार ॥ १९ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा गुणी शिल्पियों द्वारा आकाश से चलने वाले शस्त्र बनवाकर शत्रुओं को सब दिशाओं से नाश करे ॥ १९ ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम् । शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥ (१०)

एते । ऊं इति । त्ये । पतयन्ति । श्व-यातवः । इन्द्रम् । दिप्सन्ति । दिप्सवः । अदाभ्यम् ॥ शिशीते । शक्रः । पिशुनेभ्यः । वधम् । नूनम् । सृजत् । अशनिम् । यातुमत्-भ्यः ॥२०॥(१०)

भाषार्थ—(एते) यह [देशीय] (उ) और (त्ये) वे [विदेशीय] (श्वयातवः) कुत्ते समान पीड़ा देने वाले (पतयन्ति) उड़ते हैं और (दिप्सवः) दुःख देने वाले लोग (अदाभ्यम्) न दबने वाले (इन्द्रम्) प्रतापी

छन्दसि । उ० ४ । १४ । ७ । अशू व्याप्तौ संघाते च—मनिन् । अश्मा मेघः—निघ० १ । १० । व्यापनशीलं पाषाणलोहादिपदार्थम्, यद्वा पाषाणवद्दृढायुधम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमशितम्) ऐश्वर्यवता महाशिल्पिना तीक्ष्णीकृतम् (मघवन्) महाधनिन् (सम्) सम्यक् (शिशाधि) अ० ४ । ३१ । ४ । श्य । तीक्ष्णीकुरु (प्राक्तः) प्राक्—तसिल् । सम्मुखदेशात् (अपाक्तः) दूरदेशात् (अधरात्) अधः स्थानात् (उदक्तः) उपरिस्थानात् (अभि) सर्वतः (जहि) (रक्षसः) राक्षसान् (पर्वतेन) अ० ४ । ६ । १ । शैलेन । महाशस्त्रेणेत्यर्थः ॥

२०—(एते) स्वदेशवर्तिनः (उ) च (त्ये) ते विदेशिनः (पतयन्ति) उड्डीयन्ते (श्वयातवः) कुकुरसमानयातनावन्तः (इन्द्रम्) प्रतापिनं राजानम् (दिप्सन्ति) अ० ४ । ३६ । १ । जिघांसन्ति (दिप्सवः) दम्भ हिंसायाम्—

राजा को (दिप्सन्ति) हानि करना चाहते हैं। (शक्रः) शक्तिमान् राजा (पिशुनेभ्यः) छली लोगों के लिये (वधम्) मारू हथियार (शिशीते) तेज करता है, वह (नूनम्) निश्चय करके (अशनिम्) वज्र को (यातुमद्भ्यः) पीड़ा देने वालों पर (सृजत्) छोड़ देवे ॥ २० ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और वाहिरी हानिकारक शत्रुओं को शस्त्र आदिकों से नष्ट करे ॥ २० ॥

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३ विवासताम्। अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रः। यातूनाम्। अभवत्। परा-शरः। हविः-मथीनाम्। अभि। आ-विवासताम् ॥ अभि। इत्। ऊं इति। शक्रः। परशुः। यथा। वनम्। पात्रा-इव। भिन्दन्। सतः। एतु। रक्षसः॥२१

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (हविर्मथीनाम्) ग्राह्य अन्न आदि पदार्थों के मथने वाले [हलचल करने वाले], (आविवासताम्) समीप निवासी (यातूनाम्) पीड़ा देने वालों का (पराशरः) कुचलने वाला (अभि) सब ओर से (अभवत्) हुआ है। (शक्रः) शक्तिमान् राजा (इत् उ) अवश्य ही, (परशुः) कुल्हाड़ा (यथा) जैसे (वनम्) वन को, (पात्रा इव)

सन्—उप्रत्ययः। जिघांसवः (अदाभ्यम्) अ० ३। २१। ४। अजेयम् (शिशीते) अ० ५। १४। ९। श्यति। निशितं करोति (शक्रः) शक्तिमान् राजा (पिशुनेभ्यः) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित्। उ० ३। ५५। पिश अवयवे—उनन्। खलेभ्यः। सूचकेभ्यः (वधम्) मारकमायुधम् (नूनम्) निश्चयेन (सृजत्) उत् क्षिपेत् (अशनिम्) वज्रम् (यातुमद्भ्यः) हिंसावद्भ्यः ॥

२१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यातूनाम्) पीडकानाम् (अभवत्) (पराशरः) अ० ६। ६५। १। विनाशकः (हविर्मथीनाम्) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। हविः+मन्थ विलोडने—इन्। हविषां ग्राह्यान्नादीनां विलोडकानाम् (अभिः) सर्वतः (आविवासताम्) आङ्+वि+वसेः णिच्-शतृ। छन्दस्युभयथा। पा० ३। ४। ११७। आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः।

पात्रों के समान (भिन्दन्) तोड़ता हुआ, (सतः) विद्यमान (रक्षसः) राक्षसों पर (अभि एतु) चढ़ाई करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—पूर्वज पराक्रमी राजाओं के समान तेजस्वी राजा शत्रुओं का नाश करे, जैसे कुल्हाड़े से वन को काटते हैं अथवा मिट्टी के बासन को लाठी से तोड़ते हैं ॥ २१ ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥

उलूक-यातुम्। शुशुलूक-यातुम्। जहि। श्व-यातुम्। उत। कोक-यातुम्॥ सुपर्ण-यातुम्। उत। गृध्र-यातुम्। दृषदा-इव। प्र। मृण। रक्षः। इन्द्र ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे प्रतापी राजन्! (उलूकयातुम्) उल्लू के समान झपटने वाले, (शुशुलूकयातुम्) बड़े अचेत के समान दुःखदायी, (श्वयातुम्) कुत्ते समान पीड़ा देने वाले (उत) और (कोकयातुम्) भेड़िया समान हिंसा करने वाले, (सुपर्णयातुम्) श्येन पक्षी समान शीघ्र चलने वाले (उत) और (गृध्रयातुम्) गिद्ध समान दूर पहुंचने वाले [उपद्रवी] को (जहि) मार

समीपनिवासिनाम् (अभि एतु) अभिगच्छतु (इत्) अवश्यम् (उ) एव (शक्रः) शक्तो राजा (परशुः) अ० ३। १६। ४। कुठारः (यथा) (वनम्) वृक्षसमूहम् (पात्रा) मृण्मयानि पात्राणि (इव) यथा (भिन्दन्) विदारयन् (सतः) उपस्थितान् (रक्षसः) राक्षसान् ॥

२२—(उलूकयातुम्) उलूकादयश्च। उ० ४। ४१। वल संवरणे—ऊक। कमिमनिजनि०। उ० १। ७३। या प्रापणे गतौ च—तु। उलूकवद् गन्तारम् (शुशुलूकयातुम्) उलूकादयश्च। उ० ४। ४१। शु+शुर मारणे स्तम्भे च-ऊक। सस्य शः, रस्य लः। यत ताडने—उण्। अचैतन्यपुरुषवत्पीडकम् (जहि) मारय (श्वयातुम्) म० २०। कुक्कुरसमानपीडकम् (उत) अपि च (कोकयातुम्) कुक आदाने—अच्। वृकवत्पीडकम् (सुपर्णयातुम्) श्येनव-

और (दृषदा इव) जैसे शिला से (रक्षः) राक्षस को (प्र मृण) नाश कर दे ॥२२॥

भावार्थ—नीतिकुशल राजा विविध प्रकार के उपद्रवियों को नाश करता रहे ॥ २२ ॥

मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः । पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रक्षः । अभि । नट् । यातु-मावत् । अप । उच्छन्तु । मिथुनाः । ये । किमीदिनः ॥ पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षम् । दिव्यात् । पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यातुमावत्) पीड़ा रूप सम्पत्ति वाला (रक्षः) राक्षस (नः) हम तक (मा अभि नट्) कभी न पहुंचे, (मिथुनाः) हिंसक लोग, (ये) जो (किमीदिनः) लुतरे हैं, (अप उच्छन्तु) दूर जावें । (पृथिवी) पृथिवी (नः) हम को (पार्थिवात्) पार्थिव (अंहसः) कष्ट से (पातु) बचावे, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (दिव्यात्) आकाशीय [कष्ट] से (अस्मान्) हमें (पातु) बचावे ॥ २३ ॥

च्छीघ्रगामिनम् (उत) (गृध्रयातुम्) गृध्रवद्दूरगन्तारम् (प्र) प्रकर्षेण (मृण) नाशय (रक्षः) राक्षसम् (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् ॥

२३—(नः) अस्मान् (रक्षः) राक्षसः (अभि) अभितः (मा नट्) नशत् व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । नशतेर्लुङि । मन्त्रे घसह्वरणश० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । अडभावः । मा प्राप्नोतु (यातु-मावत्) इन्दिरा लोकमाता मा । इत्यमरः १ । २९ । मा लक्ष्मीः । पीडारूप-सम्पत्तियुक्तम् (अप उच्छन्तु) उच्छी विवासने । अप गच्छन्तु (मिथुनाः) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथृ वधे मेधायां च—उनन् । हिंसकाः (ये) (किमीदिनः) अ० १ । ७ । १ । पिशुनाः (पृथिवी) (नः) अस्मान् (पार्थिवात्) पृथिवीसम्बन्धिनः (पातु) (अंहसः) पीडनात् (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षपदार्थजातम् (दिव्यात्) अन्तरिक्षे भवात् (पातु) (अस्मान्) ॥

११

भावार्थ—शत्रुनाशक राजा के शासन में प्रजागण सब उपद्रवों को हटाकर पार्थिव और आकाशीय पदार्थों के उपयोग से प्रसन्न रहें ॥ २३ ॥

इन्द्र॑ ज॒हि पुमां॑सं यातु॒धान॑मु॒त स्त्रियं॑ मा॒यया॒ शाश॑दानाम् । विग्री॑वासो॒ मूर॑देवा ऋ॒दन्तु॒ मा ते दृ॑श॒न्त्सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तम् ॥ २४ ॥

इन्द्र॑ । ज॒हि । पुमां॑सम् । या॒तु॒ऽधान॑म् । उ॒त । स्त्रिय॑म् । मा॒यया॑ । शाश॑दानाम् ॥ वि॒ऽग्री॑वासः । मूर॑ऽदेवाः । ऋ॒दन्तु॒ । मा । ते । दृ॒श॒न् । सूर्य॑म् । उ॒त्ऽचर॑न्तम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजा ! (यातुधानम्) दुःखदायी (पुमांसम्) पुरुष को (उत) और (मायया) कपट से (शाशदानाम्) अति तीक्ष्ण स्वभाव वाली (स्त्रियम्) स्त्री को (जहि) नष्ट कर दे । (मूरदेवाः) मूढ़ [निर्बुद्धि] व्यवहार वाले (विग्रीवासः) ग्रीवा रहित होकर (ऋदन्तु) नष्ट हो जावें, (ते) वे (उच्चरन्तम्) उदय होते हुये (सूर्यम्) सूर्य को (मा दृशन्) न देखें ॥ २४ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवी स्त्री पुरुषों को कठिन दण्ड देकर नष्ट कर दे, जिससे वे उदय होते हुये सूर्य के समान फिर न उभरें ॥ २४ ॥

प्रति॑ चक्ष्व॒ वि च॒क्ष्वेन्द्र॑श्च सोम जागृतम् ।
रक्षो॑भ्यो व॒धम॑स्यतम॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥ २५ ॥

प्रति॑ । च॒क्ष्व॒ । वि । च॒क्ष्व॒ । इन्द्रः॑ । च॒ । सो॒म॒ । जा॒गृ॒त॒म् ॥

२४—(इन्द्र) (जहि) (पुमांसम्) पुरुषम् (यातुधानम्) पीडाप्रदम् (उत) अपि (स्त्रियम्) (मायया) कपटेन (शाशदानाम्) अ० १ । १० । १ । अत्यर्थं तीक्ष्णस्वभावाम् (विग्रीवासः) असुगागमः । विच्छिन्नग्रीवाः (मूरदेवाः) अ० ८ । ३ । २ । मूढव्यवहारयुक्ताः (ऋदन्तु) वैदिकधातुः । नश्यन्तु (ते) पूर्वोक्ताः (मा दृशन्) मा द्राक्षुः (सूर्यम्) (उच्चरन्तम्) उद्यन्तम् ॥

रक्षः-भ्यः । वधम् । अस्यतम् । अशनिम् । यातुमत्-भ्यः ॥२५॥

भाषार्थ—(प्रति चक्ष्व) प्रत्येक को देख, (वि चक्ष्व) विविध प्रकार देख, (इन्द्रः) हे सूर्य [समान राजन् !] (च) और (सोम) हे चन्द्र [समान मन्त्री !] (जागृतम्) तुम दोनों जागो । (रक्षोभ्यः) राक्षसों पर (वधम्) मारू हथियार और (यातुमद्भ्यः) पीड़ा स्वभाव वालों पर (अशनिम्) वज्र (अस्यतम्) चलाओ ॥ २५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार राजा और मन्त्री सुनीति से शत्रुओं का नाश करके प्रजापालन करते हैं, वैसे ही आचार्य-शिष्य, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि सुविद्या से आत्मदोष नाश करके आनन्दित हों ॥ २५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-२२ ॥ १-९, १५ कृत्यादूषणाः ; १०, २०, २१ विश्वे देवाः ; ११, १३, १६ प्रजापतिः ; १४, १७, २२ इन्द्रः ; १८ मन्त्रोक्ताः ; १९ वर्म देवता ॥ १ उपरिष्टाद्बृहती ; २ त्रिपदा त्रिष्टुप् ; ३ भुरिज्जगती ; ४, ७, ८ विराडनुष्टुप् ; ५ संस्तारपङ्क्तिर्भुरिक् ; ६ उपरिष्टाद्बृहती ; ९ जगती ; १०, २१ विराट् त्रिष्टुप् ११ पथ्यापङ्क्तिः ; १२, १३, १६-१८ अनुष्टुप् ; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; १५ विराट् पुरस्ताद्बृहती ; १९ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २० आस्तारपङ्क्तिः ; २२ त्र्यवसाना सप्तपदा भुरिक् शक्वरी छन्दः ॥

हिंसाविनाशोपदेशः—हिंसा के नाश का उपदेश ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।

२५—(प्रति) प्रत्येकम् (चक्ष्व) पश्य (वि) विविधम् (चक्ष्व) (इन्द्रः) हे सूर्यवत्तेजस्विन् राजन् (च) (सोम) हे चन्द्रवच्छान्तिस्वभाव मन्त्रिन् (जागृतम्) अनिद्रौ भवतम् (रक्षोभ्यः) दुष्टेभ्यः (वधम्) मारकमायुधम् (अस्यतम्) प्रक्षिपतम् (अशनिम्) वज्रम् (यातुमद्भ्यः) पीडास्वभावेभ्यः ॥

वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

अयम् । प्रति-सरः । मणिः । वीरः । वीराय । बध्यते ॥ वीर्य-वान् । सपत्न-हा । शूर-वीरः । परि-पानः । सु-मङ्गलः ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्रसिद्ध वेदरूप] (वीरः)पराक्रमी, (वीर्य-वान्) सामर्थ्य वाला, (सपत्नहा) प्रतियोगियों का नाश करने वाला, (शूर-वीरः) शूर वीर, (परिपाणः) सब ओर से रक्षा करने वाला, (सुमङ्गलः) बड़ा मङ्गल कारी, (प्रतिसरः) अग्रगामी, (मणिः) मणि [उत्तम नियम] (वीराय) वीर पुरुष में (बध्यते) बांधा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष मणिरूप सर्व श्रेष्ठ वेद नियम पर चलते हैं, वे सुरक्षित रह कर सदा आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः । प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्न-हा । सु-वीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ॥ प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ।२।

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्रसिद्ध वेद रूप] (मणिः) मणि [उत्तम नियम], (सपत्नहा) प्रतियोगियों का नाश करने वाला, (सुवीरः) बड़े

१—(अयम्) सुप्रसिद्धो वेदरूपः (प्रतिसरः) अ० २ । ११ । २ । अग्रगामी (मणिः) अ० १ । २९ । १ । नियमरत्नम् । प्रशंसनीयो नियमः (वीराय) पराक्रमिणे पुरुषाय (बध्यते) संयुज्यते (वीर्यवान्) सामर्थ्यवान् (सपत्नहा) प्रतियोगिनाशकः (शूरवीरः) शूराणां मध्ये वीरः (परिपाणः) अ० २ । १७ । ७ । सर्वतो रक्षकः (सुमङ्गलः) अतिमङ्गलकारी ॥

२—(सुवीरः) शोभनैर्वीरैर्युक्तः (सहस्वान्) बलवान् (वाजी) पराक्रमी (सहमानः) शत्रूणामभिभविता (उग्रः) प्रचण्डः (प्रत्यक्) अभिमुखम् । सम्मुखम् (कृत्याः) अ० ४ । ९ । ५ । हिंसाः । विघ्नान् (दूषयन्) खण्डयन् (एति) गच्छति । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

वीरों वाला, (सहस्वान्) महाबली (वाजी) पराक्रमी, (सहमानः) [शत्रुओं का] हराने वाला, (उग्रः) तेजस्वी (वीरः) वीर होकर (कृत्याः) हिंसाओं को (दूषयन्) नाश करता हुआ (प्रत्यक्) सन्मुख (एति) चलता है ॥ २ ॥

भावार्थ—पराक्रमी वीर पुरुष वैदिक नियमों को धारण करके विघ्नों को हटाते हुये आगे बढ़ते हैं ॥ २ ॥

अ॒नेनेन्द्रो॑ म॒णिना॑ वृ॒त्रम॑हन्न॒नेनासु॑रा॒न् परा॑भावयन्मनी॒षी । अ॒नेना॑जय॒द् द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे अ॒नेना॑जय॒त् प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ३ ॥

अ॒नेन॑ । इन्द्रः॑ । म॒णिना॑ । वृ॒त्रम् । अ॒ह॒न् । अ॒नेन॑ । असु॑रान् । परा॑ । अ॒भा॒व॒य॒त् । म॒नी॒षी ॥ अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ । अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । प्र॒-दिशः॑ । चत॑स्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मनीषी) महा बुद्धिमान् (इन्द्रः) बड़े प्रतापी पुरुष ने (अनेन) इस [प्रसिद्ध वेद रूप] (मणिना) मणि [उत्तम नियम] के द्वारा (वृत्रम्) अन्धकार (अहन्) मिटाया और (अनेन) इसी के द्वारा (असुरान्) असुरों को (परा अभावयत्) हराया (अनेन) इसी के द्वारा (उभे) दोनों (इमे) इन (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक को (अजयत्) जीता और (अनेन) इसी के द्वारा (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) दिशाओं को (अजयत्) जीता ॥ ३ ॥

३—(अनेन) प्रसिद्धेन वेदरूपेण (इन्द्रः) प्रतापी सेनापतिः (वृत्रम्) अ० २ । ५ । ३ । अन्धकारम् (अहन्) हतवान् (अनेन) (असुरान्) सुरविरोधिनो दैत्यान् (पराभावयत्) पराभूतान् विनष्टानकरोत् (मनीषी) अ० ३ । ५ । ६ । मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा—निरु० ६ । १० । मेधावी (अनेन) (अजयत्) जितवान् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) द्वे (इमे) प्रत्यक्षे (अनेन) (अजयत्) (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशःप्राच्याद्याः (चतस्रः) चतुः संख्याकाः ॥

भावार्थ—वेदानुगामी बुद्धिमान् पराक्रमी पुरुष सब वैरियों को मिटाकर सूर्य और पृथिवी आदि लोकों पर प्रभाव जमाकर चक्रवर्ती राजा हुये हैं, वैसा ही सब मनुष्यों को होना चाहिये ॥ ३ ॥

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः । ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

अयम् । स्राक्त्यः । मणिः । प्रति-वर्तः । प्रति-सरः ॥ ओजस्वान् । वि-मृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्रसिद्ध वेद रूप] (मणिः) मणि [श्रेष्ठ नियम] (स्राक्त्यः) उद्यमशील, (प्रतीवर्त्तः) सब ओर घूमने वाला और (प्रतिसरः) अग्रगामी है। (सः) वह (ओजस्वान्) महाबली, (विमृधः) बड़े हिंसकों को (वशी) वश में करने वाला (अस्मान्) हमको (सर्वतः) सब ओर से (पातु) बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदानुगामी पुरुष बड़े ओजस्वी होकर शत्रुओं को वश में करके सब की रक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः । ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः । सविता । तत् । इन्द्रः ॥ ते । मे । देवाः । पुरः-

४—(अयम्) म० १ (स्राक्त्यः) स्रक गतौ—क्विन्, यत्। प्रति+वृतेर्घञ्। उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ । इति दीर्घः । प्रज्ञादिभ्यश्च । पा० ५ । ४ । ३८ । स्वार्थेऽण् । स्राक्त्यः—अ० २ । ११ । २ । उद्यमशीलः (मणिः) म० १ (प्रतीवर्तः) सर्वतोवर्तनः (प्रतिसरः) म० १ (ओजस्वान्) बलयुक्तः (विमृधः) अ० १ । २१ । १ । विशेषेण हिंसकान् (वशी) वश—इनि । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति सकर्मकत्वम् । वशयिता (सः) (अस्मान्) धार्मिकान् (पातु) (सर्वतः) ॥

हिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रति-सरैः । अजन्तु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तत्) यह [पूर्वोक्त] (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष (आह) कहता है, (तत् उ) यही (सोमः) चन्द्र [समान पोषक] (आह) कहता है, (तत्) यही (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का स्वामी, (सविता) सब का प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी पुरुष । (ते) वे (देवाः) व्यवहार कुशल (पुरोहिताः) पुरोहित [अग्रगामी पुरुष] (प्रतिसरैः) अग्रगामी पुरुषों सहित (मे) मेरे लिये (कृत्याः) हिंसाओं को (प्रतीचीः) प्रतिकूल गति वाली करके (अजन्तु) हटावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष वेद विद्या का मान करते हैं और विद्वान् ही मनुष्यों को विघ्न से बचाते हैं ॥ ५ ॥

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् । ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

अन्तः । दुधे । द्यावापृथिवी इति । उत । अहः । उत । सूर्यम् ॥ ते । मे । देवाः । पुरः-हिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रति-सरैः । अजन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (उत) और (अहः) दिन (उत) और (सूर्यम्) सूर्य को (अन्तः) मध्य में [हृदय में] (दधे) मैं धारण करता हूं । (ते) वे (देवाः) व्यवहार कुशल (पुरोहिताः)

५—(तत्) पूर्वोक्तम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (आह) ब्रवीति (तदु) तदेव (सोमः) चन्द्रवत् पोषकः (आह) (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां स्वामी (सविता) सर्वप्रेरकः (तत्) (इन्द्रः) प्रतापी जनः (ते) प्रसिद्धाः (मे) मह्यम् (देवाः) व्यवहारिणः (पुरोहिताः) अ० ३ । १६ । १ । अग्रगामिनः पुरुषाः (प्रतीचीः) प्रतिकूलगतीः कृत्वा (कृत्याः) म० २ । हिंसाः (प्रतिसरैः) अग्रेसरैः सह (अजन्तु) क्षिपन्तु ॥

६—(अन्तः) मध्ये (दधे) धरामि (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी । तत्रत्यान् पदार्थान् (उत) अपि च (अहः) दिनम् (उत) (सूर्यम्) आदि-

पुरोहित [अग्र गामी पुरुष] (प्रतिसरैः) अग्र गामी पुरुषों सहित (मे) मेरे लिये (कृत्याः) हिंसाओं को (प्रतीचीः) प्रतिकूल गति वाली करके (अजन्तु) हटावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अवकाश, पृथिवी आदि पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपयोग लेते हैं, वे विघ्न नाश करके आनन्दित रहते हैं ॥ ६ ॥

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

ये । स्राक्त्यम् । मणिम् । जनाः । वर्माणि । कृण्वते ॥ सूर्यः-इव । दिवम् । आ-रुह्य । वि । कृत्याः । बाधते । वशी ॥७॥

भाषार्थ—(ये) जो (जनाः) जन (स्राक्त्यम्) उद्योग शील (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] को (वर्माणि) कवच (कृण्वते) बनाते हैं। [उनके समान] (वशी) वश में करने वाला पुरुष, (सूर्य इव) सूर्य के समान (दिवम्) आकाश में (आरुह्य) चढ़कर, (कृत्याः) हिंसाओं को (वि बाधते) हटा देता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो पुरुष संयमी पुरुषों के समान जितेन्द्रिय होते हैं, वे बड़े यशस्वी होकर निर्विघ्न रहते हैं ॥ ७ ॥

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा ।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

स्राक्त्येन । मणिना । ऋषिणा-इव । मनीषिणा ॥
अजैषम् । सर्वाः । पृतनाः । वि । मृधः । हन्मि । रक्षसः ॥ ८॥

त्यम् । शिष्टं पूर्ववत्—म० ५ ॥

७—(ये) (स्राक्त्यम्) म० ४ । उद्योगिनम् (मणिम्) म० १ । श्रेष्ठ-नियमम् (जनाः) लोकाः (कृण्वते) कुर्वते (सूर्य इव) (दिवम्) आकाशम् (आरुह्य) अधिष्ठाय (वि) विशेषेण (कृत्याः) हिंसाः (बाधते) निवारयति) (वशी) वशयिता पुरुषः ॥

भाषार्थ—(स्राक्त्येन) उद्योगशील (मणिना) मणि [श्रेष्ठ नियम] द्वारा (मनीषिणा) महाबुद्धिमान् (ऋषिणा इव) ऋषि के साथ होकर जैसे मैं ने (सर्वाः) सब (पृतनाः) सेनाओं को (अजैषम्) जीत लिया है, मैं (मृधः) हिंसक (रक्षसः) राक्षसों को (वि हन्मि) नाश करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऋषियों के समान पहिले से नियम धारण करके सब उपद्रवों को हटावें ॥ ८ ॥

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः । उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्याऽ३ अति ॥ ९ ॥

याः । कृत्याः । आङ्गिरसीः । याः । कृत्याः । आसुरीः । याः । कृत्याः । स्वयम्-कृताः । याः । ऊं इति । च । अन्येभिः । आ-भृताः ॥ उभयीः । ताः । परा । यन्तु । परा-वतः । नवतिम् । नाव्याः । अति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (कृत्याः) हिंसायें (आङ्गिरसीः) ऋषियों कर के कही गई हैं, (याः) जो (कृत्याः) हिंसायें (आसुरीः) असुरों करके की गई हैं, (याः) जो (कृत्याः) हिंसायें (स्वयंकृताः) अपने से की गई हैं, (च उ) और भी (याः) जो (अन्येभिः) दूसरे पुरुषों करके (आभृताः)

८—(स्राक्त्येन) म० ४ । उद्योगशीलेन (मणिना) म० १ । श्रेष्ठनियमेन (मणिन ऋषिणा) ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । प्रकृतिभावत्वं ह्रस्वत्वं च (ऋषिणा) अ० २ । ६ । १ । अतीन्द्रियार्थद्रष्ट्रा (इव) यथा (मनीषिणा) म० ३ । विपश्चिता (अजैषम्) जितवानस्मि (सर्वाः) (पृतनाः) अ० ३।२१।३। शत्रुसेनाः (वि) विशेषेण (मृधः) हिंसकान् (हन्मि) घातयामि (रक्षसः) राक्षसान् ॥

९—(याः) (कृत्याः) हिंसाः । उपद्रवाः (अङ्गिरसीः) तेन प्रोक्तम् । पा० ४ । ३ । १०१ । अङ्गिरस्—अण् , ङीप् । आङ्गिरस्यः । अङ्गिरोभिर्ज्ञानवद्भिः प्रोक्ताः (याः) (कृत्याः) (आसुरीः) तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । असुर—अण् । आसुर्यः । असुरैरुपद्रविभिर्निर्मिताः (याः) (कृत्याः) (स्वयंकृताः)

पहुंचाई गई हैं। (उभयीः) सम्पूर्ण (ताः) वे (नवतिम्) नब्बे (नाव्याः) नाव से उतरने योग्य नदियों को (अति) पार करके (परावतः) बहुत दूर देशों को (परा यन्तु) चली जावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिन हिंसाओं का विधान ऋषियों ने किया है और जिनको मनुष्य अपने आप बुद्धि विकार से करते हैं, अथवा जिन हिंसाओं को दूसरे उपद्रवी करते हैं उन सब को मनुष्य ज्ञान द्वारा सर्वथा अति दूर हटावें ॥ ६ ॥

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः। प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥ १० ॥(१२)

अस्मै। मणिम्। वर्म। बध्नन्तु। देवाः। इन्द्रः। विष्णुः। सविता। रुद्रः। अग्निः॥ प्रजा-पतिः। परमे-स्थी। वि-राट्। वैश्वानरः। ऋषयः। च। सर्वे ॥ १० ॥(१२)

भाषार्थ—(देवाः) स्तुति योग्य पुरुष, [अर्थात्] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (विष्णुः) कामों में व्याप्ति वाला [मन्त्री] (सविता) प्रेरणा करनेवाला [सेनापति], (रुद्रः) ज्ञानदाता (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी आचार्य] (प्रजापतिः) प्रजापालक, (परमेष्ठी) अति श्रेष्ठ [मोक्ष] पद में रहने वाला, (विराट्) अति प्रकाशमान, (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमेश्वर

आत्मना कृताः स्वबुद्धिविकारेण (उ) अपि (च) (अन्येभिः) अन्यैः (आभृताः) आहृताः। प्रापिताः (उभयीः) अ० ७। १०६। २। उभ पूर्तौ—कयन्, ङीष्। उभय्यः। सम्पूर्णाः (ताः) कृत्याः (परा) दूरे (यन्तु) गच्छन्तु (परावतः) दूरदेशान् (नवतिम्) बह्वीरित्यर्थः (नाव्याः) नौवयोधर्मविष०। पा० ४। ४। ६१। नौ-यत्। नावा तार्याः नदीः (अति) अतीत्य ॥

-१०—(अस्मै) पुरुषार्थिने शूराय (मणिम्) श्रेष्ठ नियमरूपम् (वर्म) कवचम् (बध्नन्तु) धारयन्तु (देवाः) स्तुत्याः पुरुषाः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (विष्णुः) कर्मसु व्यापको मन्त्री (सविता) प्रेरकः सेनापतिः (रुद्रः) अ० २। २७। ६। ज्ञानदाता (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी आचार्यः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (परमेष्ठी) अ० १। ७। २। अतिश्रेष्ठे मोक्षपदे स्थितः (विराट्)

(च) और (सर्वे) सब (ऋषयः) ऋषि लोग (अस्मै) इस [शूर पुरुष] के (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियमरूप] (वर्म) कवच (बध्नन्तु) बांधे ॥ १० ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य विद्वानों की सम्मति और परमात्मा के श्रेष्ठ नियमों में चलकर आनन्द पावें ॥ १० ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥११॥

उत्-तमः । असि । ओषधीनाम् । अनड्वान् । जगताम्-इव । व्याघ्रः । श्वपदाम्-इव ॥ यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रति-स्पाशनम् । अन्तितम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(हे मनुष्य !] तू (ओषधीनाम्) तापनाशकों में (उत्तमः) उत्तम (असि) है; (इव) जैसे (जगताम्) गतिशीलों [गौ आदि पशुओं] में (अनड्वान्) [रथ ले चलने वाला] बैल और (इव) जैसे (श्वपदाम्) हिंसक पशुओं में (व्याघ्रः) बाघ [है] । (यम्) जिसको (ऐच्छाम) हमने चाहा था, (तम्) उस (प्रतिस्पाशनम्) प्रत्येक को छूने वाले; (अन्तितम्) प्रबन्ध करने वाले [मणिरूप श्रेष्ठ नियम को (अविदाम) हमने पाया है ॥११॥

भावार्थ—उत्साही आत्मावलम्बी पुरुष भय छोड़ कर परमात्मा के नियमों को अङ्गीकार करके सुखी होते हैं ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का पूर्व भाग (उतमो......श्वपदामिव) अ० १९ । ३९ । ४ । में है ॥

अ० ४ । ११ । ७ । विविधं प्रकाशमानः (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः परमेश्वरः (ऋषयः) अ० २ । ६ । १ । सन्मार्गदर्शकाः (सर्वे) समस्ताः ॥

११—(उत्तमः) (असि) (ओषधीनाम्) अ० १ । २३ । १ । तापनाशकानां-मध्ये (अनड्वान्) अ० ४ । ११ । १ । शकटवाहको बलीवर्दः (जगताम्) अ० १ । ३१ । ४ । गतिशीलानां गवादीनां मध्ये (इव) यथा (व्याघ्रः) अ० ४ । ३ । १ । हिंस्रपशुविशेषः (श्वपदाम्) शुन इव पादो येषाम् । हिंस्रपशूनां मध्ये (इव) (यम्) (ऐच्छाम) वयमिष्टवन्तः (अविदाम) विन्दतेर्लुङि च्लेरङ् । वयं लब्धवन्तः (तम्) (प्रतिस्पाशनम्) स्पश बाधनस्पर्शनयोः, णिच्-ल्युट् । प्रत्येकस्पर्शकम् (अन्तितम्) अ० ६ । ४ । २ । प्रबन्धकम् ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा। अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

सः। इत्। व्याघ्रः। भवति। अथो इति। सिंहः। अथो इति। वृषा॥ अथो इति। सपत्न-कर्शनः। यः। बिभर्ति। इमम्। मणिम्॥१२

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (इत्) ही (व्याघ्रः) बाघ, (अथो) और भी (सिंहः) सिंह, (अथो) और भी (वृषा) बलीवर्द [समान बलवान्] (अथो) और भी (सपत्नकर्शनः) शत्रुओं का दुर्बल करने वाला (भवति) होता है, (यः) जो (इमम्) इस [वेदरूप] (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] को (बिभर्ति) रखता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—वेदानुगामी पुरुष सब प्रकार शक्तिमान् होकर शत्रुओं का नाश करते हैं ॥ १२ ॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः। सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

न। एनम्। घ्नन्ति। अप्सरसः। न। गन्धर्वाः। न। मर्त्याः॥ सर्वाः। दिशः। वि। राजति। यः। बिभर्ति। इमम्। मणिम् ॥१३॥

भाषार्थ—(एनम्) उस पुरुष को (न) न तो (अप्सरसः) अप्सरायें [आकाश में चलने वाली बिजुलियां], (न) न (गन्धर्वाः) गन्धर्व [पृथिवी धारण करने वाले मेघ] और (न) न (मर्त्याः) मनुष्य (घ्नन्ति)

१२—(सः) पुरुषः (इत्) एव (व्याघ्रः) व्याघ्र इव शक्तिमान् (भवति) (अथो) अपि च (सिंहः) सिंह इव (वृषा) बलीवर्द इव (अथो) (सपत्नकर्शनः) कृश तनूकरणे—ल्युट्। शत्रूणां दुर्बलकरः (यः) (बिभर्ति) धरति (इमम्) प्रसिद्धं वेदरूपम् (मणिम्) म० १। श्रेष्ठनियमम् ॥

१३—(न) निषेधे (एनम्) आत्मज्ञानिनम् (घ्नन्ति) मारयन्ति (अप्सरसः) अ० ४।७।२। आकाशे सरणशीला विद्युतः (न) (गन्धर्वाः) अ०

मारते हैं। वह (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं पर (वि राजति) शासन करता है, (यः) जो (इमम्) इस [वेद रूप] (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] को (बिभर्ति) रखता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी पुरुषार्थी पुरुष विज्ञान द्वारा सर्वत्र राज्य करता है १३

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत्।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

कश्यपः। त्वाम्। असृजत। कश्यपः। त्वा। सम्। ऐरयत्।
अबिभः। त्वा। इन्द्रः। मानुषे। बिभ्रत्। सम्-श्रेषिणे। अजयत्।
मणिम्। सहस्र-वीर्यम्। वर्म। देवाः। अकृण्वत ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे मणि, नियम !] (कश्यपः) सब देखने वाले परमेश्वर ने (त्वाम्) तुझे (असृजत) उत्पन्न किया है, (कश्यपः) सर्वदर्शी ईश्वर ने (त्वा) तुझे (सम्) यथावत् (ऐरयत्) भेजा है। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने (त्वा) तुझको (मानुषे) मनुष्य [लोक] में (अबिभः) धारण किया है और उसने [तुझे] (बिभ्रत्) धारण करते हुये (संश्रेषिणे) संग्राम में (अजयत्) जय पाई है। [इसी से] (देवाः) विजय चाहने वाले वीरों ने (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्य वाले (मणिम्) मणि [श्रेष्ठनियम] को (वर्म) कवच (अकृण्वत) बनाया है ॥ १४ ॥

२। १। २। पृथिवीधारका मेघाः (न) (मर्त्याः) मनुष्याः (सर्वाः) (दिशः) (वि राजति) विविधं शास्ति। अन्यत् पूर्ववत्—म० १२॥

१४—(कश्यपः) अ० २। ३३। ७। पश्यकः सर्वद्रष्टा (त्वाम्) मणिम् (असृजत्) उत्पादितवान् (कश्यपः) (त्वा) (सम्) सम्यक् (ऐरयत्) प्रेरितवान् (अबिभः) अ० ६। ८१। ३। धृतवान् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (मानुषे) अ० ४। १४। ५। मनुष्यसम्बन्धिनि लोके (बिभ्रत्) धारयन् (संश्रेषिणे) श्यास्त्या०। उ० २। ४६। सम्+श्लिष संसर्गे—इनच्, लस्य रः। परस्परश्लेषणसाधने संग्रामे (अजयत्) जयं प्राप्तवान् (मणिम्) म० १। श्रेष्ठनियमम् (सहस्रवीर्यम्) बहुसामर्थ्यम् (वर्म) भयनिवारकं कवचम् (देवाः) विजिगीषवः। शूराः (अकृण्वत) अकुर्वन् ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि जो मनुष्य परमेश्वरकृत नियमों पर श्रद्धा रखता है, वह विजयी होता है ॥ १४ ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

यः। त्वा। कृत्याभिः। यः। त्वा। दीक्षाभिः। यज्ञैः। यः। त्वा। जिघांसति ॥ प्रत्यक्। त्वम्। इन्द्र। तम्। जहि। वज्रेण। शत-पर्वणा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (त्वा) तुझे (कृत्याभिः) हिंसा क्रियाओं से, (यः) जो (त्वा) तुझे (दीक्षाभिः) आत्मनिग्रह व्यवहारों से, (यः) जो (त्वा) तुझे (यज्ञैः) संयोगों से (जिघांसति) मारना चाहता है। (त्वम्) तू (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ! (तम्) उस को (शतपर्वणा) सैकड़ों पालन सामर्थ्य वाले (वज्रेण) वज्र से (प्रत्यक्) प्रत्यक्ष (जहि) नाशकर ॥१५॥

भावार्थ—जो पाखण्डी मनुष्य उपद्रव करके अथवा कपट से आत्मनिग्रह और मित्रता आदि करके मारना चाहे, राजा उसको नाश करके प्रजा पालन करे ॥ १५ ॥

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयम्। इत्। वै। प्रति-वर्तः। ओजस्वान्। सम्-जयः। मणिः॥ प्रजाम्। धनम्। च। रक्षतु। परि-पानः। सु-मङ्गलः ॥ १६ ॥

१५—(यः) (त्वा) इन्द्रम् (कृत्याभिः) अ० ४। ९। ५। हिंसाक्रियाभिः (त्वा) (दीक्षाभिः) दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु— अप्रत्ययः, टाप्। आत्मनिग्रहैः (यज्ञैः) संयोगव्यवहारैः (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (प्रत्यक्) प्रत्यक्षम् (त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (तम्) उपद्रविणम् (जहि) नाशय (वज्रेण) (शतपर्वणा) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। पॄ पालने पूर्तौ च—वनिप्। बहुपालनयुक्तेन ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (इत् वै) अवश्य ही (प्रतिवर्तः) प्रत्यक्ष घूमने वाला, (ओजस्वान्) बलवान्, (संजयः) विजयी, (परिपाणः) परिरक्षक, (सुमङ्गलः) बड़ा मङ्गलकारी (मणिः) मणि [श्रेष्ठ नियम] (प्रजाम्) प्रजा (च) और (धनम्) धन की (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १९ ॥

भावार्थ—नियमवान् मनुष्य ही प्रजा और धन की रक्षा करते हैं ॥१६॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

असपत्नम् । नः । अधरात् । असपत्नम् । नः । उत्तरात् ॥ इन्द्र । असपत्नम् । नः । पश्चात् । ज्योतिः । शूर । पुरः । कृधि ॥१७॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् ! (ज्योतिः) ज्योति को (नः) हमारे लिये (अधरात्) नीचे से (असपत्नम्) शत्रु रहित, (नः) हमारे लिये (उत्तरात्) ऊपर से (असपत्नम्) शत्रु रहित, (नः) हमारे लिये (पश्चात्) पीछे से (असपत्नम्) शत्रुरहित (पुरः) सन्मुख (कृधि) कर ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा सब ओरसे शत्रुओं को नाश करके प्रजाकी रक्षाकरे।१७

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ॥ वर्म । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । वर्म । धाता । दधातु । मे १८

१६—(अयम्) (इत्) अवश्यम् (वै) एव (प्रतिवर्तः) म० ४ । प्रत्यक्षवर्तनशीलः (ओजस्वान्) बलवान् (संजयः) सम्यग् जेता (मणिः) म० १ । श्रेष्ठनियमः (प्रजाम्) (धनम्) (च) (रक्षतु) (परिपाणः) म० १ । परिरक्षकः (सुमङ्गलः) बहुश्रेयस्करः ॥

१७—(असपत्नम्) शत्रुरहितम् (नः) अस्मभ्यम् (अधरात्) अधोदेशात् (उत्तरात्) उपरिदेशात् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (पश्चात्) पृष्ठतः (ज्योतिः) प्रकाशम् (शूर) (पुरः) पुरस्तात् (कृधि) कुरु । अन्यत्पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (वर्म) कवच, (अहः) दिन (वर्म) कवच, (सूर्यः) सूर्य (वर्म) कवच (मे) मेरे लिये (इन्द्रः) वायु (च) और (अग्निः) अग्नि [जाठर अग्नि] (च) भी (वर्म) कवच [होवे], (धाता) पोषण करने वाला परमेश्वर (मे) मेरे लिये (वर्म) कवच (दधातु) धारण करे ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा को विचार कर संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सदा उन्नति करे ॥ १८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—अ० १९ । २० । ४ । में भी है ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नं वर्म॑ बहु॒लं यदु॒ग्रं विश्वे॑ दे॒वा नाति॒विध्य॑न्ति॒ सर्वे॑ । तन्मे॑ त॒न्वं॑ त्रायतां स॒र्वतो॑ बृ॒हदायु॑ष्मां ज॒रद॑ष्टि॒र्यथासा॑नि ॥ १९ ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नम् । वर्म॑ । ब॒हु॒लम् । यत् । उ॒ग्रम् । विश्वे॑ । दे॒वाः । न । अ॒ति॒-विध्य॑न्ति । सर्वे॑ ॥ तत् । मे॒ । त॒न्व॑म् । त्रा॒य॒ता॒म् । स॒र्वतः॑ । बृ॒हत् । आयु॑ष्मान् । ज॒रत्-अ॑ष्टिः । यथा॑ । अस॑नि १९

भाषार्थ—(ऐन्द्राग्नम्) वायु और अग्नि का (वर्म) कवच (बहुलम्) बहुत अधिक और (उग्रम्) प्रचण्ड है, (यत्) जिसको (विश्वे सर्वे) सब की सब (देवाः) इन्द्रियां (न) नहीं (अतिविध्यन्ति) आरपार छेद सकती हैं। (तत्) वह (बृहत्) बड़ा [कवच] (मे) मेरे (तन्वम्) शरीरको

१८—(वर्म) कवचम् । रक्षासाधनं भवतु (मे) मह्यम् (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी (अहः) दिनम् (सूर्यः) आदित्यः (इन्द्रः) वायुः (च) (अग्निः) जाठराग्निः (च) अपि (धाता) पोषकः परमेश्वर (दधातु) धारयतु । अन्यद् गतम् ॥

१९—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी। सास्य देवता। पा० ४ । २ । २४ । इत्यण् । इन्द्राग्निदेवताकम् । वायुपावकसम्बद्धम् (वर्म) कवचम् (बहुलम्) अ० ३ । १४ । ६ । अत्यधिकम् (यत्) (उग्रम्) प्रचण्डम् (विश्वे सर्वे) सर्व एव (देवाः) इन्द्रियाणि (न) निषेध अतिविध्यन्ति) अत्यन्तं छिन्दन्ति

(सर्वतः) सब ओर से (त्रायताम्) पाले, (यथा) जिससे (आयुष्मान्) बड़ी आयु वाला (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असानि) मैं रहूं ॥ १९॥

भावार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में वायु अग्नि आदि पदार्थ अपरिमित हैं, उनसे मनुष्य यथावत् उपकार लेकर अपना जीवन और यशः बढ़ावें ॥ १९ ॥

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥२०॥

आ । मा । अरुक्षत् । देव-मणिः । मह्यै । अरिष्ट-तातये ॥
इमम् । मेथिम् । अभि-संविशध्वम् । तनू-पानम् । त्रि-वरूथम् । ओजसे ॥ २० ॥

भाषार्थ—(देवमणिः) दिव्य मणि [श्रेष्ठ नियम] (मह्यै) बड़ी (अरिष्टतातये) कुशलता के लिये (मा) मुझ पर (आ अरुक्षत्) आरूढ़ [अधिकारवान्] हुआ है। [हे विद्वानो !] (इमम्) इस (तनूपानम्) शरीरपालक, (त्रिवरूथम्) तीन [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] रक्षा वाले (मेथिम्) ज्ञान में (ओजसे) बल के लिये (अभिसंविशध्वम्) सब ओर से मिलकर प्रवेश करो ॥ २० ॥

(तत्) वर्म (मे) मम (तन्वम्) तनूम्। शरीरम् (त्रायताम्) पालयतु (सर्वतः) सर्वप्रकारेण (बृहत्) महत् (आयुष्मान्) दीर्घजीवनः (जरदष्टिः) अ० २। २८ । ५ । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्य्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः (यथा यस्मात् कारणात् (असानि) भवानि ॥

२०—(मा) माम् (आ अरुक्षत्) अ० ३ । ५ । ५ । आरूढवान् । अधिष्ठितवान् (देवमणिः) दिव्यगुणो मणिः श्रेष्ठनियमः (मह्यै) महत्यै (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । कुशलकरणाय (इमम्) सुप्रसिद्धम् (मेथिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मेथृ वधे मेधायां च—इन् । बोधम् (अभिसंविशध्वम्) सर्वतो मिलित्वा प्रविशत, आश्रयध्वम् (तनूपानम्) शरीरपालकम् (त्रिरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । वृञ् स्वीकरणे संवरणे वा—ऊथन् । त्रीणि वरूथानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि रक्षणानि यस्मिंस्तम् (ओजसे) बलाय ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने प्रत्येक प्राणी के कुशल के लिये उत्तम नियम उत्पन्न किये हैं, सब विद्वान् लोग उनका आश्रय लेकर अपना बल बढ़ावें ॥ २० ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३।५।५॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्। दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥ २१ ॥

अस्मिन् । इन्द्रः । नि । दधातु । नृम्णम् । इमम् । देवासः । अभि-संविशध्वम् ॥ दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय । आयुष्मान् । जरत् अष्टिः । यथा । असत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (नृम्णम्) बल वा धन (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (नि दधातु) नियम से स्थापित करे, (देवासः) हे विद्वानो! (इमम्) इस [ज्ञान—म० २०] में (अभिसंविशध्वम्) सब ओर से मिलकर प्रवेश करो, (यथा) जिससे वह (आयुष्मान्) बड़े जीवन वाला और (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥ २१ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपदेश करें जिससे सब मनुष्य ईश्वर महिमा जानकर बल धन और यश बढ़ावें ॥ २१ ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा । स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

२१—(अस्मिन्) मनुष्ये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (नि) नियमेन (दधातु) स्थापयतु (नृम्णम्) अ० ४।२४।३। बलं धनं वा (इमम्) म० २०। मेथिम्। बोधम् (अभिसंविशध्वम्) म० २२ (दीर्घायुत्वाय) चिरजीवनाय (शतशारदाय) अ० १।३५।१। शतसंवत्सरयुक्ताय (आयुष्मान्। जरदष्टिः। यथा) म० १६ (असत्) भवेत् ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी ॥
इन्द्रः । बध्नातु । ते । मणिम् । जिगीवान् । अपराजितः ।
सोम-पाः । अभयम्-करः । वृषा ॥ सः । त्वा । रक्षतु । सर्वतः ।
दिवा । नक्तम् । च । विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

भाषार्थ—(स्वस्तिदाः) मङ्गल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा, (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा, (विमृधः) शत्रुओं को (वशी) वश में करने हारा, (जिगीवान्) विजयी, (अपराजितः) कभी न हराया गया, (सोमपाः) ऐश्वर्य की रक्षा करने हारा, (अभयङ्करः) अभय करने हारा, (वृषा) महाबली (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (ते) तुझको [हे मनुष्य !] (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] (बध्नातु) बांधे। (सः) वह (सर्वतः) सब प्रकार (दिवा नक्तं च) दिन और रात (विश्वतः) सब ओर से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना करके उत्तम नियमों का पालन कर सदा सुरक्षित रहें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का प्रथम भाग और कुछ अन्यपद आ चुके हैं—अ० १। २१ । १ ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—२६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३, ४–६, १३, १८, २०—२६ अनुष्टुप् ; २ बृहती ; १०, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; ११, १२, १४, १६ पथ्या पङ्क्तिः ; १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्करी ; १९ भुरिगनुष्टुप् ॥

२२—अस्य मन्त्रस्य बहवः पदार्थाः साधिताः—अ० १ । २१ । १ । अत्र तेषां पर्य्यायवाचिनो दीयन्ते (स्वस्तिदाः) क्षेमप्रदः (विशां पतिः) प्रजानां पालकः (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (विमृधः) शत्रून् (वशी) वशयिता (इन्द्रः) परमेश्वरः (बध्नातु) धारयतु (ते) तुभ्यम् (मणिम्) म० १ । श्रेष्ठनियमम् (जिगीवान्) अ० ४ । २२ । ६ । जयशीलः (अपराजितः) अनभिभूतः (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षकः (अभयङ्करः) अभयप्रदः (वृषा) महाबली (सः) इन्द्रः (त्वा) त्वाम् (रक्षतु) (सर्वतः) सर्वप्रकारेण (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ (च) (विश्वतः) सर्वासु दिक्षु ॥

गर्भरक्षोपदेशः—गर्भ की रक्षा का उपदेश ॥

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒तायाः॑ पति॒वेद॑नौ ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑धद॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सपः॑ ॥ १ ॥

यौ । ते॒ । मा॒ता । उ॒त्ऽम॒मार्ज॑ । जा॒तायाः॑ । प॒ति॒ऽवेद॑नौ ॥
दुः॒ऽनामा॑ । तत्र॑ । मा । गृ॒ध॒त् । अ॒लिंशः॑ । उ॒त । व॒त्सऽपः॑ ॥१॥

प॒ला॒लानु॑प॒ला॒लौ श॒र्कुं कोकं॑ मलि॒म्लुचं॑ प॒लीज॑कम् ।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑सस॒मृक्ष॑ग्रीवं प्र॒मीलि॑नम् ॥ २ ॥

प॒ला॒ल॒ऽअ॒नु॒प॒ला॒लौ । श॒र्कुम् । कोक॑म् । म॒लि॒म्लुच॑म् । प॒ली॒ज॑कम् ॥ आ॒ऽश्रेष॑म् । व॒व्रि॒ऽवा॒स॑सम् । ऋक्ष॑ऽग्रीवम् । प्र॒ऽमी॒लि॑नम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (ते जातायाः) तुझ उत्पन्न हुई की (माता) माता ने [तेरे] (यौ) जिन दोनों (पतिवेदनौ) ऐश्वर्य प्राप्त करने वालों [अर्थात् स्तनों) को (उन्ममार्ज) यथावत् धोया था। (तत्र) उन दोनों में [हो जाने वाला] (अलिंशः) शक्ति घटाने वाला (उत) और (वत्सपः) बच्चे नाश करने वाला (दुर्णामा) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाला थनेला आदि रोग का कीड़ा], (पलालानुपलालौ) मांस [का बढ़ाव] रोकने वाले और लगातार पुष्टि रोकने वाले, (शर्कुम्) क्लेश करने वाले, (कोकम्) भेड़िया [समान

१, २—(यौ) (ते) तव (माता) जननी (उन्ममार्ज)उत्कर्षेण शोधितवती (जातायाः) उत्पन्नायाः (पतिवेदनौ) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । पत ऐश्वर्ये—इन्+विद्लृ लाभे-ल्युट् । ऐश्वर्यप्रापकौ, स्तनावित्यर्थः (दुर्णामा) दुर् दुष्टं नाम यस्य । दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा—निरु० ६ । १२ / पापनामा पापप्रदेशे नतः परिणतः उत्पन्नः । इति देवराजयज्वा निरुक्तटीकाकारः। नामन्सोमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । म्ना अभ्यासे—मनिन्, यद्वा नमतेर्वा नमयतेर्वा-मनिन् । अथवा, नञ्पूर्वःअम रोगे—मनिन्, सर्वत्र निपातनात् सिद्धिः। उत्तरव्युत्पत्तौ (दुर्णामा) इति पदे द्वौ प्रतिषेधकौ एकं निश्चयं द्योतयेते, रोग-

बल छीनने वाले], (मलिम्लुचम्) मलिन चाल वाले, (पलीजकम्) चेष्टा में दोष लगाने वाले, (आश्रेषम्) अत्यन्त दाह वा कफ़ करने वाले, (वव्रिवाससम्) रूप हरलेने वाले, (ऋक्षग्रीवम्) गला दुखाने वाले, (प्रमीलिनम्) आखें मूंद देने वाले, [क्लेश] को (मा गृधत्) न चाहे ॥ १, २ ॥

भावार्थ—स्त्री सावधान रहे कि जिन स्तन आदि अङ्गों को उसकी माता ने जन्म दिन पर धोकर नीरोग बनाया था, उनमें रोग के कीड़े हो जाने के कारण बल हीन होकर बच्चे के दुःखदायी क्लेश न उत्पन्न हों ॥ १, २ ॥

कारकः—इत्यर्थः । नाम=उदकम्—निघ० १ । १२ । अतिक्रूररोगः । दुर्नाम अर्शो रोग इति शब्दकल्पद्रुमः (तत्र) स्तनद्वये वर्तमानः (मा गृधत्) गृधु अभिकाङ्क्षायाम्, माङि लुङि पुषादित्वादङ् । मा लिप्सेत (अलिंशः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अल भूषणपर्य्याप्तिशक्तिवारणेषु—इन् । खच्च डिद्वा वक्तव्यः । वा० पा० ३ । २ । ३८ । अलि + शंसु हिंसायाम्—खच्, स च डित्, मुम् च । शक्तिहिंसकः (उत) अपि च (वत्सपः) वत्स—पा पाने—क । वत्सपिबः । शिशुनाशकः (पलालानुपलालौ) पल गतौ रक्षणे च + अल वारणे—क । पलस्य मांसस्य वर्जकं निरन्तरगतिनिवारकं च तौ क्लेशौ (शर्कुम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शॄ हिंसायाम्—विच् । आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । शर् + डुकृञ् करणे—कु, स च डित् । क्लेशकरम् (कोकम्) कुक आदाने—पचाद्यच् । वृकं यथा बलस्य संहर्तारम् (मलिम्लुचम्) ज्योत्स्नातमिस्रा० । पा० ५ । २ । ११४ । मल—इनच् मत्वर्थे निपात्यते । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । म्लुच स्तेयकरणे-क, पृषोदरादित्वान् नलोपः । मलिम्लुचः स्तेनः—निघ० ३ । २४ । मलिनगतियुक्तम् (पलीजकम्) पल गतौ—विच् + ईज गतौ—ण्वुल् । चेष्टादूषकम् (आश्रेषम्) आ + श्लिष दाहे संसर्गे च—घञ् । लस्य रः । समन्तात् दाहकरं कफकरं वा (वव्रिवाससम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । वृञ् वरणे—कि द्विर्वचनम्, कित्वाद् गुणाभावः, यणादेशः । वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः—निरु० २ । ६ । वसेर्णित् । उ० ४ । ४१८ । वस अपहरणे—असुन् । रूपनाशकम् (ऋक्षग्रीवम्) ऋक्ष वधे-अच् । ऋक्षः क्लेशो ग्रीवायां यस्य तम् । वाहिताग्न्यादिषु । पा० २ । २ । ३७ । इति सप्तमी परा (प्रमीलिनम्) मील संकोचे—णिनि । प्रतिक्षणं संकुचन्नेत्रम् ॥

मन्त्र १ तथा २ युग्मक हैं ॥ (दुर्णामा) का अर्थ "कीड़े पापनामा अर्थात् बुरे स्थान में झुके वा उत्पन्न" किया है—देखो निरुक्त ६। १२ और देवराज यज्वा की टीका ॥

मा सं वृ॑तो मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृपोऽन्त॒रा ।
कृ॒णोम्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॒र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥

मा । सम् । वृ॒तः । मा । उप॑ । सृ॒पः। ऊ॒रू इति । मा । अव॑ । सृ॒पः । अ॒न्त॒रा ॥ कृ॒णोमि । अ॒स्यै॒ । भे॒ष॒जम् । ब॒जम् । दु॒र्ना॒म॒-चात॑नम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे रोग !] (मा सम् वृतः) तू मत घूमता रह, (मा उप सृपः) मत रींगता आ, (ऊरू अन्तरा) दोनों जांघों के बीच (मा अव सृपः) मत सरकता जा। (अस्यै) इस [स्त्री] के लिये (दुर्णामचातनम्) दुर्नाम-नाशक [दुष्ट नाम रोग मिटाने वाले] (बजम्) बलवान् (भेषजम्) औषध को (कृणोमि) बनाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य गर्भिणी स्त्री के लिये उत्तम ओषधि बनावे जिस से उसको कोई कठिन रोग न होवे ॥

दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।
अरा॑या॒नप॑ हन्मः सु॒नामा॒ स्त्रैण॒मिच्छ॑ताम् ॥ ४ ॥

दुः॒-नामा॑। च॒ । सु॒-नामा॑ । च॒ । उ॒भा। स॒म्-वृत॑म् । इ॒च्छ॒तः ॥ अरा॑यान् । अप॑ । ह॒न्मः । सु॒ नामा॑ । स्त्रैण॑म् । इ॒च्छ॒ताम् ॥ ४ ॥

३—(मा सम् वृतः) द्युद्भ्यो लुङि । पा० १ । ३ । ६१ । इति वृतु वर्तने परस्मै पदम्, द्युतादित्वाद् अङ् । संवर्तनं मा कुरु (मोप सृपः) उपसर्पणं मा कार्षीः (ऊरू अन्तरा) अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया । जानूपरिभागयोर्मध्ये (माव सृपः) अवाक सर्पणं मा कुरु (कृणोमि) करोमि (अस्यै) गर्भिण्यै (भेषजम्) औषधम् (बजम्) वज गतौ—अच्, वस्य बः । बलकरम् (दुर्णामचातनम्) चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । अतिकठिन-रोगस्य विनाशकम् ॥

भाषार्थ—(दुर्णामा) दुर्नाम [कठिन रोग] (च) और (सुनामा) सुनाम [स्वस्थपन] (च) भी (उभा) दोनों (संवृतम्) समीप रहना (इच्छतः) चाहते हैं। (अरायान्) अलक्ष्मी वाले [रोगों] को (अप हन्मः) हम मिटाते हैं, (सुनामा) सुनाम [स्वस्थपन] (स्त्रैणम्) स्त्री सम्बन्धी [शरीर] को (इच्छताम्) चाहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य समीपवर्ती रोग के कारणों को रोककर गर्भिणी का स्वास्थ्य बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

यः कृष्णः केश्यसु॑र स्तम्बुज उ॒त तुण्डि॑कः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽपं हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । के॒शी । असु॑रः । स्तम्ब-जः । उ॒त । तुण्डि॑कः ॥
अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप॑ । हन्मसि ५

भाषार्थ—(यः) जो [रोग] (कृष्णः) काला, (केशी) बहुत क्लेश वा बहुत केश वाला (असुरः) गिरानेवाला, (स्तम्बजः) बैठने के अङ्ग में उत्पन्न होनेवाला (उत) और (तुण्डिकः) कुरूप थूथन वा कुरूप नाभि वाला [है]। (अरायान्) अलक्ष्मीवाले [उन रोगों] को (अस्याः) इस [स्त्री]

४—(दुर्णामा) म० १। दुष्टरोगः (च) (सुनामा) सुभगः। स्वस्थभावः (च) (उभा) द्वौ (संवृतम्) वृतु वर्तने-क्विप्। समीपवर्तनम् (इच्छतः) (अरायान्) अ० २। २५। ३। अलक्ष्मीकान् रोगान् (अप हन्मः) विनाशयामः (सुनामा) (स्त्रैणम्) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्। पा० ४। १। ८७। स्त्री—नञ्। स्त्रीसम्बन्धि शरीरम् (इच्छताम्) आत्मने पदं छान्दसम्। इच्छतु ॥

५—(यः) रोग (कृष्णः) कालवर्णः (केशी) केश—इनि। क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५। ३३। क्लिश उपतापे अन्। क्लेशी। यद्वा के मस्तके शेते, शीङ् शयने—अच्, अलुक्समासः। बहुबालयुक्तः (असुरः) असेरुरन्। उ० १। ४२। असु क्षेपणे—उरन्। क्षेप्ता (स्तम्बजः) स्थः स्तोऽम्बजवकौ। उ० ४। ९६। तिष्ठतेः—अम्बच्, स्तादेशः। स्तम्बे स्थित्यङ्गे जातः (उत) अपि च

के (मुष्काभ्याम्) दोनों अण्ड कोशों से और (भंससः) गुप्त स्थान से (अप हन्मसि) हम मिटाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग गर्भिणी स्त्री के मर्म स्थानों के कुरोगों की चिकित्सा करते रहें, जिससे बालक बलवान् और नीरोग हो ॥ ५ ॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनु-जिघ्रम् । प्र-मृशन्तम् । क्रव्य-अदम् । उत । रेरिहम् ॥
अरायान् । श्व-किष्किणः । बजः । पिङ्गः । अनीनशत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अनुजिघ्रम्) लगातार सुड़कनेवाले, (प्रमृशन्तम्) छूजाने वाले (क्रव्यादम्) मांस खानेवाले (उत) और (रेरिहम्) अति चोट करने वाले [ऐसे] (अरायान्) अलक्ष्मी वाले और (श्वकिष्किणः) कुत्ते समान सताने वाले [रोगों] को (बजः) बली और (पिङ्गः) पराक्रमी [पुरुष] ने (अनीनशत्) नाश करदिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—बलवान् और पराक्रमी स्त्री पुरुषों को शरीर का मांस और बल घटानेवाले रोग नहीं सताते हैं ॥ ६ ॥

(तुण्डिकः) सर्वधातुभ्य इन्—उ० ४ । ११८ । तुडि तोडने—इन् । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति—क । कुरूपमुखः । कुत्सितनाभः (अरायान्) अलक्ष्मीकान् रोगान् (अस्याः) गर्भिण्याः (मुष्काभ्याम्) अण्डकोशाभ्याम् (भंससः) अ० २ । ३३ । ५ । गुह्यस्थानात् (अपहन्मसि) विनाशयामः ॥

६—(अनुजिघ्रम्) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । अनु + घ्रा गन्धोपादाने—शः । पाघ्राध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । जिघ्रादेशः । निरन्तरं घ्राणशीलम् (प्रमृशन्तम्) मृश स्पर्शने—शतृ । प्रकर्षेण स्पर्शशीलम् (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं रोगम् (उत) अपि च (रेरिहम्) रिह हिंसादिषु, यङि लुकि—पचाद्यच् । अतिहिंसकम् (अरायान्) अलक्ष्मीकान् (श्वकिष्किणः) किष्क हिंसायाम्—णिनि । कुक्कुरसदृशपीडकान् (बजः) म० ३ । बली (पिङ्गः) पिजि बले दीप्तौ च—अच्, न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वम् । पा० ७ । ३ । ५३ । पराक्रमी पुरुषः (अनीनशत्) अ० १ । १२७ । २ । नाशितवान् ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
ब्रजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥
यः । त्वा । स्वप्ने । नि-पद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिता-इव । च ॥ ब्रजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीब-रूपान् । तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो कोई (त्वा) तेरे पास (स्वप्ने) सोते में (भ्राता) भाई [समान] (च) और (पिता इव) पिता के समान (भूत्वा) होकर (निपद्यते) आ जावे । (ब्रजः) बली [पुरुष) (तान्) उन सब (क्लीबरूपान्) हिजड़े [समान] रूपवाले (तिरीटिनः) घातकों को (इतः) यहां से (सहताम्) हरा देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पति आदि सावधान रहें कि कोई छली पुरुष गर्भिणी को सोते में न सतावे ॥ ७ ॥

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥
यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ॥ छायाम्-इव । प्र । तान् । सूर्यः । परि-क्रामन् । अनीनशत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (त्वा) तुझ (स्वपन्तीम्) सोती हुई को

७—(यः) पुरुषः (त्वा) गर्भिणीम् (स्वप्ने) निद्रायाम् (निपद्यते) अभिगच्छति । प्राप्नोति (भ्राता) सहोदर इव (भूत्वा) विश्वासं जनयन् (पिता इव) जनक इव, तद्रूपधारी (च) (ब्रजः) मं० ३ । बली पुरुषः (तान्) (सहताम्) अभिभवतु (इतः) अत्र (क्लीबरूपान्) षण्ढरूपधारिणः (तिरीटिनः) कृतृकृपिभ्यः कीटन् । उ० ४ । १८५ । तॄ अभिभवे—कीटन् , मत्वर्थे इनि । अभिभवशीलान् । घातकान् ॥

८—(यः) (त्वा) त्वाम् (स्वपन्तीम्) निद्रावतीम् (त्सरति) त्सर

(त्सरति) छलता है, (यः) जो (त्वा) तुझ (जाग्रतीम्) जागती हुई को (दिप्सति) मारना चाहता है। (परिक्रामन्) घूमते हुये (सूर्यः) सूर्य [समान पुरुष] ने (तान्) उन सब को (छायाम् इव) छाया के समान (प्र अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सावधान पति आदि सोती और जागती गर्भिणी के पास से दुष्टों को ऐसे हटावें जैसे परिक्रमा करता हुआ सूर्य अन्धकार को ॥ ८ ॥

मन्त्र ७ तथा ८ का मिलान करो—ऋग्वेद १० । १६२ । ५, ६ ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

यः । कृणोति । मृत-वत्साम् । अव-तोकाम् । इमाम् । स्त्रियम् ॥ तम् । ओषधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अञ्जिवम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [रोग] (इमाम्) इस (स्त्रियम्) स्त्री को (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली और (अवतोकाम्) पतितगर्भ वाली (कृणोति) करता है। (ओषधे) हे ओषधि ! [अन्न आदि पदार्थ] (त्वम्) तू (अस्याः) इस [स्त्री] के (तम्) उस (कमलम्) कामना रोकनेवाले और (अञ्जिवम्) कान्ति [शोभा] हरनेवाले [रोग] को (नाशय) नाश कर ॥ ९ ॥

छद्मगतौ । कपटेन प्राप्नोति (यः) (त्वा) (दिप्सति) अ० ४ । ३६ । १ । हन्तुमिच्छति (जाग्रतीम्) प्रबुद्धाम् (छायाम्) अन्धकारम् (इव) यथा (तान्) सर्वान् (सूर्यः) (परिक्रामन्) आकाशे परिभ्रमन् (अनीनशत्) नाशितवान् ॥

९—(यः) रोगः (कृणोति) करोति (मृतवत्साम्) मृतबालकाम् (अवतोकाम्) अवपन्नगर्भाम् (इमाम्) गर्भिणीम् (स्त्रियम्) (तम्) रोगम् (ओषधे) अ० १ । ३० । ३ । अन्नादिपदार्थ (त्वम्) (नाशय) निवारय (अस्याः) गर्भिण्याः (कमलम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कमु कान्तौ—विच्+अल वारणे—अच् । कामनावारकम् (अञ्जिवम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अञ्ज व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—इन् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । अञ्जि+वा गतिगन्धनयोः—क । कान्तिनाशकम् । शोभाहर्तारम् ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि स्त्री उत्तम अन्न ओषधि आदि के सेवन से नीरोग रहकर बालक की पालना और फिर भी गर्भ की रक्षा करके कामना पूरी करती हुई शोभा बढ़ावे ॥ ६ ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय १० (१४)

ये । शालाः । परि-नृत्यन्ति । सायम् । गर्दभ-नादिनः ॥ कुसूलाः । ये । च । कुक्षिलाः । ककुभाः । करुमाः । स्त्रिमाः ॥ तान् । ओषधे । त्वम् । गन्धेन । विषूचीनान् । वि । नाशय १०(१४)

भावार्थ—(ये) जो (गर्दभनादिनः) गधे समान नाद करनेवाले [कीड़े] (सायम्) सायंकाल में (शालाः) घरों के (परिनृत्यन्ति) आस पास नाचते हैं । (च) और (ये) जो (कुसूलाः) चिपट जानेवाले [अथवा अन्न के कोठे के समान आकार वाले], (कुक्षिलाः) बड़े पेटवाले, (ककुभाः) शरीर में टेढ़े दिखाई देने वाले, (करुमाः) मन को पीड़ा देने वाले, (स्त्रिमाः) चलने फिरने वाले [वा सुखाने वाले] हैं । (ओषधे) हे ओषधि ! [वैद्य] (त्वम्) तू (गन्धेन) गन्ध से (तान्) उन (विषूचीनान्) फैले हुये [कीड़ों] को (वि नाशय) विनष्ट कर दे ॥ १० ॥

१०—(ये) मशकादयः क्रमयः (शालाः) गृहाणि (परिनृत्यन्ति) परितो नृत्यन्ति (सायम्) दिनान्ते (गर्दभनादिनः) गर्दभसमानघोषयुक्ताः (कुसूलाः) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ । उ० । ४ । ९० । कुस श्लेषे-ऊल । श्लेषणशीलाः । यद्वा, कुशूलाकृतयः, अन्नकोष्ठकाकाराः (ये) (च) (कुक्षिलाः) प्लुषिकुषिशुषिभ्यःक्सिः । उ० ३ । १५५ । कुष निष्कर्षे-क्सि । प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । ९६ । बाहुलकात् लच् मत्वर्थे । बृहत्कुक्षयः । महोदराः (ककुभाः) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । क+कु+भा दीप्तौ-क । के देहे कु कुत्सितं भान्ति ये ते (करुमाः) कच दीप्तौ-ड । अविसिविशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । रुङ् वधे-मन्, कित् । कं मनो रवन्ते ये । मनःपीडकाः (स्त्रिमाः) अविसिवि० । उ० १ । १४४ । स्त्रिवु गतिशोषणयोः—मन्,

भावार्थ—मनुष्य कस्तूरी, केशर, कपूर, अगर, तगर, आदि हव्य पदार्थों का अग्नि में होम करके रोगजनक क्रिमियों को घर से नाश करें ॥१०॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति। क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥११॥

ये। कुकुन्धाः। कुकूरभाः। कृत्तीः। दूर्शानि। बिभ्रति॥ क्लीबाः-इव। प्र-नृत्यन्तः। वने। ये। कुर्वते। घोषम्। तान्। इतः। नाशयामसि ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (कुकुन्धाः) कुत्सित ध्वनि रखने वाले [भिनभिनाने वाले], (कुकूरभाः) भूसे के अग्नि समान चमकने वाले [कीड़े] (कृत्तीः) कतरनियों [छेदन शक्तियों] और (दूर्शानि) दुष्ट हिंसाकर्मों को (बिभ्रति) रखते हैं। (ये) जो (क्लीबाः इवः) हीजड़ों के समान (प्रनृत्यन्तः) नाचते हुये [कीड़े] (वने) घर में (घोषम्) कूक (कुर्वते) करते हैं, (तान्) उन को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

क्विप्। लोपो व्योर्वलि। पा० ६। १। ६६। वलोपः। गतिशीलाः। शोषकाः (तान्) क्रिमीन् (ओषधे) (त्वम्) (गन्धेन) हव्यद्रव्यगन्धेन (विषूचीनान्) अ०।३।७।१। विषु+अञ्चतेः—क्विन्, खप्रत्ययः। सर्वतोगतीन् (विनाशय)॥

११—(ये) क्रमयः (कुकुन्धाः) कु कुत्सितम्। डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्। वा० पा० ३। २। १८०। कु शब्दे—डु। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। कु+कु+दधातेः-क। अलुक्समासः। कुत्सितध्वनिधारकाः (कुकूरभाः) कोः भूमेः कूलं कुत्सितं वा कूलम्, कु शब्दे—ऊलच्, धातोः कुगागमश्च। भा दीप्तौ—क, लस्य रः। कुकूल इव तुषानलो यथा भान्ति ये (कृत्तीः) कृती छेदने—क्तिन्। छेदनशक्तीः (दूर्शानि) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। दुर्+शॄ हिंसायाम्—ड, दीर्घश्छान्दसः। दुर्दुष्टानि शानि हिंसाकर्माणि (बिभ्रति) धारयन्ति (क्लीबाः) क्लीबृ अप्रागल्भ्ये—अच्। नपुंसकाः (इव) यथा (प्रनृत्यन्तः) गात्रविक्षेपणं कुर्वन्तः (वने) वन सेवने—अच्। निवासे (ये) (कुर्वते) कुर्वन्ति (घोषम्) नादम् (तान्) क्रमीन् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) घातयामः॥

भावार्थ—मनुष्य रोगजनक छोटे छोटे कीड़ों को सुगन्धित द्रव्यों के धूम आदि से नाश करते रहें ॥ ११ ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः। अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मकंकान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये। सूर्यम्। न। तितिक्षन्ते। आ-तपन्तम्। अमुम्। दिवः॥ अरायान्। बस्त-वासिनः। दुः-गन्धीन्। लोहित-आस्यान्। मकंकान्। नाशयामसि ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [उल्लू आदि] (दिवः) आकाश से (आतपन्तम्) चमकते हुये (अमुम्) उस (सूर्यम्) सूर्य को (न) नहीं (तितिक्षन्ते) सहते हैं। (अरायान्) [उन] अलक्ष्मी वालों, (वस्तवासिनः) बकरे समान वस्त्र वालों, (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध वालों, (लोहितास्यान्) रुधिर मुख वालों, (मककान्) टेढ़ी गति वालों को (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य उल्लू, चिमगादड़ आदि जन्तुओं को, जिन से दुर्गन्ध फैलती है, हटावें ॥ १२ ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

ये। आत्मानम्। अति-मात्रम्। अंसे। आ-धाय। बिभ्रति ॥

१२—(ये) उलूकादयो जन्तवः (सूर्यम्) (न) निषेधे (तितिक्षन्ते) तिज क्षमायां स्वार्थे सन्। सहन्ते (आतपन्तम्) सर्वतो दीप्यमानम् (अमुम्) प्रसिद्धम् (दिवः) आकाशात् (अरायान्) अश्रीकान् (वस्तवासिनः) बस्त गतिहिंसायाचनेषु—घञ्. वस आच्छादने—घञ्, इनि। छाग इव वस्त्रोपेतान् (दुर्गन्धीन्) गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः। पा० ५। ४। १३५। बाहुलकाद् गन्धस्य इकारादेशः। दुष्टगन्धोपेतान् (लोहितास्यान्) रुधिरोपेतमुखान् (मककान्) मकि भूषे गतौ च—अच्, नुमभावः। कुत्सिते। पा० ५। ३। ७४। क प्रत्ययः। कुत्सितगतीन् (नाशयामसि) ॥

स्त्रीणाम् । श्रोणि-प्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥१३

भाषार्थ—(ये) जो [कीड़े अपने] (आत्मानम्) आत्मा को (अंसे) पीड़ा देने में (अतिमात्रम्) अत्यन्त (आधाय) लगाकर (बिभ्रति) रखते हैं। और (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (श्रोणिप्रतोदिनः) कटिभाग में व्यथा करने वाले हैं, [इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ! [उन] [रक्षांसि] राक्षसों को (नाशय) नष्ट करदे ॥ १३ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग गर्भिणी स्त्रियों के दुःखदायी कीड़ों और रोगों को नाश करें ॥ १३ ॥

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः । आपाकेष्ठाः प्रहासिनं स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये । पूर्वे । वध्वः । यन्ति । हस्ते । शृङ्गाणि । बिभ्रतः ॥ आपाके-स्थाः । प्र-हासिनः । स्तम्बे । ये । कुर्वते । ज्योतिः । तान् । इतः । नाशयामसि ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [कीड़े] (हस्ते) हाथ में (शृङ्गाणि) हिंसाकर्मों को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (वध्वः) वधू के (पूर्वे) सन्मुख (यन्ति) चलते हैं। (ये) जो [कीड़े] (आपाकेष्ठाः) पाकशाला वा कुम्हार के आवां

१३—(ये) क्रमयो रोगा वा (आत्मानम्) मनः (अतिमात्रम्) यथा तथा। अत्यर्थम् (अंसे) अमेः सन्। उ० ५। २१। अम पीडने—सन्। पीडने (आधाय) समन्ताद्धृत्वा (बिभ्रति) धरन्ति (स्त्रीणाम्) गर्भिणीनाम् (श्रोणिप्रतोदिनः) वहिश्रिश्रुयुद्रु०। उ० ४। ५१। श्रु गतौ भ्वा०—नि + प्रतुद व्यथने-णिनि। कटिभागपीडकान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् वैद्य (रक्षांसि) तान् दुःखदायिनः (नाशय) घातय ॥

१४—(ये) क्रमयः (पूर्वे) अग्रे (वध्वः) आडभावः। वध्वाः। स्त्रियाः (यन्ति) गच्छन्ति (हस्ते) करे (शृङ्गाणि) शृणातेर्ह्रस्वश्च। उ० १। १२६। शॄ हिंसायाम्—गन् नुट् च। हिंसाकर्माणि (बिभ्रतः) धारयन्तः (आपाकेष्ठाः)

में बैठने वाले, (प्रहासिनः) ठट्ठा मारते हुये [जैसे] (स्तम्बे) बैठने के स्थान में (ज्योतिः) ज्वाला [जलन, चमक वा पीड़ा] (कुर्वते) करते हैं, (तान्) उन [कीड़ों] को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—घरों, पाकशालाओं और आवाओं में कूड़ा कर्कट एकत्र हो कर उष्णता के कारण रोग जनक कीड़े उत्पन्न होते हैं, मनुष्य ऐसे स्थानों को शुद्ध रक्खें ॥ १४ ॥

येषां पुश्चात् प्रपंदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा । खलजाः शंकधूमजा उरुंण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुंष्का अयाशवः । तानुस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेनं नाशय ॥१५॥

येषाम् । पुश्चात् । प्र-पंदानि । पुरः । पार्ष्णीः । पुरः । मुखा ॥ खलु-जाः । शुकुधुम-जाः । उरुंण्डाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भ-मुंष्काः । अयाशवः ॥ तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । पते । प्रति-बोधेनं । नाशय ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन [कीड़ों] के (पश्चात्) पीछे को (प्रपदानि) पांव के अगले भाग, (पुरः) आगे को (पार्ष्णीः) एड़ियां और (पुरः) आगे (मुखा) मुख हैं। (च) और (ये) जो [कीड़े] (खलजाः) खलियान में उत्पन्न होने वाले, (शकधूमजाः) गोबर वा लीद के धुयें से उत्पन्न होने वाले,

---

पाकशालायां कुम्भकारस्य मृत्पात्रपाकस्थाने वा स्थिताः (प्रहासिनः) अट्टहासं कुर्वन्त इव (स्तम्बे) अ० ८। ६ ।५। स्थितिस्थाने (ये) (कुर्वते) उत्पादयन्ति (ज्योतिः) अ० १। ९। १। ज्वालाम्। ज्वलनम्। पीडनम् (तान्) क्रमीन् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) ॥

१५—(येषाम्) क्रमीणाम् (पश्चात्) पश्चाद् भागे (प्रपदानि) पादाग्रभागाः (पुरः) पुरस्तात् (पार्ष्णीः) अ० २। ३३। ५। पार्ष्णयः। गुल्फस्याधोभागाः (पुरः) (मुखा) मुखानि (खलजाः) खल चलने—अच्। धान्यमर्दनस्थाने जाताः (शकधूमजाः) गवाश्वादिपुरीषोत्पन्नाः (उरुण्डाः) उरु बहुनाम—निघ० ३। १। खच्च डिद्वा वाच्यः। वा० पा० ३।२।३८। गमेर्निर्दिष्टोऽपि

(उरुण्डाः) बहुत इकट्ठे किये गये, (मट्मटाः) अत्यन्त पीड़ा देने वाले, (कुम्भमुष्काः) घड़े समान अण्डकोश वाले और (अयाशवः) रेंगकर खाने वाले हैं। (ब्रह्मणः पते) हे वेद रक्षक ! [वैद्य] (प्रतिबोधेन) अपने प्रत्यक्ष बोध से (तान्) उन [कीड़ों] को (अस्याः) इस [स्त्री के पास] से (नाशय) नाश करदे ॥ १५ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग कुरूप, क्लेशदायक कीड़ों को जो कूड़े कर्कट के कारण उत्पन्न होते हैं, घर से नष्ट करदें ॥ १५ ॥

पर्य॑स्ताक्षा अप्र॑चङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्ड॑गाः । अव॑ भेषज पादय य इमां सं॒विवृ॑त्सत्यप॑तिः स्वप॒तिं स्त्रिय॑म् १६

पर्य॑स्त-अक्षाः । अप्र॑-चङ्कशाः । अस्त्रैणाः । सन्तु । पण्ड॑गाः । अव॑ । भेषज । पादय । यः । इमाम् । सम्-विवृ॑त्सति । अप॑तिः । स्वप॒तिम् । स्त्रिय॑म् ॥ १६ ॥

भावार्थ—(पण्डगाः) पण्डाओं [तत्त्वविवेकियों] के निन्दक, (पर्यस्ताक्षाः) व्यवहार से गिरे हुये पुरुष (अप्रचङ्कशाः) न कदापि शासन कर्ता और (अस्त्रैणाः) न [हमारी] स्त्रियों में मिलनेवाले (सन्तु) होवें। (भेषज) हे भय निवारक पुरुष ! [उसको] (अव पादय) गिरा दे, (यः)

बाहुलकात्, डप राशीकरणे—रुच्, डित्। बहुराशीकृताः (ये) क्रमयः (च) (मट्मटाः) मट अवसादने-सौत्रधातुः—विच् + मट—अच्। मटश्च ते मटाश्च ते। अत्यन्तपीडकाः (कुम्भमुष्काः) घटसमानाण्डकोशयुक्ताः (अयाशवः) एरच्। पा० ३। ३। ५६। इण् गतौ—अच्। कृवापा०। उ० १। १। अश भोजने—उण्। अयेन गमनेन। सर्पणेन आशवो भक्षकाः (तान्) क्रमीन् (अस्याः) स्त्रियाः सकाशात् (ब्रह्मणस्पते) बृहतो वेदस्य रक्षक पुरुष (प्रतिबोधेन) स्वप्रत्यक्षज्ञानेन (नाशय) ॥

१६—(पर्यस्ताक्षाः) प्रच्युतव्यवहाराः (अप्रचङ्कशाः) अ + प्र + कश गतिशासनयोः हिंसने च यङ्लुकि, अच्। जपजभदह०। पा० ७। ४। ८६। बाहुलकात् नुक। न कदापि शासकाः (अस्त्रैणाः) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ। पा० ४। १। ८७। स्त्री—नञ। न स्त्रीषु युक्ताः (सन्तु) (पण्डगाः) पण्डा तत्त्वगा

जो (अपतिः) पति न होकर (इमाम्) इस (स्वपतिम्) अपने पति वाली (स्त्रियम्) स्त्री के पास (संविवृत्सति) आना चाहता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा कुबुद्धि, व्यभिचारी, पतिव्रताओं के ठगने वाले पुरुषों को यथावत् दण्ड देवे ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥ १७ ॥

उत्-हर्षिणम् । मुनि-केशम् । जम्भयन्तम् । मरीमृशम् ॥ उप-एषन्तम् । उदुम्बलम् । तुण्डेलम् । उत । शालुडम् ॥ पदा । प्र । विध्य । पार्ष्ण्या । स्थालीम् । गौः-इव । स्पन्दना ॥१७॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (उद्धर्षिणम्) अति झूठ बोलने वाले, (मुनिकेशम्) मुनियों के क्लेश देनेवाले, (जम्भयन्तम्) नाश करनेवाले, (मरीमृशम्) बरबस हाथ डालने वाले, (उपेषन्तम्) अधिक आने जाने वाले, (उदुम्बलम्) मार पीट का सेवन करनेवाले, (तुण्डेलम्) तोड़ फोर के करने वाले, (उत) और (शालुडम्) घमंडी को (प्र विध्य) छेद डाल, (इव) जैसे

बुद्धिर्यस्य स पण्डः । पण्डा—अर्श आद्यच्+गर्ह विनिन्दने—ड । पण्डगर्हकाः तत्त्वविवेकिनिन्दकाः (भेषज) हे भयनिवारक पुरुष (अव पादय) नीचैर्गमय (यः) खलः (इमाम्) (संविवृत्सति) वर्ततेः सनि । वृद्भ्यः स्यसनोः । पा० १ । ३ । ९२ । इति परस्मैपदम् । संवर्तितुं संगन्तुमिच्छति (अपतिः) पतिभिन्नः सन् (स्वपतिम्) स्वपतिना युक्ताम् । पतिव्रताम् (स्त्रियम्) ॥

१७—(उद्धर्षिणम्) उत् + हृषु अलीके मिथ्याकरणे—णिनि । अतिमिथ्यावादिनम् (मुनिकेशम्) मनेरुच्च । उ० ४ । १२३ । मन ज्ञाने-इन्, अस्य उकारः । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ क्लिशू विबाधने—अन्, ललोपः । मुनीनां मननशीलानां विदुषां क्लेशकम् (जम्भयन्तम्) जभि नाशने-शतृ । नाशयन्तम् (मरीमृशम्) मृश स्पर्शे यङ्लुकि—अच् । रीगृदुपधस्य च । पा० ७ । ४ । ९० । इति रीक् । अत्यन्तस्पर्शकम् (उपेषन्तम्) जॄविशिभ्यां झच् । उ०

(स्पन्दना) कूदने वाली (गौः) गाय (पदा) लात से और (पार्ष्ण्या) एड़ी से (स्थालीम्) हांड़ी को ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा शिष्टों की रक्षा करके दुष्टोंको सर्वथा दण्ड देतारहे ॥१७

यस्ते॒ गर्भं॑ प्रतिमृ॒शाज्जा॒तं वा॑ मा॒रया॑ति ते ।
पि॒ङ्गस्तमु॒ग्रध॑न्वा कृणोतु॑ हृदया॒विध॑म् ॥ १८ ॥

यः । ते॒ । गर्भ॑म् । प्र॒ति॒-मृ॒शात् । जा॒तम् । वा॒ । मा॒रया॑ति । ते॒ ॥ पि॒ङ्गः । तम् । उ॒ग्र-ध॑न्वा । कृ॒णो॒तु॒ । हृ॒द॒या॒विध॑म् १८

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (प्रतिमृशात्) दबा देवे, (वा) अथवा (ते) तेरे (जातम्) उत्पन्न [बालक] को (मारयाति) मारडाले । (उग्रधन्वा) प्रचण्ड धनुष् वाला (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (तम्) उसको (हृदयाविधम्) हृदय में बरमे [से छेद] वाला (कृणोतु) करे ॥ १८ ॥

१२६ । उप अधिके+इष गतौ—क्विप् । एङि पररूपम् । पा० ६ । १ । ९४ । अधिकमेषन्तं गतिशीलम् (उदुम्बलम्) पॄभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । उड संहतौ संहनने, सौत्रो धातुः—कु । संज्ञायां भृतॄवृ० । पा० ३ । २ । ४६ । वृञ् वरणे-खच् , मुम् च । डस्य दः, वस्य बः, रस्य लः । उडुंवरम् । संहननस्वीकर्तारम् (तुण्डेलम्) तुडि दारणे हिंसने च—अच्+इल प्रेरणे—क । हिंसाप्रेरकम् (उत) अपि च (शालुडम्) असेरुरन् । उ० १ । ४२ । शाल कत्थने—उरन् , रस्य डः । आत्मश्लाघिनम् (पदा) पादेन (प्र) प्रकर्षेण (विध्य) ताडय (पार्ष्ण्या) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागेन (स्थालीम्) स्थाचतिमृजेरालज्० । उ० १ । ११६ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—आलच् , गौरादित्वाद् ङीष् । पात्रम् (गौः) (इव) यथा (स्पन्दना) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ७८ । स्पदि किञ्चिच्चलने—युच् , टाप् । चलनशीला ॥

१८—(यः) घातकः (ते) तव (गर्भम्) भ्रूणम् (प्रतिमृशात्) प्रतिकूलं मृशेत् । स्पृशेत् । पीडयेत् (जातम्) उत्पन्नं बालकम् (वा) अथवा (मारयाति) मारयेत् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी राजा (उग्रधन्वा) प्रचण्डचापः (कृणोतु) करोतु (हृदयाविधम्) आङ्+व्यध ताडने—घञर्थे क । हृदये

भावार्थ—राजा भ्रूण हत्यारे और बाल हत्यारे की छाती में बर्मा चला कर नष्ट कर देवे ॥ १८ ॥

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥१९॥

ये । अम्नः । जातान् । मारयन्ति । सूतिकाः । अनु-शेरते ॥ स्त्री-भागान् । पिङ्गः । गन्धर्वान् । वातः । अभ्रम्-इव । अजतु ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अम्नः) पीड़ा देने वाले (जातान्) उत्पन्न बालकों को (मारयन्ति) मार डालते हैं और (सूतिकाः) सोहर वाली स्त्रियों को (अनुशेरते) अप्रिय करते हैं। (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (स्त्रीभागान्) स्त्रियों के सेवन करने वाले, (गन्धर्वान्) [उन] दुःखदायी पीड़ा देने वालों को (अजतु) हटा देवे, (इव) जैसे (वातः) वायु (अभ्रम्) अभ्र [मेघ] को ॥१९॥

भावार्थ—जिन रोगों से बच्चे मर जाते हैं और स्त्रियों को प्रसूति रोग हो जाते हैं, वैद्य उनको सर्वथा हटावे ॥ १९ ॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

आविधः काष्ठादिवेधनसाधनं सूच्याकाराग्रमस्त्रं यस्य तम् । आविध्रेन हृदये छिद्रम् ॥

१९—(ये) (अम्नः) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । अम-पीडने—न प्रत्ययः, जसः सुः । अम्नाः पीडका रोगाः (जातान्) उत्पन्नान् बालकान् (मारयन्ति) विनाशयन्ति (सूतिकाः) षूङ् प्राणिप्रसवे—क्त, कन्, अत इत्वम् । नवप्रसूताः स्त्रीः (अनुशेरते) अनुपूर्वः शीङ् अनुशये, अत्यन्तद्वेषे । अत्यन्तं द्विषन्ति (स्त्री-भागान्) स्त्रीसेवनान् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी पुरुषः (गन्धर्वान्) अ० २ । १ । २ । गन्ध अर्दने—अच् + अर्व हिंसायाम्-अच् । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । दुःखदायिनश्च ते पीडकाश्च ते तान् दुःखदायिपीडकान् (वातः) वायुः (अभ्रम्) अप् + भृ— क, यद्वा अभ्र गतौ— क । मेघम् (इव) (अजतु) क्षिपतु ॥

परि-सृष्टम् । धारयतु । यत् । हितम् । मा । अव । पादि । तत् ॥ गर्भम् । ते । उग्रौ । रक्षताम् । भेषजौ । नीवि-भार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (परिसृष्टम्) सब प्रकार युक्त [कर्म] [तुझे] (धारयतु) धारण करे, (यत्) जो (हितम्) हित है, (तत्) वह (मा अव पादि) न गिर जावे। (उग्रौ) दोनों नित्य सम्बन्ध वाले, (नीविभार्यौ) नीति [नियम] से धारण करने योग्य, (भेषजौ) भय जीतने वाले [बल और पराक्रम, अर्थात् शारीरिक और आत्मिक सामर्थ्य] (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ की (रक्षताम्) रक्षा करें ॥ २० ॥

भावार्थ—गर्भिणी समुचित कर्म से शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ा कर गर्भ रक्षा करे ॥ २० ॥

पवीनसात् तङ्गल्वा३ च्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

पवि-नसात् । तङ्गल्वात् । छायकात् । उत । नग्नकात् ॥ प्र-जायै । पत्ये । त्वा । पिङ्गः । परि । पातु । किमीदिनः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(पवीनसात्) वज्र समान टेढ़े से, (तङ्गल्वात्) गति रोकने वाले से, (छायकात्) काटने वाले से (उत) और (नग्नकात्) नंगे करने वाले (किमीदिनः) लुतरे पुरुष से (प्रजायै) प्रजा के लिये और (पत्ये) पति के

२०—(परिसृष्टम्) सृज विसर्गे-क्त । सर्वतो युक्तं कर्म (धारयतु) दधातु-त्वामिति शेषः (यत्) गर्भरूपं वस्तु (हितम्) अभिमतम् (मा अव पादि) अवपन्नं विस्रस्तं मा भूत् (तत्) (गर्भम्) (ते) तव (उग्रौ) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । उच समवाये—रन्, अन्तो निपातः । समवेतौ (रक्षताम्) (भेषजौ) भयजेतारौ । बलपराक्रमौ (नीविभार्यौ) अ० ८ । २ । १६ । वृद्भ्यां विन् । उ० ४ । ५३ । णीञ् प्रापणे –विन्+भृञ् धारणे—ण्यत् । नीव्या नीत्या नियमेन धारणीयौ ॥

२१—(पवीनसात्) पविर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । सांहितिको दीर्घः । णस कौटिल्ये—अच् । वज्रवत्कुटिलात् (तङ्गल्वात्) अन्येष्वपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । तगि गतौ—विच् । कॄगॄशॄदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । अल वारणे—

लिये (त्वा) तुझको (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (परि पातु) सब ओर से बचावे ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा कुकर्मी दुष्टों से स्त्रियों की रक्षा करे ॥ २१ ॥

द्व्यास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्वि-आस्यात् । चतुः-अक्षात् । पञ्च-पादात् । अनङ्गुरेः ॥ वृन्तात् । अभि । प्र-सर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥२२॥

भाषार्थ—(द्व्यास्यात्) दुमुहे से, (चतुरक्षात्) चार आंखों वाले से, (पञ्चपादात्) पांच पैर वाले से, (अनङ्गुरेः) बिना चेष्टा वाले से। (वृन्तात्) फल पत्र आदि के डंठल से (अभि) चारों ओर को (प्रसर्पतः) रेंगने वाले (वरीवृतात्) टेढ़े टेढ़े घूमनेवाले [कीड़े] से (परि) सब ओर से (पाहि) बचा ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखदायी कुरूप दुष्ट कीड़ों से सदा रक्षा करे ॥ २२ ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

च। गतिनिवारकात् (छायकात्) छो छेदने—ण्वुल्। छेदकात् (उत) अपि च (नग्नकात्) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। नग्न + करोतेर्डः। नग्नकारकात् (प्रजायै) प्रजार्थम् (पत्ये) पतिरक्षार्थम् (त्वा) स्त्रियम् (पिङ्गः) म० ६। पराक्रमी पुरुषः (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (किमीदिनः) अ० १।७।१। पिशुनात् ॥

२२—(द्व्यास्यात्) मुखद्वययुक्तात् (चतुरक्षात्) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०। पा० ५।४।११३। अक्षि—षच्। चतुर्नेत्रोपेतात् (पञ्चपादात्) पादपञ्चकयुक्तात् (अनङ्गुरेः) ऋतन्यञ्जिवन्य०। उ० ४।२। अगि गतौ—उलि, लस्य रः। चेष्टारहितात् (वृन्तात्) वृ वरणे—क, नुम् च। फलपत्रादिबन्धनात् (अभि) अभितः (प्रसर्पतः) प्रसर्पकात् (परि) (पाहि) (वरीवृतात्) वृतु वर्तने यङ्लुकि—पचाद्यच्। रीगृदुपधस्य च। पा० ७।४।९०। रीगागमः। कुटिलं वर्तनशीलात् कृमेः ॥

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ॥ गर्भान् । खादन्ति । केश-वाः । तान् । इतः । नाशयामसि ॥२३॥

भाषार्थ—(ये) जो [कीड़े] (आमम्) कच्चे (मांसम्) मांस को (च) और (ये) जो (पौरुषेयम्) पुरुष के (क्रविः) मांस को (अदन्ति) खाते हैं। (केशवाः) और क्लेश पहुंचानेवाले [रोग वा कीड़े] (गर्भान्) गर्भों को (खादन्ति) खाते हैं। (तान्) उन सब को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग रोग जनक कीड़ों और रोगों को गर्भिणी स्त्री से अलग करें ॥ २३ ॥

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

ये । सूर्यात् । परि-सर्पन्ति । स्नुषा-इव । श्वशुरात् । अधि ॥ बजः । च । तेषाम् । पिङ्गः । च । हृदये । अधि । नि । विध्यताम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [उल्लू चोर आदि] (सूर्यात्) सूर्य से (अधि) अधिकार पूर्वक (परिसर्पन्ति) खिसक जाते हैं, (इव) जैसे (स्नुषा)

२३—(ये) क्रमयः (आमम्) अपक्वम् (मांसम्) आमिषम् (अदन्ति) (पौरुषेयम्) अ० ७ । १२५ । १ । पुरुषस्य सम्बन्धि (च) (ये) (क्रविः) अ० ८ । ३ । १५ । मांसम् (गर्भान्) उदरस्थबालकान् (खादन्ति) भक्षयन्ति । नाशयन्ति (केशवाः) क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । क्लिशू विबाधने अन्, ललोपः + वह प्रापणे-ड । क्लेशस्य वाहकाः प्रापकाः क्रमयो रोगा वा (तान्) सर्वान् (इतः) अस्मात् (नाशयामसि) ॥

२४—(ये) चोरादयो हिंस्रजन्तवो वा (परिसर्पन्ति) पृथग् गच्छन्ति (स्नुषा) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् । उ० । ३ । ६६ । ष्णु प्रस्रवणे-सप्रत्ययः, टाप् ।

पतोह्र (श्वशुरात्) ससुर से । (बजः) बली (च) और (पिङ्गः) पराक्रमी [पुरुष] (च) भी (तेषाम्) उनके (हृदये) हृदय में (अधि) अधिकार पूर्वक (नि) निरन्तर (विध्यताम्) छेद डालें ॥ २४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् बलवान् पुरुष डरपोक चोर आदि और हिंसक जन्तुओं का नाश करें ॥ २४ ॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दंभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥२५॥

पिङ्ग । रक्ष । जायमानम् । मा । पुमांसम् । स्त्रियम् । क्रन् ॥ आण्ड-अदः । गर्भान् । मा । दभन् । बाधस्व । इतः । किमीदिनः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(पिङ्ग) हे परक्रमी पुरुष ! (जायमानम्) उत्पन्न होते हुये [सन्तान] को (रक्ष) बचा, (आण्डादः) अण्डे [गर्भ] खाने वाले [रोग वा कीड़े] (पुमांसम्) पुरुष [वा] (स्त्रियम्) स्त्री [बालक] को (मा क्रन्) न मारें और (गर्भान्) गर्भों को (मा दभन्) नष्ट न करें, (इतः) यहां से (किमीदिनः) लुतरों को (बाधस्व) हटा दे ॥ २५ ॥

स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसानिनीति वा स्वपत्यं तत्सनोतीति वा—निरु० १२ । ६ । पुत्रवधूः (इव) यथा (श्वशुरात्) शावसेराप्तौ । उ० १ । ४४ । शु + अशू व्याप्तौ—उरन् । आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः—निरु० ६ । १ । शीघ्रव्याप्तव्यात् पतिजनकात् (अधि) अधिकृत्य (बजः) म० ३ । बली पुरुषः (च) (तेषाम्) पूर्वोक्तानाम् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी (च) अपि (हृदये) (अधि) अधिकृत्य (नि) निश्चयेन (विध्यताम्) ताडयताम् ॥

२५—(पिङ्ग) म० ६ । हे पराक्रमिन् (रक्ष) (जायमानम्) उत्पद्यमानम् (पुमांसम्) पुरुषसन्तानम् (स्त्रियम्) स्त्रीबालकम् (मा क्रन्) कृञ् हिंसायाम्-लुङ् । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेलुक् । मा हिंसन्तु (आण्डादः) अमन्ताड्डः । उ० १ । ११४ । अम गत्यादिषु—ड । डस्य इत्वं न । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे—अण् । अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । अद भक्षणे—विट् अण्डानां गर्भस्थसन्तानानां भक्षकाः (गर्भान्) (मा दभन्) मा हिंसन्तु (बाधस्व) पीडय (इतः) (किमीदिनः) म० २१ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी बलवान् पुरुष स्त्रियों की रक्षा करें जिससे सन्तान और गर्भ नष्ट न होवें ॥ २५ ॥

अ॒प्र॒जा॒स्त्वं मार्तवत्समाद्रोद॑म॒घमा॑व॒यम्।
वृ॒क्षादि॑व॒ स्रजं॑ कृ॒त्वाप्रि॑ये॒ प्रति॑ मुञ्च॒ तत् ॥२६॥ (१६)

अ॒प्र॒जाः-त्वम्। मार्त॑-वत्सम्। आत्। रोद॑म्। अ॒घम्। आ॒-व॒यम् ॥ वृ॒क्षात्-इ॑व। स्र॒जम्। कृ॒त्वा। अप्रि॑ये। प्रति॑। मु॒ञ्च। तत् ॥ २६ ॥ (१६)

भाषार्थ—(अप्रजास्त्वम्) विना सन्तान होना, (मार्तवत्सम्) बच्चों का मर जाना (आत्) और (रोदम्) रोदन करना (अघम्) पाप और (आवयम्) सब ओर से दुःख के योग को । (तत्) उसे (अप्रिये) अप्रिय पर (प्रति मुञ्च) छोड़ दे (इव) जैसे (वृक्षात्) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को (कृत्वा) बनाकर [छोड़ते हैं] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि उनके सन्तान उत्पन्न होकर क्लेशों से बचकर दीर्घ आयु प्राप्त करें ॥ २६ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१—२८ ॥ ओषधयो देवताः ॥ १, ७, ८, ११, १३, १४, १६—२३, २६—२८,

२६—(अप्रजास्त्वम्) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । अप्रजा—असिच्, भावे त्व, छान्दसो दीर्घः । अप्रजस्त्वम् । सन्तानराहित्यम् (मार्तवत्सम्) भावे अण । मृतबालत्वम् (आत्) अपि च (रोदम्) रुदिर् अश्रुविमोचने—घञ् । रोदनम् (अघम्) पापम् (आवयम्) आ + व + यम् । वा गतिगन्धनयोः—ड, युजिर् योगे—ड । आ समन्तात् वस्य गन्धनस्य हिंसनस्य यं योगम् (वृक्षात्) द्रुमात् (इव) यथा (स्रजम्) अ० १ । १४ । १ । पुष्पमालाम् (कृत्वा) निर्माय (अप्रिये) द्वेष्ये (प्रति मुञ्च) प्रत्यक्षं मोचय (तत्) पूर्वोक्तं कर्म ॥

अनुष्टुप् ; २ भुरिगुपरिष्टाद्बृहती ; ३ विराट्पुर उष्णिक् ; ४ अतिजगती ; ५, ६, १०, २५ पथ्यापङ्क्तिः ; ९ आर्च्यनुष्टुप् ; १२ निचृदतिशक्वरी ; १५ त्रिष्टुप् ; २४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ॥

रोगविनाशोपदेशः—रोग के विनाश का उपदेश ॥

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः ।
असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः॒ सर्वा॑ अ॒च्छाव॑दामसि ॥१॥

याः । ब॒भ्रवः॑ । याः । च॒ । शु॒क्राः । रोहि॑णीः । उ॒त । पृश्न॑यः ॥
असि॑क्नीः । कृ॒ष्णाः । ओष॑धीः । सर्वाः॑ । अ॒च्छ॒-आव॑दामसि १

भाषार्थ—(याः) जो (बभ्रवः) पुष्ट करनेवाली [वा भूरे रङ्ग वाली (च) और (याः) जो (शुक्राः) वीर्यवाली [वा चमकीली] (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली [वा रक्त वर्ण] (उत) और (पृश्नयः) स्पर्श करने वाली [वा अति सूक्ष्म] । (असिक्नीः) निर्बन्ध [वा श्याम वर्ण], (कृष्णाः) आकर्षण करने वाली [वा काले रंग वाली] (ओषधीः) (ओषधियां) हैं, (सर्वाः) उन सब को (अच्छावदामसि) हम अच्छे प्रकार चाहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पौष्टिक उत्तम अन्न आदि ओषधियों का सेवन करके उन्नति करें ॥ १ ॥

त्राय॑न्तामि॒मं पुरु॑षं॒ यक्ष्मा॑द् दे॒वेषि॑ता॒दधि॑ । यासां॒
द्यौष्पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता स॑मु॒द्रो मूलं॑ वी॒रुधां॑ ब॒भूव॑ २

१—(याः) (बभ्रवः) अ० ४ । २९ । २ । पौष्टिकाः । पिङ्गलवर्णाः (शुक्राः) अ० २ । ११ । ५ । वीर्यवत्यः । कान्तिवत्यः (रोहिणीः) अ० १ । २२ । ३ । स्वास्थ्योत्पादयित्र्यः । रक्तवर्णाः (उत) अपि च (पृश्नयः) अ० २ । १ । १ । स्पर्शनशीलाः । स्वल्पाः (असिक्नीः) अ० १ । २३ । १ । अबद्धशक्तयः । श्यामवर्णाः (कृष्णाः) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । कृष आकर्षणे विलेखने च—नक् । आकर्षणशीलाः । नीलवर्णाः (ओषधीः) अ० १ । ३० । ३ । ओषधयः । धान्यादयः (अच्छावदामसि) अ० ६ । ५९ । ३ । सुष्ठु आवदामः । प्रार्थयामहे ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देव-इषितात् । अधि ॥ यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ २ ॥

भाषार्थ—वे [ओषधियां] (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (देवेषितात्) उन्माद से प्राप्त हुये (यक्ष्मात्) राज रोग से (अधि) अधिकार पूर्वक (त्रायन्ताम्) रक्षा करें। (यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली [अन्न आदि ओषधियों] का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाली और (समुद्रः) समुद्र [जल] (मूलम्) जड़ (बभूव) हुआ था ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि अनेक ओषधियों की उत्पत्ति और गुण जान करके उनके सेवन से यथावत् रक्षा करें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आचुका है—अ० ३ । २३ । ६ ॥

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्यं १ मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । ओषधयः ॥ ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात्-अङ्गात् । अनीनशन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्रम्) पहिले (दिव्याः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधियां [अन्न आदि पदार्थ] [थीं] (ताः) उन्हों ने

२—(त्रायन्ताम्) रक्षन्तु (इमम्) प्रसिद्धम् (पुरुषम्) प्राणिनम् (यक्ष्मात्) अ० २ । १० । ५ । राजरोगात् (देवेषितात्) दिवु मदे—अच् + इष गतौ—क्त । उन्मादात् प्राप्तात् (अधि) अधिकृत्य (द्यौष्पिता) छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः । पा० ८ । ३ । ४६ । विसर्जनीयस्य वा सकारः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ३ । २३ । ६ ॥

३—(आपः) जलानि (अग्रम्) सृष्ट्यादौ (दिव्याः) उत्तमगुणाः (ओषधयः) अन्नादयः (ताः) (ते) तव (यक्ष्मम्) राजरोगम् (एनस्यम्)

(एनस्यम्) पाप से उत्पन्न हुये (यक्ष्मम्) राजरोग को (ते) तेरे (अङ्गादङ्गात्) अङ्ग अङ्ग से (अनीनशन्) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके प्राणियों की रक्षा की है ॥ ३ ॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि । अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

प्र-स्तृणतीः । स्तम्बिनीः । एक-शुङ्गाः । प्र-तन्वतीः । ओषधीः । आ । वदामि ॥ अंशु-मतीः । काण्डिनीः । याः । वि-शाखाः । ह्वयामि । ते । वीरुधः । वैश्व-देवीः । उग्राः । पुरुष-जीवनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्रस्तृणतीः) बहुत ढकने वाली [पत्तों वाली], (स्तम्बिनी) बहुत गुच्छों वाली, (एकशुङ्गाः) एक कोंपल वाली, (प्रतन्वतीः) बहुत फैली हुई (ओषधीः) ओषधियों को (आ वदामि) मैं भले प्रकार बुलाता हूं । (अंशुमतीः) बहुत कोंप वाली, (काण्डिनीः) बड़े गुद्दों वाली, (विशाखाः) बहुत टहनियों वाली, (वैश्वदेवीः) सब दिव्य गुणवाली, (उग्राः) बल वाली

तत्र जातः । पा० ४ । ३ । २५ । यप्रत्ययः । पापोद्भवम् (अङ्गादङ्गात्) सर्वावयवात् (अनीनशन्) अ० १ । २४ । २ । नाशितवत्यः ॥

४—(प्रस्तृणतीः) स्तृञ् आच्छादने—शतृ, ङीप् । बह्वाच्छादयतीः । बहुपत्रवती (स्तम्बिनीः) स्थः स्तोऽम्बजवकौ । उ० ४ । ९६ । तिष्ठतेः—अम्बच्, स्तादेशः; स्तम्ब—इनि । बहुगुच्छयुक्ताः (एकशुङ्गाः) शम शान्तौ—ग, तस्य नेत्वं निपातनादत उत्वं च—इति शब्दस्तोममहानिधिः । एकशूकाः । एक—तीक्ष्णाग्रयुक्ताः (प्रतन्वतीः) बहुविस्तारवतीः (ओषधीः) (आ) समन्तात् (वदामि) ह्वयामि (अंशुमतीः) कोमलपल्लवोपेताः (काण्डिनीः) स्कन्धवतीः (याः) (विशाखाः) विविधशाखावतीः (ह्वयामि) (ते) तुभ्यम् (वीरुधः)

(पुरुषजीवनीः) मनुष्यों का जीवन करने वालियों को (ते) तेरे लिये (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं, (याः) जो (वीरुधः) विविध प्रकार उगने वाली बेल बूटी हैं ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य विविध प्रकार अन्न, वृक्ष और औषधों को भले प्रकार निरीक्षण करके उपयोग करें ॥ ४ ॥

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्चं वो बलम्। तेने-ममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥

यत्। वः। सहः। सहमानाः। वीर्यम्। यत्। च। वः। बलम् ॥ तेन। इमम्। अस्मात्। यक्ष्मात्। पुरुषम्। मुञ्चत। ओषधीः। अथो इति। कृणोमि। भेषजम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सहमानाः) हे बल वालियों! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (सहः) पराक्रम और (वीर्यम्) वीरत्व (च) और (यत्) जो (वः) तुम्हारा (बलम्) बल है। (ओषधीः) हे ताप नाशक ओषधियो! (तेन) उस से (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (अस्मात्) इस (यक्ष्मात्) राजरोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ, (अथो) अब, मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पदार्थों के गुणों का परीक्षण करके विघ्नों को हटावें ॥५॥

अ० १। ३२। १। विरोहणशीला लतादयः (वैश्वदेवीः) सर्वदिव्यगुणयुक्ताः (उग्राः) प्रचण्डा बलवतीः (पुरुषजीवनीः) मनुष्याणां प्राणाधाराः ॥

५—(यत्) (वः) युष्माकम् (सहः) पराक्रमः (सहमानाः) हे अभिभवशीलाः (वीर्यम्) वीरत्वम् (यत्) (च) (वः) (बलम्) (तेन) (इमम्) समीपस्थम् (अस्मात्) (यक्ष्मात्) राजरोगात् (पुरुषम्) मनुष्यम् (मुञ्चत) मोचयत (ओषधीः) अ० १। २३। १। हे ओषधयः। तापनाशयित्र्यः (अथो) आरम्भे। इदानीम् (कृणोमि) करोमि (भेषजम्) औषधम् ॥

जी॒व॒लां न॑घारि॒षां जी॒व॒न्तीमोष॑धीम॒हम् । अ॒रु॒न्ध॒तीमु॒न्नय॑न्तीं पु॒ष्पां मधु॑मतीमि॒ह हु॑वे॒ऽस्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ६

जी॒व॒लाम् । न॒घ॒ऽरि॒षाम् । जी॒व॒न्तीम् । ओष॑धीम् । अ॒हम् ॥ अ॒रु॒न्ध॒तीम् । उ॒त्ऽनय॑न्तीम् । पु॒ष्पाम् । मधु॑ऽमतीम् । इ॒ह । हु॒वे॒ । अ॒स्मै । अ॒रि॒ष्टऽता॑तये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जीवलाम्) जीवन देने वाली, (नघरिषाम्) न कभी हानि करने वाली, (जीवन्तीम्) जीव रखने वाली, (अरुन्धतीम्) रोक न डालने वाली, (उन्नयन्तीम्) उन्नति करने वाली, (पुष्पाम्) बहुत पुष्प वाली, (मधुमतीम्) मधुर रस वाली (ओषधीम्) ताप नाशक [अन्न आदि ओषधि] को (इह) यहां (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) शुभ करने के लिये (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परीक्षण पूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ८ । २ । ६ ॥

इ॒हा य॑न्तु॒ प्रचे॑तसो मे॒दिनी॒र्वच॑सो॒ मम॑ ।
यथे॒मं पा॒रया॑मसि॒ पुरु॑षं दुरि॒ताद॑धि ॥ ७ ॥

इ॒ह । आ । य॒न्तु॒ । प्रऽचे॑तसः । मे॒दिनीः॑ । वच॑सः । मम॑ ॥ यथा॑ । इ॒मम् । पा॒रया॑मसि । पुरु॑षम् । दुः॒ऽइ॒तात् । अधि॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतसः मम) मुझ बड़े ज्ञानी के (वचसः) वचन की (मेदिनीः) प्रीति करने वाली [ओषधियां] (इह) यहां (आ यन्तु) आवें ।

६—(अरुन्धतीम्) अ० ४ । १२ । १ । अवारयित्रीम् (उन्नयन्तीम्) उन्नतिकरीम् (पुष्पाम्) अर्श आद्यच्, टाप् । बहुपुष्पवतीम् (मधुमतीम्) माधुर्योपेताम् । अन्यत्पूर्ववत्—अ० ८ । २ । ६ ॥

७—(इह) अत्र (आ यन्तु) आगच्छन्तु (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानयुक्तस्य (मेदिनीः) ञिमिदा स्नेहने—अच्, मेद—इनि, ङीप् । स्नेहवत्यः । ओषधयः

(यथा) जिससे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरितात्) कष्ट से (अधि) यथावत् (पारयामसि) हम पार लगावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्वदर्शी वैद्य यथावत् वार्तालाप करके युक्त ओषधियों द्वारा क्लेश मिटावें ॥ ७ ॥

अ॒ग्नेर्घा॒सो अ॒पां गर्भो॒ या रोह॑न्ति पुन॒र्णवाः॑ ।
ध्रु॒वाः स॒हस्र॑नाम्नीर्भेष॒जीः स॒न्त्वाभृ॑ताः ॥ ८ ॥

अ॒ग्नेः । घा॒सः । अ॒पाम् । गर्भः॑ । याः । रोह॑न्ति । पुनः॑-नवाः ॥
ध्रु॒वाः । स॒हस्र॑-नाम्नीः । भे॒ष॒जीः । स॒न्तु॒ । आ-भृ॑ताः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्नेः) अग्नि का (घासः) भोजन [अग्नि बढ़ाने वाली] और (अपाम्) जलों का (गर्भः) गर्भ [जल से युक्त], (या) जो (पुनर्णवाः) वारंवार नवीन [ओषधियां] (रोहन्ति) उत्पन्न होती हैं। [वे] (ध्रुवाः) दृढ़ गुण वाली, (सहस्रनाम्नीः) सहस्रों नाम वाली (आभृताः) यथावत् भरी हुई, (भेषजीः) भय जीतने वाली [ओषधियां] (सन्तु) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि अर्थात् शरीरबल बढ़ाने वाली, रसीली, हरी उत्तम ओषधियों का उपयोग करें ॥ ८ ॥

अ॒व॒का॑ल्बा उ॒द॒का॑त्मान॒ ओष॑धयः ।
व्यृ॑षन्तु दुरि॒तं ती॑क्ष्णशृ॒ङ्ग्यः॑ ॥ ९ ॥

अ॒वका॑-उल्बाः । उ॒द॒क॑-आत्मानः । ओष॑धयः ॥
वि । ऋ॒ष॒न्तु॒ । दुः-इ॒तम् । ती॒क्ष्ण-शृ॒ङ्ग्यः॑ ॥ ९ ॥

(वचसः) वचनस्य (मम) (यथा) (इमम्) (पारयामसि) तारयामः (पुरुषम्) (दुरितात्) कष्टात् (अधि) अधिकृत्य ॥

८—(अग्नेः) तापस्य । शरीरबलस्य (घासः) अ० ४ । ३८ । ७ । भोजनम् (अपाम्) जलानाम् (गर्भः) आधारः (याः) ओषधयः (रोहन्ति) उद्भवन्ति (पुनर्णवाः) वारंवारं नवीनोत्पन्नाः (ध्रुवाः) दृढगुणाः (सहस्रनाम्नीः) बहुनामवत्यः (भेषजीः) भयजेत्र्यः । ओषधयः (सन्तु) (आभृताः) यथावत्पोषिताः ॥

भाषार्थ—(अवकोल्वाः) पीड़ा को जलाने वाली, (उदकात्मानः) जल को जीवन रखने वाली, (तीक्ष्णशृङ्ग्यः) [रोग को] तीक्ष्ण काट करने वाली (ओषधयः) ओषधियां (दुरितम्) कष्ट को (वि) बाहिर (ऋषन्तु) निकलें ॥ ९ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग परीक्षित उत्तम ओषधियों से रोग की चिकित्सा करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः । अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः॥१०॥१७

उत्-मुञ्चन्तीः । वि-वरुणाः । उग्राः । याः । विष-दूषणीः ॥ अथो इति । बलास-नाशनीः । कृत्या-दूषणीः । च । याः । ताः । इह । आ । यन्तु । ओषधीः ॥ १० ॥ (१७)

भाषार्थ—(याः) जो (उन्मुञ्चन्तीः) [रोग से] मुक्त करने वाली, (विवरुणाः) विशेष करके स्वीकार करने योग्य, (उग्राः) बड़े बल वाली, (विषदूषणीः) विष हरने वाली । (अथो) और भी (याः) जो (बलासनाशनीः) बल गिराने वाले [सन्निपात, कफादि] को नाश करने वाली (च)

९—(अवकोल्वाः) अवका-उल्वाः कृञादिभ्यः० । उ० ५।३५। अव हिंसायाम्—वुन्, टाप् । उल्वादयश्च । उ० ४। ९५। उल दाहे, सौ० धा०—वन्, वस्य वः । हिंसादाहिकाः (उदकात्मानः) जलप्रधानाः (ओषधयः) (वि) बहिर्भावे (ऋषन्तु) ऋषी गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः। गमयन्तु (दुरितम्) कष्टम् (तीक्ष्णशृङ्ग्यः) तिजेर्दीर्घश्च । उ० ३ । १८ । तिज निशाने—क्स्नः । शृणातेर्ह्रस्वश्च उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन् , नुट् च । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४। १। ४१। ङीष् । रोगस्य तीक्ष्णकर्तनाः ॥

१०—(उन्मुञ्चन्तीः) रोगात् मोचयित्र्यः (विवरुणाः) विशेषेण वरणीयाः स्वीकरणीयाः (उग्राः) प्रबलाः (याः) ओषधयः (विषदूषणीः) अ० ६। १००। १। विषनिवारयित्र्यः (अथो) अपि च (बलासनाशनीः) बलासो बलस्य असिता—अ० ४। ९। ८। श्लेष्मादिरोगनाशयित्र्यः (कृत्यादूषणीः)

और (कृत्यादूषणीः) पीड़ा मिटाने वाली हैं, (ताः) वे सब (ओषधीः) ओषधियां (इह) यहां (आ यन्तु) आवें ॥ १० ॥

भावार्थ—वैद्य लोग परीक्षित उत्तम ओषधियों का उपयोग करके रोग शान्ति करें ॥ १० ॥

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अप-क्रीताः । सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभि-स्तुताः । त्रायन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम् ११

भाषार्थ—(याः) जो (अपक्रीताः) यथावत् मोल ली गई, (सहीयसीः) अधिक बल वाली, (अभिष्टुताः) उत्तम गुण वाली (वीरुधः) ओषधियां हैं। वे (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़े, (पुरुषम्) पुरुष और (पशुम्) पशु [भैंस बकरी आदि] को (त्रायन्ताम्) पालें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम वस्तुओं द्वारा उपकारी प्राणियों की यथावत् रक्षा करें ॥ १ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव । मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

मधु-मत् । मूलम् । मधु-मत् । अग्रम् । आसाम् । मधु-मत् ।

कृत्या हिंसाक्रिया—अ० ४ । ६ । ५ । पीडाखण्डयित्र्यः (च) (याः) (ताः) (इह) (आयन्तु) आगच्छन्तु (ओषधीः) तापनाशकाः पदार्थाः ॥

११—(अपक्रीताः) यथाविधि मूल्येन प्राप्ताः (सहीयसीः) सोढृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयस्सु ॥ पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः बलवत्तराः (वीरुधः) ओषधयः (याः) (अभिष्टुताः) सर्वतः प्रशंसिताः (त्रायन्ताम्) पालयन्तु (अस्मिन्) (ग्रामे) अ० ४ । ७ । ५ । गृहसमूहे (गाम्) (अश्वम्) (पुरुषम्) (पशुम्) महिष्यजादिकम् ॥

मध्यंम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ मधु-मत् । पुर्णम् । मधु-मत् । पुष्पंम् । आसाम् । मधोः । सम्-भंक्ताः । अमृतस्य । भक्षः । घृतम् । अन्नम् । दुहुताम् । गो-पुरोगवम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आसाम् वीरुधाम्) इन ओषधियों का (मूलम्) मूल (मधुमत्) मधुर, (अग्रम्) सिरा (मधुमत्) मधुर, (मध्यम्) मध्य (मधुमत्) मधुर, (पर्णम्) पत्र (मधुमत्) मधुर, (पुष्पम्) फूल (मधुमत्) मधुर (बभूव) हुआ था, (आसाम्) इनका (अमृतस्य) अमृत का (भक्षः) भोजन [है], (मधोः) मधुरता में (संभक्ताः) पूरी तत्पर वे [ओषधें] (गोपुरोगवम्) गौ को अग्रगामी [प्रधान] रखने वाले (घृतम्) घी और (अन्नम्) अन्न को (दुहताम्) भरपूर करें ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न, तृण आदि ओषधियों के भागों के गुणों से यथावत् उपकार लेकर गौ आदि जीवों की रक्षा करके घृत अन्न आदि परिपूर्ण करें ॥१२

यावंतीः कियंतीश्चेमाः पृंथिव्यामध्योषधीः ।
ता मां सहस्रपुर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चुन्त्वंहंसः ॥ १३ ॥

यावंतीः । कियंतीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । ओषंधीः । ताः । मा । सहस्र-पर्ण्यः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहंसः ॥ १३॥

भाषार्थ—(यावतीः) जितनी (च) और (कियतीः) कितनी [विविध परिमाण और गुणवाली] (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां (पृथि-

१२—(मधुमत्) माधुर्योपेतम् (मूलम्) (अग्रम्) उपरिभागः (पर्णम्) पत्रम् (पुष्पम्) पुष्प विकाशे—अच् । कुसुमः (मधोः) मधुनः । माधुर्य्यस्य (संभक्ताः) भज सेवायाम्—क्त । सम्यक्तत्पराः (अमृतस्य) अमरणस्य (भक्षः) भक्ष अदने—घञ् । भोजनम् (घृतम्) आज्यम् (अन्नम्) (दुहताम्) अ० ७ । ८२ । ६ । प्रपूरयन्तु (गोपुरोगवम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ—डो । गच्छतीति गौः । गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ९२ । पुरोगो—टच् । पुरोगच्छतीति पुरोगवः । गावो धेनवः पुरोगव्यः प्रधाना यस्य तत् । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१३—(यावतीः) यत्परिमाणयुक्ताः (कियतीः) बहुगुणोपेता इत्यर्थः

व्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर [हैं] । (सहस्रपर्ण्यः) सहस्रों पोषण वाली (ताः) वे सब (मा) मुझको (मृत्योः) मरण [आलस्य] से और (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि ओषधियों द्वारा बल बढ़ाकर सुखी होवें १३

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्ति-पाः ।
अमीवाः । सर्वा । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् १४

भाषार्थ—(वीरुधाम्) ओषधियों का (वैयाघ्रः) व्याघ्र सम्बन्धी [महाबली] (त्रायमाणः) रक्षा करता हुआ, (अभिशस्तिपाः) पीड़ा से रक्षा करने वाला (मणिः) मणि [उत्तम गुण] (अमीवाः) रोगों को और (सर्वा) सब (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (अस्मत्) हम से (दूरम्) दूर (अधि) अधिकार पूर्वक (अप हन्तु) हटा देवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम पदार्थों के सेवन से नीरोग और पुष्टाङ्ग होवें १

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः । गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

(इमाः) (पृथिव्याम्) भूमौ (अधि) उपरि (ओषधीः) (ताः) (मा) माम् (सहस्रपर्ण्यः) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः—न प्रत्ययः । बहुपालनोपेताः (मृत्योः) मरणात् । आलस्यात् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) आहननात् कष्टात् ॥

१४—(वैयाघ्रः) व्याघ्र—अण् । व्याघ्रसम्बन्धी । महाबली (मणिः) प्रशस्तगुणः (वीरुधाम्) ओषधीनाम् (त्रायमाणः) पालयन् (अभिशस्तिपाः) अ० २ । १३ । ३ । पीडायाः सकाशाद् रक्षकः (अमीवाः) अ० ७ । ४२ । १ । रोगान् (सर्वा) शेर्लुक् । सर्वाणि (रक्षांसि) राक्षसान् । विघ्नान् (अप हन्तु) विनाशयतु (अधि) अधिकम् (दूरम्) (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् ॥

सिं॒हस्य॑-इव । स्त॒नथो॑ः । सम् । वि॒ज॒न्ते॒ । अ॒ग्नेः॑-इ॒व । वि॒ज॒न्ते॒ । आ-भृ॑ताभ्यः । गवा॑म् । यक्ष्म॑ः । पुरु॑षाणाम् । वी॒रुत्-भिः॑ । अति॑-नुत्तः । ना॒व्याः॑ । ए॒तु॒ । स्रो॒त्याः॑ ॥ १५ ॥

भावार्थ—वे [रोग] (आभृताभ्यः) सब प्रकार पुष्ट की हुई [ओषधियों] से (विजन्ते) डरते हैं, (इव) जैसे (सिंहस्य) सिंह की (स्तनथोः) गर्जन से और (इव) जैसे (अग्नेः) अग्नि से (सम् विजन्ते) [प्राणी] डरकर भागते हैं। (गवाम्) गौओं का और (पुरुषाणाम्) पुरुषों का (यक्ष्मः) राज रोग (वीरुद्भिः) ओषधियों करके (नाव्याः) नौका से उतरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों के (अतिनुत्तः) पार प्रेरणा किया गया (एतु) चला जावे ॥१५॥

भावार्थ—जहां पर मनुष्य अन्न आदि ओषधियों का उचित प्रयोग करते हैं, वहां रोग नदी रूप इन्द्रियों से दूर चले जाते हैं ॥ १५ ॥

मु॒मु॒चा॒ना ओष॑धयो॒ऽग्नेर्वै॑श्वान॒राद॑धि ।
भूमिं॑ संत॒न्वती॑रित॒ यासां॒ राजा॒ वन॒स्पतिः॑ ॥ १६ ॥

मु॒मु॒चा॒नाः । ओष॑धयः । अ॒ग्नेः । वै॒श्वा॒न॒रात् । अधि ॥ भूमि॑म् । सम् त॒न्व॒तीः । इ॒त॒ । यासा॑म् । राजा॑ । व॒न॒स्पतिः॑ ॥१६॥

भाषार्थ—(मुमुचानाः) [रोग से] छुड़ाने वाली (ओषधयः) ओषधियां (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) अग्नि [सर्वव्यापक

१५—(सिंहस्य) अ० ४।८।७। हिंस्रजन्तुविशेषस्य (इव) यथा (स्तनथोः) अ० ५।३१।६। गर्जनात् (सम् विजन्ते) अ० ५।२१।६। भयेन चलन्ति प्राणिन इति शेषः (अग्नेः) पावकात् (इव) (विजन्ते) बिभ्यति रोगा इति शेषः (आभृताभ्यः) समन्तात् पोषिताभ्यो वीरुद्भ्यः (गवाम्) धेनूनाम् (यक्ष्मः) राजरोगः (वीरुद्भिः) ओषधीभिः (अतिनुत्तः) णुद प्रेरणे—क्त। अतीत्य प्रेरितः (नाव्याः) अ० ८।५।६। नावा पार्याः (एतु) गच्छतु (स्रोत्याः) अ० १।१३२।३। नदीः ॥

१६—(मुमुचानाः) रोगात्मोचयित्र्यः (ओषधयः) (अग्नेः) अ० ८।२।२७। अग्निं सर्वव्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (वैश्वानरात्) सर्वनरहित-

परमेश्वर] का आश्रय लेकर (अधि) अधिकार पूर्वक (भूमिम्) भूमि को (संतन्वतीः) ढांकती हुयी तुम (इत) चलो, (यासाम्) जिनका (राजा) राजा (वनस्पतिः) सेवनीय पदार्थों का स्वामी [सोम रस है] ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से यथावत् उपयोग लेवें ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥१७॥

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ॥ ताः । नः । पयस्वतीः । शिवाः । ओषधीः । सन्तु । शम् । हृदे ॥१७॥

भाषार्थ—(याः) जो (आङ्गिरसीः) ऋषियों करके बतलाई गईं (पर्वतेषु) पर्वतों पर (च) और (समेषु) चौरस ठौरों में (रोहन्ति) उगती हैं। (ताः) वे (पयस्वतीः) दूधवाली, (शिवाः) कल्याणी (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) होवें ॥ १७ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग शास्त्रोक्त ओषधियों को दूर और समीप स्थानों से लाकर संसार में नीरोगता करें ॥ १७ ॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥१८॥

याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पश्यामि । चक्षुषा ॥ अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासु । विद्म । च । सम्-भृतम् १८

मित्यर्थः (अधि) अधिकृत्य (भूमिम्) (संतन्वतीः) आच्छादयन्त्यः (यासाम्) ओषधीनाम् (राजा) (वनस्पतिः) अ० १ । १२ । ३ । वननीयानां सेवनीयानां पदार्थानां स्वामी ॥ सोमः सोमरसः ॥

१७—(याः) (रोहन्ति) उद्भवन्ति (आङ्गिरसीः) अ० ८ । ५ । ६ । ऋषिभिः प्रोक्ताः (पर्वतेषु) (शैलेषु) (समेषु) साधुस्थानेषु (च) (ताः) (नः) अस्माकम् (पयस्वतीः) दुग्धवत्यः (शिवाः) कल्याण्यः (ओषधीः) तापनाशका अन्नादिपदार्थाः (सन्तु) (शम्) शान्ताः (हृदे) हृदयाय ॥

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥
सर्वाः । सम्-अग्राः । ओषधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ॥
यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुः-इतात् । अधि ॥१९॥

भाषार्थ—(च) और (याः) जिन (वीरुधः) ओषधियों को (अहम्) मैं (वेद) जानता हूं, (च) और (याः) जिनको (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यामि) देखता हूं। (च) और (याः) जिन (अज्ञाताः) अनजानी हुई [ओषधियों को] (जानीमः) हम जानें (च) और (यासु) जिनमें (संभृतम्) पोषण सामर्थ्य (विद्म) हम जानें। [वे] (सर्वाः समग्राः) सब की सब (ओषधीः) ओषधियां (मम वचसः) मेरे वचन का (बोधन्तु) बोध करें। (यथा) जिससे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरितात्) कष्ट से (अधि) यथावत् (पारयामसि) हम पार लगावें ॥ १८,१९ ॥

भावार्थ—विद्वान् वैद्य शास्त्रोक्त ओषधियों का और अपनी आविष्कृत ओषधियों का प्रचार संसार में नीरोगता बढ़ने के लिये करें ॥ १८, १९ ॥

मन्त्र १८,१९ युग्मक हैं। मन्त्र १९ का उत्तर भाग मन्त्र सात में आ चुका है ॥

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥ (१८)
अश्वत्थः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ॥
व्रीहिः । यवः । च । भेषजौ । दिवः । पुत्रौ । अमर्त्यौ २०(१८)

१८,१९—(याः) (च) (अहम्) (वेद) जानामि (वीरुधः) ओषधीः (याः) (च) (पश्यामि) अवलोकयामि (चक्षुषा) नेत्रेण (अज्ञाताः) अपरीक्षिताः (जानीमः) आविष्कुर्मः (याः) (विद्म) जानीमः (च) (संभृतम्) सम्यक् पोषणम् (सर्वाः समग्राः) समस्ता एव (ओषधीः) (बोधन्तु) बोधं कुर्वन्तु (वचसः) वचनस्य (मम)। अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

भाषार्थ—[अश्वत्थः] वीरों के ठहरने का स्थान, पीपल का वृक्ष, (दर्भः) दुःख विदारक, कुश वा कांस का बिरवा, (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोम लता (अमृतम्) अमृत [बलकर] (हविः) ग्राह्य द्रव्य है। (भेषजौ) भयनिवारक (व्रीहिः) चावल (च) और (यवः) जौ दोनों (दिवः) उन्माद वा पीड़ा के (पुत्रौ) शोधने वाले (अमर्त्यौ) अमर [पुष्टिकारक] हैं॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य पीपल, दर्भ, सोमलता, चावल, जौ आदि पदार्थों के गुणों को यथावत् जानें ॥ २० ॥

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

उत् । जिहीध्वे । स्तनयति । अभि-क्रन्दति । ओषधीः ।
यदा । वः । पृश्नि-मातरः । पर्जन्यः । रेतसा । अवति ॥२१॥

भाषार्थ—(ओषधीः) हे ओषधियो ! (पृश्निमातरः) हे पृथिवी को माता रखने वालियो ! (उद् जिहीध्वे) तुम खड़ी होजाती हो, (यदा) जब

२०—(अश्वत्थः) अ० ३। ६। १। अश्वा वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थः पिप्पलवृक्षः (दर्भः) अ० ६। ४३। १। दुःखविदारकः कुशः काशो वा (वीरुधाम्) ओषधीनाम् (सोमः) सोमलता (राजा) (अमृतम्) सर्वगुणोपेतम् (हविः) ग्राह्यं द्रव्यम् (व्रीहिः) अ० ६। १४०। २। आशुधान्यम् (यवः) धान्यविशेषः (च) (भेषजौ) भयनिवारकौ (दिवः) दिवु क्रीडामदादिषु यद्वा दिव अर्दे—क्विप् डिवि वा। उन्मादस्य। पीडनस्य (पुत्रौ) अ० १। ११। ५। पुनातीति पुत्रः। शोधकौ (अमर्त्यौ) अमरणधर्माणौ। नित्यबलकरौ ॥

२१—(उज्जिहीध्वे) ओ हाङ् गतौ—लट्। उद्गच्छथ (स्तनयति) गर्जति (अभिक्रन्दति) अभितो ध्वनति (ओषधीः) हे ओषधयः (यदा) (वः) युष्मान् (पृश्निमातरः) अ० ४। २७। २। घृणिपृश्निपार्ष्णि०। उ० ४। ५२। स्पृश संस्पर्शे—नि, धातोः सलोपः। पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा-

(पर्जन्यः) मेघ (स्तनयति) गरजता है और (अभिक्रन्दति) कड़कड़ाता है और (वः) तुमको (रेतसा) जल से (अवति) तृप्त करता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि होने से पृथिवी पर सब ओषधियां और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

तस्य । अमृतस्य । इमम् । बलम् । पुरुषम् । पाययामसि ॥ अथो इति । कृणोमि । भेषजम् । यथा । असत् । शत-हायनः ॥२२॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (अमृतस्य) अमर [पुष्टिकारक मेघ] का (बलम्) बल [सार] (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) हम पिलाते हैं । (अथो) और (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोमि) करता हूं (यथा) जिससे वह (शतहायनः) सौ वर्ष वाला (असत्) होवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ से उत्पन्न हुये पदार्थ अन्न आदि का सेवन करके पूरा जीवन भोगें ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

वराहः । वेद । वीरुधम् । नकुलः । वेद । भेषजीम् ॥ सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे ॥ २३ ॥

निरु० २ । १४ । पृश्निः पृथिवी इति रामजसनकोशः । पृथिवी माता उत्पादयित्री यासां तास्तत्सम्बुद्धौ (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ । मेघः (रेतसा) अ० २ । २८ । ५ । उदकेन—निघ० १ । १२ । (अवति) तर्पयति ॥

२२—(तस्य) पूर्वोक्तस्य (अमृतस्य) अमरणस्य । पुष्टिकरस्य पर्जन्यस्य (इमम्) (बलम्) सारम् (पुरुषम्) प्राणिनम् (पाययामसि) पानेन पोषयामः (अथो) अपिच (कृणोमि) करोमि (भेषजम्) चिकित्साम् (यथा) येन प्रकारेण (असत्) भवेत् (शतहायनः) अ० ८ । २ । ८ । शतसंवत्सरायुर्युक्तः ॥

भाषार्थ—(वराहः) सूअर (वीरुधम्) ओषधि (वेद) जानता है, (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) रोग जीतने वाली वस्तु (वेद) जानता है। (सर्पाः) सर्प और (गन्धर्वाः) गन्धर्व [दुःखदायी पीड़ा देने वाले जीव] (याः) जिनको (विदुः) जानते हैं, (ताः) उनको (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (अवसे) रक्षा के हित (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जिन ओषधियों को अन्य प्राणी काम में लाते हैं, उनकी यथावत् परीक्षा करके प्रयोग करें ॥ २३ ॥

याः सु॒प॒र्णा आ॑ङ्गिर॒सीर्दि॒व्या या र॒घटो॑ वि॒दुः ।
वयां॑सि हं॒सा या वि॒दुर्याश्च॒ सर्वे॑ पत॒त्रिणः॑ ।
मृ॒गा या वि॒दुरोष॑धी॒स्ता अ॒स्मा अव॑से हुवे ॥ २४ ॥

याः । सु॒ऽप॒र्णाः । आ॒ङ्गि॒र॒सीः । दि॒व्याः । याः । र॒घटः॑ । वि॒दुः ॥
वयां॑सि । हं॒साः । याः । वि॒दुः । याः । च॒ । सर्वे॑ । प॒त॒त्रिणः॑ ॥
मृ॒गाः । याः । वि॒दुः । ओष॑धीः । ताः । अ॒स्मै । अव॑से । हु॒वे॒ २४

भाषार्थ—(याः) जिन (आङ्गिरसीः) ऋषियों करके बताई हुई [ओषधियों] को (सुपर्णाः) गरुड़, गिद्ध आदि, (याः) जिन (दिव्याः) दिव्य

२३—(वराहः) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । वर+आङ्+हन् वा हृञ् हरणे—ड । वराय अभीष्टाय मुस्तादिलाभाय आहन्ति खनति भूमिम्, वा वरान् आहरतीति । वराहो मेघो भवति वराहारः,...अयमपीतरो वराह एतस्मादेव, वृहति मूलानि, वरंवरं मूलं वृहतीति वा....अङ्गिरसोऽपिवराहा उच्यन्ते—निरु० ५ । ४ । शूकरः (वेद) जानाति (वीरुधम्) ओषधिम् (नकुलः) अ० ६ । १३९ । ५ । जन्तुविशेषः (भेषजीम्) भयनिवारिकां चिकित्साम् (सर्पाः) (गन्धर्वाः) अ० ८ । ६ । १९ । दुःखदायिनश्च ते पीडकाश्च ते (याः) ओषधीः (विदुः) जानन्ति (ताः) (अस्मै) पुरुषाय (अवसे) रक्षणाय (हुवे) आह्वयामि ॥

२४—(याः) ओषधीः (सुपर्णाः) अ० २ । ३० । ३ । सुपतनाः—निरु० ३ । १२ । गरुडगृध्रादयः (आङ्गिरसीः) म० १७ । अङ्गिरोभिः प्रोक्ताः (दिव्याः)

[ओषधियों] को (रघटः) आकाश में फिरने वाले [जीव] (विदुः) जानते हैं। (याः) जिनको (वयांसि) पक्षी (हंसाः) हंस, (च) और (याः) जिन को (सर्वे) सब (पतत्रिणः) पंख वाले जीव (विदुः) जानते हैं। (याः ओषधीः) जिन ओषधियों को (मृगाः) बनैले पशु (विदुः) जानते हैं। (ताः) उन सब को (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (अवसे) रक्षा के हित (हुवे) मैं बुलाता हूं॥ २४॥

भावार्थ—मन्त्र २३ के समान॥ २४॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः। तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥२५॥

यावतीनाम्। ओषधीनाम्। गावः। प्र-अश्नन्ति। अघ्न्याः। यावतीनाम्। अज-अवयः॥ तावतीः। तुभ्यम्। ओषधीः। शर्म। यच्छन्तु। आ-भृताः॥ २५॥

भाषार्थ—(यावतीनाम्) जितनी (ओषधीनाम्) ओषधियों को (अघ्न्याः) न मारने योग्य (गावः) गौवें और (यावतीनाम्) जितनी [ओषधियों] का (अजावयः) भेड़ बकरी (प्राश्नन्ति) चारा करती हैं। (तावतीः) उतनी सब (आभृताः) यथावत् पुष्ट की हुई (ओषधीः) ओषधियां (तुभ्यम्) तुझ को (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें॥ २५॥

भावार्थ—मन्त्र २३ के समान॥ २५॥

श्रेष्ठाः (याः) (रघटः) रघि गतौ-अच्, नुम् लोपः + अट गतौ क्विप्, शकन्ध्वादिरूपम्। रघे गन्तव्ये आकाशे अटनशीलाः (विदुः) जानन्ति (वयांसि) अ० २। ३०। ३। पक्षिणः (हंसाः) अ० ६। १२। १। पक्षिविशेषाः (पतत्रिणः) पक्षयुक्ता जन्तवः (मृगाः) अ० ३। १५। १। अरण्यपशवः। अन्यत्पूर्ववत्॥

२५—(यावतीनाम्) यत्परिमाणानाम् (गावः) धेनवः (प्राश्नन्ति) प्राशनं कुर्वन्ति (अघ्न्याः) अ० ३। ३०। १। अहन्तव्याः (अजावयः) अजाश्च अवयश्च ते। छागमेषादयः (तावतीः) तत्परिमाणाः (शर्म) सुखम् (यच्छन्तु) ददतु (आभृताः) सम्यक् पोषिताः। अन्यद् गतम्॥

यावंतीषु मनुष्या भेषुजं भिषजो विदुः ।
तावंतीर्विश्वभेषजीरा भंरामि त्वामुभि ॥ २६ ॥
यावंतीषु । मनुष्याः । भेषुजम् । भिषजः । विदुः ॥
तावंतीः । विश्व-भेषजीः । आ । भरामि । त्वाम् । अभि ॥२६॥

भाषार्थ—(भिषजः) वैद्य (मनुष्याः) लोग (यावतीषु) जितनी [ओषधियों] में (भेषजम्) चिकित्सा (विदुः) जानते हैं । (तावतीः) उतनी (विश्वभेषजीः) सब रोगों की जीतनेवाली [ओषधियों] को (त्वाम् अभि) तेरे लिये (आभरामि) मैं लाता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग विद्वानों से विद्या प्राप्त करके चिकित्सा करें ॥२६॥

पुष्पंवतीः प्रसूमंतीः फुलिनीरफुला उत ।
सं मातरं इव दुह्रामुस्मा अंरिष्टतातये ॥ २७ ॥
पुष्पं-वतीः । प्रसू-मतीः । फुलिनीः । अफुलाः । उत ॥
सं मातरः-इव । दुह्राम् । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(पुष्पवतीः) पुष्प रखने वाली, (प्रसूमतीः) सुन्दर कोंपल वाली, (फलिनीः) फलवाली (उत) और (अफलाः) फल रहित [ओषधियां] (संमातरः इव) संमिलित माताओं के समान (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) कुशल करने के लिये (दुह्राम्) दूध देवें ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार की ओषधियों से उपकार लेकर स्वस्थ रहें ॥ २७ ॥

२६—(यवतीषु) (मनुष्याः) मानवाः (भेषजम्) चिकित्साम् (भिषजः) अ० २ । ६ । ३ । यद्वा भिषज् चिकित्सायाम्—क्विप् । वैद्याः (विदुः) जानन्ति (तावतीः) (विश्वभेषजीः) सर्वरोगजेत्रीः (आभरामि) आहरामि (त्वाम्) (अभि) प्रति ॥

२७—(पुष्पवतीः) प्रशस्तपुष्पयुक्ताः (प्रसूमतीः) कोमलपल्लववत्यः (फलिनीः) उत्तमफलवत्यः (उत) अपि च (संमातरः इव) सम्मिलितजनन्यो यथा (दुह्राम्) दुहन्तु । दुग्धं ददतु (अस्मै) मनुष्याय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । क्षेमकरणाय ॥

उत् त्वाहार्षं पञ्चंशलादथो दशंशलादुत । अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वंस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥ (१८)

उत् । त्वा । अहार्षम् । पञ्च॑-शलात् । अथो इति । दश॑-शलात् । उत ॥ अथो इति । यमस्य॑ । पड्वीशात् । विश्वंस्मात् । देव-किल्बिषात् ॥ २८ ॥ (१८)

भाषार्थ—(अथो) अब (त्वा) तुझको (पञ्चशलात्) पञ्चभूतों में व्यापक (उत) और (दशशलात्) दश दिशाओं में व्यापक परमेश्वर का आश्रय लेकर (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) वेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) परमेश्वर के प्रति अपराध से [पृथक्] करके (उत् अहार्षम्) मैंने ऊंचा पहुंचाया है ॥२८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वव्यापक परमेश्वर का आश्रय लेकर सब दुराचार को छोड़कर उन्नति करें ॥ २८ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है-अ० ६ । ९६ । २ तथा ७ । ११२ । २॥

सूक्तम् ८ ॥

१—२४ ॥ इन्द्रो मन्त्रोक्ताश्च देवताः ॥ १ निचृदनुष्टुप् ; २, १२, भुरिगनुष्टुप् ; ३ निचृद् बृहती ; ४ भुरिग् बृहती ; ५, ६, १३-१८ अनुष्टुप् ; ७ आस्तारपङ्क्तिः ; ७, २२ अतिजगती ; ८, १९ विराड् बृहती ; १०, ११, २३ उपरिष्टाद् बृहती ; २० बृहती , २१ त्रिष्टुप् ; २४ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती ॥

शत्रुक्षयोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदुरः । यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

२८—(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) त्वाम् (अहार्षम्) प्रापितवानस्मि (पञ्चशलात्) शल गतौ—अच् । पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । पञ्चसु भूतेषु व्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (अथो) इदानीम् (दश शलात्) पूर्ववत् पञ्चमी । दशदिक्षु व्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (उत) अपि च । अन्यत्पूर्ववत्-अ० ६ । ९६ । २ । तथा ७ । ११२ । २ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्-दरः ॥
यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्र-शः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मन्थिता) मथन करने वाला, (शक्रः) शक्तिमान् (शूरः) शूर, (पुरन्दरः) गढ़ तोड़ने वाला, (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] (मन्थतु) मथन करे। (यथा) जिससे (अमित्राणाम्) बैरियों की (सेनाः) सेनायें (सहस्रशः) सहस्र सहस्र करके (हनाम) हम मारें ॥ १ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् राजा के पुरुषार्थ से उसके सेना दल बहुत शत्रुओं का नाश करें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

पूति-रज्जुः । उप-ध्मानी । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ॥ धूमम् । अग्निम् । परा-दृश्य । अमित्राः । हृत्-सु । आ । दधताम् । भयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उपध्मानी) सुलगती हुई (पूतिरज्जुः) दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाली [शस्त्रों की ज्वाला] (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (पूतिम्) दुर्गन्धित (कृणोतु) करे। (अमित्राः) शत्रु लोग (धूमम्) धुयें और

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (मन्थतु) विलोडयतु (मन्थिता) विलोडयिता (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तः (शूरः) (पुरन्दरः) अरीणां पुरो दारयतीति । पूःसर्वयोर्दारिसहोः । पा० ३ । २ । ४१ । पुर्+दृ विदारणे—णिच्—खच् । वाचंयमपुरन्दरौ च । पा० ६ । ३ । ६९ । पुर् शब्दस्य अदन्तत्वम् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । खचि ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९४ । इति दारिशब्दस्य ह्रस्वः । शत्रूणां दुर्गविनाशकः (यथा) (हनाम) मारयाम् (सेनाः) (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (सहस्रशः) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् । पा० ५ । ४ । ४३ । इति शस् । सहस्रं सहस्रम् ॥

२—(पूतिरज्जुः) सृजेरसुम् च । उ० १ । १५ । सृज विसर्जने—उ, धातोरसुमागमः, आदिसकारलोपश्च, ऋकारस्य यणादेशः, आगमसकारस्य जश्त्वं च । आद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जः—निरु० २ । १ । दुर्गन्धस्य स्रष्टी ।

(अग्निम्) अग्नि को (पराहश्य) अत्यन्त देखकर (हृत्सु) हृदय में (भयम्) भय (आ दधताम्) धारण कर लेवें ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनापति के आग्नेय अस्त्रों की मार से शत्रु लोग श्वास घुट कर भाग जावें ॥ २ ॥

अमूनंश्वत्थ निः शृंणीहि खादामून् खंदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्गं इव भज्यन्तां हन्त्वैनान् वधको वधैः ॥ ३ ॥

अमून् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून् । खदिर । अजिरम् ॥ ताजद्भङ्गः-इव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे बलवानों में ठहरने वाले ! [अश्वत्थामा] (अमून्) उन को (निः शृणीहि) कुचल डाल, (खदिर) हे दृढ़ स्वभाव वाले [सेनापति !] (अमून्) उनको (अजिरम्) शीघ्र (खाद) खा ले। वे लोग (ताजद्भङ्गः इव) झटपट टूटे हुये सन के समान (भज्यन्ताम्) टूट जावें, (वधकः) मारू सेनापति (वधैः) मारू हथियारों से (एनान्) इनको (हन्तु) मारे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वीरसेनापति दृढ़ स्वभाव होकर शत्रुओं का शीघ्र नाश करे ॥ ३ ॥

शस्त्रज्वाला (उपध्मानी) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः-ल्युट्, ङीप्। प्रज्वलन्ती (पूतिम्) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। पूयी विशरणे दुर्गन्धे च-तिप्रत्ययः, यद्वा क्विच् प्रत्ययान्तः, यलोपः। दुर्गन्धवतीम् (सेनाम्) (कृणोतु) करोतु (अमूम्) पुरोदृश्यमानाम् (धूमम्) शस्त्रधूमम् (अग्निम्) (पराहश्य) भृशं दृष्ट्वा (अमित्राः) पीडकाः (हृत्सु) हृदयेषु (आ दधताम्) समन्ताद् धरन्तु (भयम्) दरम् ॥

३—(अमून्) शत्रून् (अश्वत्थ) अ० ३। ६। १। अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क। हे अश्वेषु वीरेषु स्थितिस्वभाव। अश्वत्थामन् (निः) निरन्तरम् (शृणीहि) नाशय (अमून्) (खदिर) अ० ३। ६। १। खद स्थैर्यहिंसयोः-किरच्। हे स्थिरस्वभाव सेनापते (अजिरम्) अ० ३। ४। ३। क्षिप्रम्-निघ० २। १५। (ताजद्भङ्गः इव) ताजत् क्षिप्रनाम-निघ० २। १५+भञ्जो आमर्दने-घञ्, कुत्वं च। क्षिप्रभग्नो भङ्गः शणो यथा (भज्यन्ताम्) भिद्यन्ताम् (हन्तु) मारयतु (एनान्) शत्रून् (वधकः) हनो वध च। उ० २। ३६। हन्तेः—क्वुन्। हननकर्ता (वधैः) हननायुधैः ॥

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

परुषान्। अमून्। परुष-आह्वः। कृणोतु। हन्तु। एनान्। वधकः। वधैः॥ क्षिप्रम्। शरः-इव। भज्यन्ताम्। बृहत्-जालेन। सम्-दिताः॥ ४ ॥

भाषार्थ—(परुषाह्वः) कठोरों को ललकारने वाला [सेनापति] (अमून्) उन [अपने सैनिकों] को (परुषान्) कठोर स्वभाव वाला (कृणोतु) बनावे, (वधकः) मारू [सेनापति] (वधैः) मारू शस्त्रों से (एनान्) इन [शत्रुओं] को (हन्तु) मारे। (बृहज्जालेन) बड़े जाल से (संदिताः) बंधे हुये वे लोग (शर इव) सरकंडे के समान (क्षिप्रम्) शीघ्र (भज्यन्ताम्) टूट जावें॥ ४॥

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को उत्साह देकर शत्रुओं को पाश में बांधकर नष्ट करे॥ ४॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम्। जालम्। आसीत्। जाल-दण्डाः। दिशः। महीः॥ तेन। अभि-धाय। दस्यूनाम्। शक्रः। सेनाम्। अप। अवपत्॥ ५

भाषार्थ—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (जालम्) जाल (आसीत्) था, (जालदण्डाः) जाल के दण्डे (महीः) बड़ी (दिशः) दिशायें [थीं]। (तेन)

४—(परुषान्) पॄनहिकलिभ्य उषच्। उ० ४। ७५। पॄ पालनपूरणयोः—उषच्। कठोरस्वभावान् (अमून्) स्वसैनिकान् (परुषाह्वः) परुष+आङ्+ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च—क। कठोराणां स्पर्धकः सेनापतिः (कृणोतु) (हन्तु) (वधकः) म० ३। मारकः (वधैः) हननायुधैः (क्षिप्रम्) शीघ्रम् (शरः) तृणभेदः (इव) यथा (भज्यन्ताम्) भिद्यन्ताम् (बृहज्जालेन) महापाशेन (संदिताः) सम् पूर्वो दो बन्धने—क्त। बद्धाः॥

५—(अन्तरिक्षम्) अवकाशः (जालम्) जल संवरणे—घञ्। पाशः। विस्तारः (आसीत्) (जालदण्डाः) (दिशः) प्राच्यादयः (महीः) महत्यः

उस [जाल] से (अभिधाय) घेरकर (शक्रः) शक्तिमान् [सेनापति] ने (दस्यूनाम्) डाकुओं की (सेनाम्) सेना को (अप अवपत्) इतर वितर कर दिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो सेनापति अवकाश और सब दिशाओं का ध्यान रखकर व्यूह रचना करता है, वह शत्रुओं पर विजय पाता है ॥ ५ ॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः । तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

बृहत् । हि । जालम् । बृहतः । शक्रस्य । वाजिनी-वतः ॥ तेन । शत्रून् । अभि । सर्वान् । नि । उब्ज । यथा । न । मुच्यातै । कतमः । चन । एषाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (बृहतः) बड़े (वाजिनीवतः) बलवती क्रियाओं वाले (शक्रस्य) शक्तिमान् [सेनापति] का (जालम्) जाल [फैलाव] (बृहत्) बड़ा [है] । (तेन) उस [जाल] से (सर्वान्) सब (शत्रून् अभि) शत्रुओं पर (नि उब्ज) झुक पड़, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) न छूटे ॥ ६ ॥

भावार्थ—बलवान् सेनापति बहुत सी सेना का फैलाव करके शत्रुओं का नाश करे ॥ ६ ॥

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्य-

(तेन) जालेन (अभिधाय) आच्छाद्य (दस्यूनाम्) अ० २ । १४ । ५ । चोरादीनाम् (शक्रः) शक्तः सेनापतिः (सेनाम्) (अप अवपत्) इतस्ततः प्रक्षिप्तवान् ॥

६—(बृहत्) महत् (हि) यस्मात् कारणात् (जालम्) म० ५ । विस्तारः (बृहतः) महतः (शक्रस्य) शक्तिमतः सेनापतेः (वाजिनीवतः) वाजो बलम्—निघ० २ । ६ । बलवतीक्रियायुक्तस्य (तेन) जालेन (शत्रून्) (अभि) प्रति (सर्वान्) (न्युब्ज) उब्ज आर्जवे । निगृह्य धाव (यथा) येन प्रकारेण (न मुच्यातै) अ० ४ । १६ । ४ । न मुक्तो भवेत् (कतमश्चन) कोऽपि (एषाम्) शत्रूणां मध्ये ॥

स्य । तेन॑ शतं स॒हस्र॑म॒युतं॒ न्य॑र्बुदं जघान शक्रो दस्यू॑नामभि॒धाय॒ सेन॑या ॥ ७ ॥

बृहत् । ते॒ । जाल॑म् । बृ॒ह॒तः । इ॒न्द्र॒ । शू॒र॒ । स॒ह॒स्र॒-अ॒र्घस्य॑ । श॒त-वी॑र्यस्य ॥ तेन॑ । श॒तम् । स॒हस्र॑म् । अ॒युत॑म् । नि-अ॒र्बु॑दम् । ज॒घान॑ । श॒क्रः । दस्यू॑नाम् । अ॒भि॒-धाय॑ । सेन॑या ॥७॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी !] (शूर) हे शूर ! (बृहतः) बड़े, (सहस्रार्घस्य) सहस्रों से पूजा योग्य, (शतवीर्यस्य) सैकड़ों वीरत्व वाले (ते) तेरे का (बृहत्) बड़ा (जालम्) जाल [फैलाव] है॥ (तेन) उस [जाल] से (शक्रः) शक्तिमान् [सेनापति] ने (सेनया) [अपनी] सेना से (शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अयुतम्) दश सहस्र, (न्यर्बुदम्) अनेक दश कोटि (दस्यूनाम्) डाकुओं को (अभिधाय) घेर कर (जघान) मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से शूरवीर पुरुष शत्रुओं को मारकर प्रजापालन करते आये हैं, उसी प्रकार पराक्रमी लोग रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

अ॒यं लो॒को जाल॑मासीच्छ॒क्रस्य॑ मह॒तो म॒हान् ।
तेना॒हमि॑न्द्रजा॒लेना॒मूंस्तम॑सा॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न् ॥ ८ ॥

अ॒यम् । लो॒कः । जाल॑म् । आ॒सी॒त् । श॒क्रस्य॑ । म॒ह॒तः ।

७—(बृहत्) (ते) तव (जालम्) म० ५ । विस्तारः (बृहतः) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (शूर) पराक्रमिन् (सहस्रार्घस्य) अर्ह पूजायाम्—घञ् कुत्वम् । सहस्रैः पूजितस्य (शतवीर्यस्य) बहुवीर्योपेतस्य (तेन) जालेन (शतम्) (सहस्रम्) (अयुतम्) दशसहस्रम् (न्यर्बुदम्) अर्व गतौ हिंसायम् च-उदच् प्रत्ययः, इति रामजसनकोशः। अर्बुदो मेघो भवत्यरणमम्बु तद्दोऽम्बुदोऽम्बुमद्भातीति वाम्बुमद्भवतीति वा, स यथा महान् बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्—निरु० ३ । १० । बहुदशकोटिम् (जघान) ममार (शक्रः) शक्तिमान् (दस्यूनाम्) म० ५ । चोरादीनाम् (अभिधाय) आच्छाद्य (सेनया) स्वसेनया ॥

महान् ॥ तेन । अहम् । इन्द्र-जालेन । अमून् । तमसा । अभि । दधामि । सर्वान् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (महान्) बड़ा (लोकः) लोक (महतः) बड़े (शक्रस्य) शक्तिमान् [सेनापति] का (जालम्) जाल (आसीत्) था। (तेन) उस (इन्द्रजालेन) इन्द्रजाल [बड़े शस्त्र] से (अहम्) मैं (अमून्) उन (सर्वान्) सब को (तमसा) अन्धकार से (अभि दधामि) घेरे लेता हूं ।८।

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनाध्यक्ष के सहाय से अन्य सेनापति शत्रुओं को इन्द्रजाल ब्रह्मास्त्र आदि महाशस्त्रों से अन्धकार में घेरकर मारें ॥ ८ ॥

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥ ९ ॥

सेदिः । उग्रा । वि-ऋद्धिः । आर्तिः । च । अनप-वाचना ॥ श्रमः । तन्द्रीः । च । मोहः । च । तैः । अमून् । अभि । दधामि । सर्वान् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सेदिः) महामारी आदि क्लेश, (उग्रा) भारी (व्यृद्धिः) निर्धनता (च) और (अनपवाचना) अकथनीय (आर्तिः) पीड़ा। (श्रमः) परिश्रम, (च) और (तन्द्रीः) आलस्य (च) और (मोहः) मोह [घबड़ाहट] [जो हैं], (तैः) उन सब से (अमून्) उन (सर्वान्) सबों को (अभि दधामि) मैं घेरे लेता हूं ॥ ९ ॥

८—(अयम्) प्रसिद्धः (लोकः) संसारः (जालम्) पाशः (आसीत्) (शक्रस्य) इन्द्रस्य (महतः) (महान्) (तेन) (अहम्) सेनापतिः (इन्द्रजालेन) इन्द्रपाशेन ब्रह्मास्त्रेण (अमून्) शत्रून् (तमसा) अन्धकारेण (अभि दधामि) आच्छादयामि (सर्वान्) समस्तान् ॥

९—(सेदिः) अ० २ । १४ । ३ । निर्ऋतिः । महाविषादः (उग्रा) प्रचण्डा (व्यृद्धिः) वि + ऋधु वृद्धौ—क्तिन् । अलक्ष्मीः (आर्तिः) अ० ३ । ३१ । २ । पीडा (च) (अनपवाचना) वच परिभाषणे—णिच् स्वार्थे—युच् । अकथनीया (श्रमः) परिश्रमः (तन्द्रीः) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । तद्रि अवसादे सौ० धा०—ईप्रत्ययः । आलस्यम् (च) (मोहः) मूर्छा (च) (तैः) पूर्वोक्तैः । अन्यत्पूर्ववत्—म० ८ ॥

भावार्थ—दुष्ट उपद्रवी लोगों को बड़ी बड़ी विपत्तियों में फंसाना योग्य है ॥ ९ ॥

मृत्यवे॒ऽमून् प्र य॑च्छामि मृत्युपा॒शैर॒मी सि॒ताः । मृ॒त्योर्ये अ॑घ॒ला दू॒तास्तेभ्य॑ एना॒न् प्रति॑ नयामि ब॒द्ध्वा ॥१०॥ (२८)

मृ॒त्यवे॑ । अ॒मून् । प्र । य॒च्छा॒मि॒ । मृ॒त्यु-पा॒शैः । अ॒मी इति॑ । सि॒ताः ॥ मृ॒त्योः । ये । अ॒घ॒लाः । दू॒ताः । तेभ्यः॑ । ए॒ना॒न् । प्रति॑ । न॒या॒मि॒ । ब॒द्ध्वा ॥ १० ॥ (२०)

भाषार्थ—(अमून्) उन्हें (मृत्यवे) मृत्यु को (प्र यच्छामि) मैं सौंपता हूं, (मृत्युपाशैः) मृत्यु के पाशों से (अमी) वे लोग (सिताः) बंधे हुये हैं। (मृत्योः) मृत्यु के (ये) जो (अघलाः) दुःखदायी (दूताः) दूत हैं, (तेभ्यः) उनके पास (एनान्) इन्हें (बद्ध्वा) बांध कर (प्रति नयामि) मैं लिये जाता हूं ।१०

भावार्थ—राजा दुःखदायी दुष्टों को घातकों द्वारा बध करावे ॥ १० ॥

**नय॑ता॒मून् मृ॑त्युदूता॒ यम॑दूता॒ अपो॑म्भत ।
प॒र॒:स॒ह॒स्रा ह॑न्यन्तां तृणे॒ढ्वे॑नान् मत्यं॑ भ॒वस्य॑ ॥ ११ ॥**

नय॑त । अ॒मून् । मृ॒त्यु-दू॒ताः । यम॑-दू॒ताः । अप॑ उ॒म्भ॒त ॥ प॒रः-स॒ह॒स्राः । ह॒न्य॒न्ता॒म् । तृ॒णे॒ढु॒ । ए॒ना॒न् । म॒त्य॑म् । भ॒वस्य॑ ११

भाषार्थ—(मृत्युदूताः) हे मृत्यु के दूतो ! [घातको !] (अमून्) उनको (नयत) ले जाओ, (यमदूताः) हे यम के दूतो ! [वधक पुरुषो !] (अप

१०—(मृत्यवे) मरणाय (अमून्) दुःखदायिनः (प्र यच्छामि) ददामि (मृत्युपाशैः) मरणसाधनैः (अमी) ते (सिताः) बद्धाः (मृत्योः) मरणस्य (ये) (अघलाः) अघ+ला दाने—क। दुःखदायिनः (दूताः) अ० १ । ७ । ६ । उपतापकः। दूतसदृशा घातकजनाः (तेभ्यः) (एनान्) (प्रति नयामि) प्रतिकूलं प्रापयामि (बद्ध्वा) प्रसित्य ॥

११—(नयत) गमयत (अमून्) दुष्टान् (मृत्युदूताः) हे घातकजनाः (यमदूताः) वधकाः (अप उम्भत) उम्भ पूरणे । बलेन बध्नीत (परःसहस्राः)

उम्भत) कस कर बांध लो। (परःसहस्राः) सहस्रों से अधिक [वे लोग] (हन्यन्ताम्) मारे जावें, (भवस्य) सुखदायक [राजा] की (मत्यम्) मुट्ठी [घूंसा] (एनान्) इनको (तृणेढु) चूर चूर कर डाले ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों को अनेक प्रकार कष्ट देकर घातकों और वधकों द्वारा नष्ट करादे ॥ ११ ॥

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

साध्याः । एकम् । जाल-दण्डम् । उत्-यत्य । यन्ति । ओजसा ॥
रुद्राः । एकम् । वसवः । एकम् । आदित्यैः । एकः । उत्-यतः १२

भाषार्थ—(साध्याः) साध्य लोग [परोपकार साधक जन] (एकम्) एक (जालदण्डम्) जाल के दण्डे को, (रुद्राः) रुद्र [शत्रुनाशक लोग] (एकम्) एक को, (वसवः) वसु लोग [उत्तम पुरुष] (एकम्) एक को (ओजसा) बल से (उद्यत्य) उठाकर (यन्ति) चलते हैं, (एकः) एक (आदित्यैः) पूर्णविद्या वालों करके (उद्यतः) उठाया गया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस राजा के अधिकार में उत्तम उत्तम अधिकारी होते हैं, वहां विजय होती है ॥ १२ ॥

विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।

सहस्राधिकाः (हन्यन्ताम्) वध्यन्ताम् (तृणेढु) तृह हिंसायाम्—लोट् । चूर्णी करोतु । पिनष्टु (एनान्) दुष्टान् (मत्यम्) मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु । पा० ४ । ४ । ९७ । मतं ज्ञानं तस्य करणमिति । मुष्टिः—इति शब्दकल्पद्रुमः (भवस्य) भू सत्तायां प्राप्तौ च—अप् । भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः । सुखोत्पादकस्य ॥

१२—(साध्याः) अ० ७ । ५ । १ । साधवः । परोपकारसाधकाः (एकम्) (जालदण्डम्) प्रबन्धरूपं जालसाधनम् (उद्यत्य) उत्+यम यमने—ल्यप् । उद्युज्य (यन्ति) गच्छन्ति (ओजसा) बलेन (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे—क्विप्, तुक्+रु वधे—ड । शत्रुनाशकाः (एकम्) (वसवः) अ० १ । ९ । १ । प्रशस्ता जनाः (एकम्) (आदित्यैः) अ० १ । ९ । १ । आदीप्यमानैः । पूर्णविद्यैः (एकः) जालदण्डः (उद्यतः) यम—क्त । ऊर्ध्वीकृतः ॥

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्टात् । उब्जन्तः । यन्तु । ओजसा ॥ मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (उपरिष्टात्) ऊपर से (ओजसा) बल के साथ (उब्जन्तः) सीधे होकर (यन्तु) चलें। (अङ्गिरसः) बड़े ज्ञानी लोग (मध्येन) मध्य से (महीम्) बड़ी (सेनाम्) सेना को (घ्नन्तः) मारते हुये (यन्तु) चलें ॥ १३ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष व्यूह रचना में उत्तम उत्तम सेनापतियों को उचित स्थानों में नियत करके शत्रुओं को नाश करे ॥ १३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।

द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ॥ द्वि-पात् । चतुः-पात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वनस्पतीन्) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वाले पुरुषों, (वानस्पत्यान्) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वालों के सम्बन्धी पदार्थों, (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों (उत) और (वीरुधः) जड़ी बूटियों। (द्विपात्) दोपाये और (चतुष्पात्) चौपाये को (इष्णामि) मैं प्राप्त करता हूं (यथा) जिस

१३—(विश्वे) सर्वे (देवाः) विजिगीषवः (उपरिष्टात्) उपरिस्थानात् (उब्जन्तः) उब्ज आर्जवे—शतृ । ऋजवः सन्तः (यन्तु) गच्छन्तु (ओजसा) (मध्येन) मध्यदेशेन (घ्नन्तः) मारयन्तः (सेनाम्) (अङ्गिरसः) अ० २। १२। ४। महाज्ञानिनः (महीम्) विशालाम् ॥

१४—(वनस्पतीन्) अ० ३। ६। ६ [वनस्पते] वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति दयानन्द भाष्ये, यजु० २७। २१। सेवनीयशास्त्राणां पालकान् (वानस्पत्यान्) अ० ३। ६। ६। सेवनीयशास्त्राणां पालकानां सम्बन्धिनः पदार्थान् (ओषधीः) अन्नादीन् (उत) अपिच (वीरुधः) लतादीन् (द्विपात्) विभक्तेः सुः। द्विपादम्। पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् (चतुष्पात्) गवाश्वहस्त्या-

से वे सब (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हनन्) मारें ॥ १४ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष राजा सब उत्तम पुरुषों और उत्तम पदार्थों को साथ लेकर शत्रुओं को मारे ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

गन्धर्व-अप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्य-जनान् । पितॄन् ॥
दृष्टान् । अदृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् १५

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों [पृथिवी के धारण करने वालों] और अप्सरों [आकाश में चलने वालों], (सर्पान्) सर्पों [के समान तीव्र दृष्टि वालों], (देवान्) विजय चाहने वालों, (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा (पितॄन्) पितरों [महाविद्वानों]। (दृष्टान्) देखे हुये और (अदृष्टान्) अनदेखे पदार्थों को (इष्णामि) मैं प्राप्त करता हूं, (यथा) जिससे वे सब (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हनन्) मारें ॥ १५ ॥

भावार्थ—राजा विवेकी, दूरदर्शी, शूर, सत्यवादी पुरुषों और गोचर और अगोचर पदार्थों को एकत्र करके शत्रु नाश करे ॥ १५ ॥

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उप्ताः । मृत्यु-पाशाः । यान् । आ-क्रम्य । न । मुच्यसे ॥
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्र-शः ॥१६॥

दिकम् (इष्णामि) इष गतौ । गच्छामि । प्राप्नोमि (यथा) येन प्रकारेण (सेनाम्) (अमूम्) दृश्यमानाम् (हनन्) लेटि रूपम् । ते घ्नन्तु ॥

१५—(गन्धर्वाप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । पृथिवीधारकान् आकाशे गमनशीलांश्च विवेकिनः (सर्पान्) सर्पवत्तीव्रदृष्टीन् (देवान्) विजिगीषून् (पुण्यजनान्) शुद्धाचारिणः (पितॄन्) महाविदुषः (दृष्टान्) गोचरान् (अदृष्टान्) अगोचरान् । अन्यत्पूर्ववत्—म० १४ ॥

भाषार्थ—(इमे) ये (मृत्युपाशाः) मृत्यु के जाल (उप्ताः) फैले हैं, (यान्) जिनमें (आक्रम्य) पांव धरकर [हे शत्रु !] (न मुच्यसे) तू नहीं छूटता है। (इदम्) यह (कूटम्) फन्दा (अमुष्याः सेनायाः) उस सेना का (सहस्रशः) सहस्रों प्रकार से (हन्तु) हनन करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा शत्रु लोगों को दृढ़ बन्धनों में रखकर विनष्ट करे ॥१६॥

घुर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनामुमूं हतम् ॥ १७ ॥

घुर्मः । सम्-इद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्र-हः ॥ भवः । च । पृश्नि-बाहुः । च । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥१७॥

भाषार्थ—(अग्निना) अग्नि करके (समिद्धः) प्रज्वलित (घर्मः) ताप [के समान] (अयम्) यह (होमः) आत्मसमर्पण (सहस्रहः) सहस्र [क्लेश] नाश करने वाला है। (पृश्निबाहुः) भूमि को बाहु पर रखने वाले (भवः) हे सुख उत्पन्न करने वाले [प्राण वायु] (च) और (शर्व) क्लेश नाशक [अपान वायु]! तुम दोनों (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (च) निश्चय करके (हतम्) मारो ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मसमर्पण के साथ प्राण और अपान वायु को स्थिर करके विघ्नों का नाश करें ॥ १७ ॥

१६—(इमे) सर्वत्रव्याप्ताः (उप्ताः) डु वप् बीजसन्ताने-क्त। विस्तृताः (मृत्युपाशाः) मरणबन्धाः (यान्) (आक्रम्य) पादेन प्राप्य (न) निषेधे (मुच्यसे) मुक्तो भवसि (अमुष्याः) तस्याः (हन्तु) हननं करोतु (सेनायाः) (इदम्) (कूटम्) कूट परितापे-अच्। बन्धनयन्त्रम् (सहस्रशः) म० १। बहुप्रकारेण ॥

१७—(घर्मः) ताप इव (समिद्धः) प्रदीप्तः (अग्निना) पावकेन (होमः) अ० ४। ३८। ५। आत्मसमर्पणम् (सहस्रहः) हन-ड। सहस्रक्लेशनाशकः (भवः) अ० ८। २। ७। हे सुखप्रापक प्राणवायो (च) (पृश्निबाहुः) पृश्निः पृथिवी-अ० ८। ७। २१। पृथिवी बाहौ बले यस्य सः (च) निश्चये (शर्व) अ० ८। २। ७। हे क्लेशनाशक अपानवायो (सेनाम् अमूम्) (हतम्) नाशयतम् ॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

मृत्योः । आषम् । आ । पद्यन्ताम् । क्षुधम् । सेदिम् । वधम् । भयम् ॥ इन्द्रः । च । अक्षु-जालाभ्याम् । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—[वे लोग] (मृत्योः) मृत्यु के (आषम्) वन्धन, (क्षुधम्) भूख, (सेदिम्) महामारी, (वधम्) वध और (भयम्) भय (आ पद्यन्ताम्) प्राप्त करें । (इन्द्रः) हे प्राण वायु ! (च) और (शर्व) हे अपान वायु ! तुम दोनों (अक्षुजालाभ्याम्) वन्धन और जालों से (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हतम्) मारो ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतापी मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल से शत्रुओं को नाना क्लेश देकर नाश करे ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

परा-जिताः । प्र । त्रसत । अमित्राः । नुत्ताः । धावत । ब्रह्मणा ॥ बृहस्पति-प्रनुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अमित्राः) हे पीड़ा देने वालो ! (पराजिताः) हार मान कर (प्र त्रसत) डर जाओ, (ब्रह्मणा) विद्वान् करके (नुत्ताः) ढकेले हुये तुम

१८—(मृत्योः) मरणस्य (आषम्) अष दीप्तौ, ग्रहणे, गतौ च-घञ् । ग्रहणम् । वन्धनम् (आ) समन्तात् (पद्यन्ताम्) प्राप्नुवन्तु (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (सेदिम्) म० ६ । महाविपत्तिम् (वधम्) घातनम् (भयम्) (इन्द्रः) हे प्राणवायो (च) (अक्षुजालाभ्याम्) अक्षू व्याप्तौ-उ । बन्धनपाशाभ्याम् । अन्यत्पूर्ववत्-म० १७ ॥

१९—(पराजिताः) पराभूताः (प्र) (त्रसत) त्रसी उद्वेगे भये च । विभीत (अमित्राः) हे पीडकाः (नुत्ताः) प्रेरिताः (धावत) पलायध्वम् (ब्रह्मणा)

(धावत) दौड़े जाओ। (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) बृहस्पति [वेदों के रक्षक] करके ढकेले हुये (अमीषाम्) उन लोगों में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूटे ॥ १९ ॥

भावार्थ—विद्वानों की नीति निपुणता से सब शत्रु नाश प्राप्त करें ॥१९॥

अव॑ पद्यन्तामेषामायु॑धानि मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म्। अथै॑षां ब॒हु बिभ्य॑तामिष॑वो घ्नन्तु मर्म॑णि ॥ २० ॥

अव॑। प॒द्य॒न्ता॒म्। ए॒षा॒म्। आयु॑धानि। मा। श॒क॒न्। प्र॒ति॒ऽधाम्। इषु॑म् ॥ अथ॑। ए॒षा॒म्। ब॒हु। बिभ्य॑ताम्। इष॑वः। घ्न॒न्तु। मर्म॑णि ॥ २० ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन के (आयुधानि) हथियार (अव पद्यन्ताम्) गिर पड़ें, वे लोग (इषुम्) बाण (प्रतिधाम्) रोपने को (मा शकन्) न समर्थ हों। (अथ) और (बहु) बहुत (बिभ्यताम्) डरे हुये (एषाम्) इन लोगों के (इषवः) बाण (मर्मणि) [उनके ही] मर्म स्थान में (घ्नन्तु) घाव करें ॥२०॥

भावार्थ—चतुर सेनापति बड़े बल और शीघ्रता से शत्रुओं पर धावा करे, जिस से वे लोग घबड़ा कर अपने हथियारों से अपने आप को मारें ॥२०॥

सं क्रो॑शतामेनान् द्यावा॑पृथि॒वी सम॒न्तरि॑क्षं स॒ह दे॒वता॑भिः। मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम् ॥ २१ ॥

विदुषा सेनापतिना (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) बृहतां वेदानां पालकेन प्रेरितानाम् (अमीषाम्) तेषां शत्रूणाम् (मा मोचि) मा मुक्तो भवतु (कश्चन) कोऽपि ॥

२०—(अव पद्यन्ताम्) अधः पतन्तु (एषाम्) शत्रूणाम् (आयुधानि) शस्त्राणि (मा शकन्) समर्था मा भूवन् (प्रतिधाम्) शकि णमुल्कमुलौ। पा० ३।४।१२। प्रतिधा-णमुल्। प्रतिधातुम्। आरोपितुम्। लक्ष्यीकर्त्तुम् (अथ) अपि च (एषाम्) (बहु) अधिकम् (बिभ्यताम्) शतृ प्रत्ययः। त्रसताम् (इषवः) बाणाः (घ्नन्तु) मारयन्तु (मर्मणि) मर्मस्थाने ॥

सम् । क्रोशताम् । एनान् । द्यावापृथिवी इति । सम् । अन्तरिक्षम् । सह । देवताभिः ॥ मा । ज्ञातारम् । मा । प्रति-स्थाम् । विदन्त । मिथः । वि-घ्नानाः । उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (एनान्) इनको (सम्) बल से (क्रोशताम्) पुकारें, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (देवताभिः सह) सब लोकों के साथ (सम्) बल से [पुकारे]। वे लोग (मा) न तो (ज्ञातारम्) जानकार पुरुष को और (मा) न (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा [आश्रय वा आदर] (विदन्त) पावें, और (मिथः) आपस में (विघ्नानाः) मारते हुये (मृत्युम्) मृत्यु (उप यन्तु) पावें ॥ २१ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुदल में कोलाहल मचाकर शत्रुओं को सर्वथा निर्बल करदे ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है—अ० ६ । ३२ । ३ ॥

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः। द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अश्वतर्यः । देव-रथस्य । पुरोडाशाः । शफाः । अन्तरिक्षम् । उद्धिः ॥ द्यावापृथिवी इति । पक्षसी इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तः-देशाः । किम्-कराः । वाक् । परि-रथ्यम् ॥ २२ ॥

२१—(सम्) सम्यक् बलात् (क्रोशताम्) आह्वयताम् (एनान्) शत्रून् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (सम्) (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (सह) (देवताभिः) गमनशीलैर्लोकैः (मा) निषेधे (ज्ञातारम्) परिचायकम् (प्रतिष्ठाम्) आश्रयम् । गौरवम् (मा विदन्त) मा प्राप्नुवन्तु (मिथः) परस्परम् (विघ्नानाः) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । पा० ३ । २ । १२९ । हन्-चानश् । विनाशयन्तः (उप यन्तु) प्राप्नुवन्तु (मृत्युम्) मरणम् ॥

भाषार्थ—(देवरथस्य) विजय चाहने वालों के रथ की (चतस्रः) चारों (दिशः) दिशायें (अश्वतर्यः) खच्चरी [हैं], (पुरोडाशाः) पूरी पूये (शफाः) खुर, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उद्धिः) शरीर [बैठक]। (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (पक्षसी) दोनों पक्खे, (ऋतवः) ऋतुयें (अभीशवः) बागडोरें, (अन्तर्देशः) अन्तर्दिशायें (किंकराः) सेवक लोग, (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) चक्र की पुट्ठी [वा हाल] है ॥ २२ ॥

भावार्थ—सब प्रकार से सावधान सेनापति शत्रुओं पर पूरा विजय पाता है ॥ २२ ॥

सं॒व॒त्स॒रो रथः॑ परिवत्स॒रो र॑थोप॒स्थो वि॒राडी॒षाग्नी र॑थमु॒खम्। इन्द्रः॑ सव्य॒ष्ठाश्च॒न्द्रमाः॒ सार॑थिः ॥ २३ ॥

स॒म्-व॒त्स॒रः। रथः॑। प॒रि॒-व॒त्स॒रः। र॒थ॒-उ॒प॒स्थः। वि॒-राट्। ई॒षा। अ॒ग्निः। र॒थ॒-मु॒खम् ॥ इन्द्रः॑। स॒व्य॒-स्थाः। च॒न्द्रमाः॑। सार॑थिः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(संवत्सरः) यथाविधि निवास करनेवाला काल, (रथः)

२२—(दिशः) प्राच्यादयः (चतस्रः) (अश्वतर्यः) वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे। पा० ५। ३। ९१। अश्व—ष्टरच्, ङीष्। खचर्यः (देवरथस्य) विजिगीषूणां युद्धयानस्य (पुरोडाशाः) पुरोऽग्रे दाश्यते दीयते। दाशृ दाने—घञ्। पक्वान्नविशेषाः (शफाः) खुराः (अन्तरिक्षम्) (उद्धिः) भुवः कित्। उ० २। ११२। उन्दी क्लेदने—इसिन्, कित्, पृषोदरादिरूपं यथा ऊधः। शरीरम्। स्थितिस्थानम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (पक्षसी) पक्ष परिग्रहे—असुन्। रथपार्श्वौ (ऋतवः) वसन्तादयः कालाः (अभीशवः) अ० ६। १३७। २। अश्वरश्मयः (अन्तर्देशाः) अन्तर्दिशाः (किंकराः) किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज् विधानम्। वा० पा० ३। २। २१। किम्+डु कृञ् करणे—अच्। दासाः (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथस्येदम्। रथाद्यत्। पा० ४। ३। १२१। रथ—यत्। रथचक्रपरिधिः ॥

२३—(संवत्सरः) अ० ६। ५५। ३। सम्+वस—सरन्। सम्यग्

रथ, (परिवत्सरः) सब ओर से निवास करनेवाला अवकाश (रथोपस्थः) रथ, की बैठक, (विराट्) विराट् [विविध प्रकाशमान सृष्टि] (ईषा) जुये का दण्डा, (अग्निः) अग्नि (रथमुखम्) रथ का मुख [अग्रभाग] । (इन्द्रः) सूर्य (सव्यष्ठाः) बाईं ओर बैठने वाला [सारथी], (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (सारथिः) [दूसरा] सारथी [है] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २२ के समान ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

इतः । जय । इतः । वि । जय । सम् । जय । जय । स्वाहा ॥ इमे । जयन्तु । परा । अमी इति । जयन्ताम् । स्वाहा । एभ्यः । दुःऽआहा । अमीभ्यः ॥ नील-लोहितेन । अमून् । अभि-अवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

भाषार्थ—(इतः) यहां (जय) जीत, (इतः) यहां (वि जय) विजय कर, (सम् जय) पूरा पूरा जीत, (जय) जीत, (स्वाहा) यह सुवाणी है। (इमे) यह

निवासकः कालः (रथः) यानभेदः (परिवत्सरः) अ० ६ । ५५ । ३ । परि+वस-सरन् परितो निवासकोऽवकाशः (रथोपस्थः) रथे स्थितिस्थानम् (विराट्) वि+राजृ दीप्तौ—क्विप् । विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा—निरु० ७ । १३ । विविधं दीप्यमाना सृष्टिः (ईषा) अ० । २ । ८ । ४ । रथयुगदण्डः (अग्निः) पावकः (रथमुखम्) रथाग्रम् (इन्द्रः) सूर्यः (सव्यष्ठाः) सव्य+ष्ठा-विच् । स्थास्थिन्स्थृणामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । वामस्थः सारथिः (चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । चन्द्रलोकः (सारथिः) सर्तेर्णिच्च । उ० ४ । ८९ । सृ गतौ णिच्—अथिन्, णेर्लोपो णित्वाद् वृद्धिः । रथ-चालकः ॥ २४ ॥

२४—(इतः) अत्र (जय) जयं प्राप्नुहि (इतः) (वि) विविधम् (जय) (सम्) सम्यक् (जय) (जय) (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी

लोग (जयन्तु) जीतें, (अमी) वे लोग (परा जयन्ताम्) हार जावें, (एभ्यः) इन लोगों के लिये (स्वाहा) सुवाणी, (अमीभ्यः) उन लोगों के लिये (दुराहा) दुर्वाणी [हो]। (नीललोहितेन) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति से (अमून्) उन लोगों को (अभ्यवतनोमि) गिरा कर फैलाता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—प्रतापी पराक्रमी शूर सेनापति शत्रुओं पर विजय पाकर बहुत धन प्राप्त करके अपनी सुकीर्ति और शत्रुओं की अपकीर्ति करे ॥ २४ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चकोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८ ॥ [ब्रह्मोद्यम्—ब्रह्म का व्याख्यान]

[यह दूसरा ब्रह्मोद्य सूक्त है, देखो—अथर्व का० ५ सू० १ ॥]

१—२६ ॥ प्रजापतिर्विराड् वा देवता ॥ १, ६, ७, ६–११, १३, १५, १६, १७, १९ त्रिष्टुप्; २, ३, २१ पङ्क्तिः; ४, ५, २३, २५, २६ अनुष्टुप्; ८, २२ जगती; १२, २४ भुरिक् त्रिष्टुप्; १४ अतिजगती; १८ निचृत् त्रिष्टुप्; २० भुरिक् पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

कुतस्तौ जातौ कंतुमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कंतुमस्याः पृथिव्याः । वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतुरेण दुग्धा ॥ १ ॥

(इमे) अस्माकं वीराः (अमी) शत्रवः (पराजयन्ताम्) पराजीयन्ताम् । पराभूता भवन्तु (एभ्यः) शूरेभ्यः (दुराहा) दुर्+आङ्+ह्वञ् आह्वाने, यद्वा हु दानादिषु—डा । कुवाणी । अपकीर्तिः (अमीभ्यः) शत्रुभ्यः (नीललोहितेन) अ० ४ । १७ । ४ । नीलानां निधीनां प्रादुर्भावेन । बहुधनप्राप्त्या (अमून्) शत्रून् (अभ्यवतनोमि) अभितो नीचैर्विस्तारयामि ॥

कुतः । तौ । जातौ । कतमः । सः । अर्धः । कस्मात् । लोकात् । कतमस्याः । पृथिव्याः ॥ वत्सौ । वि-राजः । सलिलात् । उत् । ऐताम् । तौ । त्वा । पृच्छामि । कतरेण । दुग्धा ॥१॥

भाषार्थ—(कुतः) कहां से (तौ) वे दोनों [ईश्वर और जीव] (जातौ) प्रकट हुये हैं, (कतमः) [बहुतों में से] कौन सा (सः) वह (अर्धः) ऋद्धि वाला है, (कस्मात् लोकात्) कौन से लोक से और (कतमस्याः) [बहुतसियों में से] कौन सी (पृथिव्याः) पृथिवी से (विराजः) विविध ऐश्वर्यवाली [ईश्वर शक्ति, सूक्ष्म प्रकृति] के (वत्सौ) बताने वाले (सलिलात्) व्याप्ति वाले [समुद्ररूप अगम्य दशा] से (उत् ऐताम्) वे दोनो उदय हुये हैं, (तौ) उन दोनों को (त्वा) तुझ से (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, वह [विराट्] (कतरेण) [दो के बीच] कौन से करके (दुग्धा) पूर्ण की गई है ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर और जीव अपने सामर्थ्य से सब लोकों और सब कालों में व्याप्त हैं, उन्हीं दोनों से प्रकृति के विविध कर्म प्रकट होते हैं, ईश्वर महा ऋद्धिमान् है और वही प्रकृति को संयोग वियोग आदि चेष्टा देता है ॥१॥

१—(कुतः) कस्मात् स्थानात् (तौ) ईश्वरजीवौ (जातौ) प्रादुर्भूतौ (कतमः) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्। पा० ५।३।९३। किम्—डतमच्। बहूनां मध्ये कः (सः) ईश्वरः (अर्धः) ऋधु वृद्धौ—घञ्। प्रवृद्धः। ऋद्धिमान् (कस्मात्) (लोकात्) भुवनात् (कतमस्याः) कतम—टाप्। बह्वीनां मध्ये कस्याः (पृथिव्याः) भूलोकात् (वत्सौ) वृतॄवदिवचिवसि०। उ० ३। ६२। वद व्यक्तायां वाचि, वा वस निवासे आच्छादने च—सप्रत्ययः। वदितारौ। व्याख्यातारौ (विराजः) सत्सूद्विषद्रुहदुह०। पा० ३।२।६१। वि+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क्विप्। विविधैश्वर्यायाः। ईश्वरशक्तेः। प्रकृतेः (सलिलात्) सलिकल्यनिमहि०। उ० १। ५४। षल गतौ—इलच्। व्यापनस्वभावात्। समुद्ररूपात्। अगम्यविधानात् (उदैताम्) इण् गतौ—लङ्। उदगच्छताम् (तौ) ईश्वरजीवौ (त्वा) विद्वांसम् (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (कतरेण) किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्। पा० ५।३।९२। किम्—डतरच्। ईश्वरजीवयोर्मध्ये केन (दुग्धा) प्रपूरिता सा विराट् ॥

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः । वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

यः । अक्रन्दयत् । सलिलम् । महि-त्वा । योनिम् । कृत्वा । त्रि-भुजम् । शयानः ॥ वत्सः । काम-दुघः । वि-राजः । सः । गुहा । चक्रे । तन्वः । पराचैः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(त्रिभुजम्) तीन भुजा वाला, [ऊंचे नीचे और मध्यलोकरूप] (योनिम्) घर (कृत्वा) बनाकर (यः शयानः) जिस सोते हुये ने (महित्वा) अपनी महिमा से (सलिलम्) व्याप्ति वाले [अगम्य देश] को (अक्रन्दयत्) पुकारा । (सः) उस (कामदुघः) कामना पूरक, (वत्सः) बोलने वाले [परमेश्वर] ने (विराजः) विविध ईश्वरी [प्रकृति] की (गुहा) गुहा में [अपने] (तन्वः) विस्तारों को (पराचैः) दूर दूर तक (चक्रे) किया ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने प्रलय, सृष्टि और अवसान में विराजमान होकर अपनी अगम्य शक्तिद्वारा प्रकृति में चेष्टा देकर विविध संसार रचा है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् । ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि । त्रीणि । बृहन्ति । येषाम् । चतुर्थम् । वि-युनक्ति । वाचम् ॥

२—(यः) परमेश्वरः (अक्रन्दयत्) क्रदि आह्वाने रोदने च-लङ् । आहूतवान् (सलिलम्) म० १ । व्यापनस्वभावम् । अगम्यदेशम् (महित्वा) महत्त्वेन (योनिम्) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (कृत्वा) रचयित्वा (त्रिभुजम्) उच्चनीचमध्यलोकत्रयरूपभुजयुक्तम् (शयानः) शयनं गतः (वत्सः) म० १ वदिता (कामदुघः) दुह प्रपूरणे—कप् । अ० ४ । ३४ । ८ । अभीष्टपूरकः (विराजः) म० १। विविधैश्वर्याः । प्रकृतेः (सः) ईश्वरः (गुहा) गुहायाम् । हृदये (चक्रे) कृतवान् (तन्वः) तनूः । विस्तृतीः (पराचैः) दूरदूरम् ॥

ब्रह्मा । एनत् । विद्यात् । तपसा । विपः-चित् । यस्मिन् । एकम् । युज्यते । यस्मिन् । एकम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यानि) जो (त्रीणि) तीन [सत्त्व, रज और तम] (बृहन्ति) बड़े बड़े हैं, (येषाम्) जिन में (चतुर्थम्) चौथा [ब्रह्म] (वाचम्) वाणी (वियुनक्ति) विलगाता है । (विपश्चित्) बुद्धिमान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदवेत्ता ब्राह्मण] (एनत्) इस [ब्रह्म] को (तपसा) तप से (विद्यात्) जाने, (यस्मिन्) जिस [तप] में (एकम्) एक [ब्रह्म] (यस्मिन्) जिस [तप] में (एकम्) एक [ब्रह्म] (युज्यते) ध्यान किया जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने तीनों गुणों द्वारा सृष्टि रची है और जिस ने वेद द्वारा सब उपदेश किया है, उस परमात्मा का ज्ञान अनन्यध्यानी योगी को ही तप द्वारा होता है ॥ ३ ॥

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

बृहतः । परि । सामानि । षष्ठात् । पञ्च । अधि । निः-मिता ॥ बृहत् । बृहत्याः । निः-मितम् । कुतः । अधि । बृहती । मिता ४

भाषार्थ—(षष्ठात्) छठे (बृहतः) बड़े [ब्रह्म] से (पञ्च) पांच (सामानि) कर्म समाप्त करनेवाले [पांच पृथिवी आदि भूत] (परि) सब

३—(यानि) (त्रीणि) सत्त्वरजस्तमांसि (बृहन्ति) प्रवृद्धानि (येषाम्) त्रयाणां मध्ये (चतुर्थम्) तुरीयं शुद्धं ब्रह्म (वियुनक्ति) वियोजयति । प्रकटयति (वाचम्) वाणीम् (ब्रह्मा) अ० २ । ७ । वेदवेत्ता विप्रः । योगिजनः (एनत्) निर्दिष्टं ब्रह्म (विद्यात्) जानीयात् (तपसा) ब्रह्मचर्यादिव्रतेन (विपश्चित्) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधावी—निघ० ३ । १५ । (यस्मिन्) तपसि (एकम्) ब्रह्म (युज्यते) समाधीयते (यस्मिन्) (एकम्) द्विर्वचनं वीप्सायाम् ॥

४—(बृहतः) प्रवृद्धाद् ब्रह्मणः (परि) सर्वतः (सामानि) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । षो अन्तकर्मणि-मनिन् । कर्म समापकानि पृथि-

और (अधि) अधिकार पूर्वक (निर्मिता) बने हैं। (बृहत्) बड़ा [जगत्] (बृहत्याः) बड़ी [विराट्, प्रकृति] से (निर्मितम्) बना है, (कुतः) कहां से (अधि) फिर (बृहती) बड़ी [प्रकृति] (मिता) बनी है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पृथिवी, जल तेज, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों की अपेक्षा जो छठा ब्रह्म है, उससे वे पञ्चभूत प्रकट हुये हैं और उसी की शक्ति से यह जगत् बना है और उसी शक्तिमान् से वह शक्ति उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया हं जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निः-मिता ॥
माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥५॥

भाषार्थ—(बृहती) स्थूल सृष्टि (मात्रायाः) तन्मात्रा से (परि) सब प्रकार और (मातुः) निर्माता [परमेश्वर] से (अधि) ही (मात्रा) तन्मात्रा (निर्मिता) बनी है। (माया) बुद्धि (ह) निश्चय करके (मायायाः) बुद्धि रूप परमेश्वर से और (मायायाः) प्रज्ञारूप परमेश्वर से (मातली) इन्द्र [जीव] का रथवान् [अहंकार वा मन] (परि) सब प्रकार (जज्ञे) उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

व्यादिभूतानि (षष्ठात्) (पञ्च) पञ्चसंख्याकानि (अधि) अधिकारे (निर्मिता) रचितानि (बृहत्) प्रवृद्धं जगत् (बृहत्याः) प्रवृद्धायाः विराडाख्यायाः प्रकृतेः सकाशात् (निर्मितम्) रचितम् (कुतः) कस्मात् (अधि) (पुनः) (बृहती) महती विराट् (मिता) रचिता ॥

५—(बृहती) स्थूला सृष्टिः (परि) सर्वतः (मात्रायाः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । माङ् माने—त्रन् । मीयन्तेऽनया विषयाः । तस्याः तन्मात्रायाः सकाशात् (मातुः) निर्मातुः परमेश्वरात् (मात्रा) तन्मात्रा (अधि) एव (निर्मिता) रचिता (माया) माछाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०८ । मा शब्दे माने च—य, टाप् । प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । (ह) एव (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (मायायाः) बुद्धिरूपात् परमेश्वरात् (मायायाः) (मातली) मतं ज्ञानं लाति गृह्णातीति मतल इन्द्रो जीवः । मत + ला—क । मतलस्यायं पुमान् । अत इञ् । पा० ४ । १ । ९५ । मतल-इञ् । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा° । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मातलिः । इन्द्रसारथिः । मनः यथा यजु० ३४ । ६ । (परि) सर्वतः ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से स्थूल और सूक्ष्म जगत्, और इन्द्र, अर्थात्, जीव का रथवान् मन भी उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

मन को अन्यत्र भी रथवान् सा माना है—यजु० ३४ । ६ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो [मन] मनुष्यों को [इन्द्रियों के द्वारा] लगातार लिये लिये फिरता है, जैसे चतुर रथवान् वेगवाले घोड़ों को बागडोर से; जो हृदय में ठहरा हुआ, सब का चलाने हारा, बड़ाही वेगवाला है वह मेरा मन मङ्गल विचार युक्त हो ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः । ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रति-मा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति । वि-बबाधे । अग्निः ॥ ततः । षष्ठात् । आ । अमुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इतः । यन्ति । अभि । षष्ठम् । अह्नः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उपरि) ऊपर विराजमान (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी [परमेश्वर] की (प्रतिमा) प्रतिमा [आकृति समान] (द्यौः) आकाश है, (यावत्) जितना कि (अग्निः) अग्नि [सर्वव्यापक परमेश्वर] ने (रोदसी) सूर्य और पृथिवी लोक को (विबबाधे) अलग अलग रोका है । (ततः) उसी के कारण (अमुतः) उस (षष्ठात्) छठे [परमेश्वर म० ४] से (अह्नः) दिन [प्रकाश] के (स्तोमाः) स्तुति योग्य गुण [सृष्टि काल में]

६—(वैश्वानरस्य) अ० १ । १० । १४ । सर्वनरहितस्य (प्रतिमा) अ० ३ । १० । ३ । आकृतिवत् (उपरि) सर्वोपरि विराजमानस्य (द्यौः) आकाशः (यावत्) यत्परिमाणम् (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । द्यावापृथिव्यौ (विबबाधे) पृथग् रुरुधे (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (ततः) तस्मात् कारणात् (षष्ठात्) म० ४ । पञ्चभूतापेक्षया षष्ठात्परमेश्वरात् (अमुतः) पूर्वोक्तात् (आ

(आ यन्ति) आते हैं, और (इतः) यहां से (षष्ठम् अभि) छठे [परमेश्वर] की ओर [प्रलय समय] (उत् यन्ति) ऊपर जाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—आकाश समान सर्वव्यापक और पञ्चभूतों की अपेक्षा छठे [म० ४] परमेश्वर ने सूर्य पृथिवी आदि लोकों को प्राणियों के उपकार के लिये अलग अलग किया है, उसकेही सामर्थ्य से प्रकाश आदि प्रकट और लुप्त होते हैं ॥६॥

परमेश्वर आकाश समान व्यापक है जैसा कि यजुर्वेद-४० । १७ । का वचन है [ओ३म् खं ब्रह्म] सब का रक्षक ब्रह्म आकाश [के तुल्य व्यापक है]॥

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपे॒मे त्वं हि युक्तं युयु-क्षे योग्यं च। विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो विधेहि यतिधा सखिभ्यः ॥ ७ ॥

षट् । त्वा । पृच्छाम । ऋषयः । कश्यप । इमे । त्वम् । हि । युक्तम् । युयुक्षे । योग्यम् । च ॥ वि-राजम् । आहुः । ब्रह्मणः । पितरम् । ताम् । नः । वि । धेहि । यति-धा । सखि-भ्यः ॥७॥

भाषार्थ—(कश्यप) हे दृष्टिमान् विद्वन् ! (त्वम्) तू ने (हि) ही (युक्तम्) ध्यान किये हुये (च) और (योग्यम्) ध्यान योग्य [पदार्थ] को (युयुक्षे) ध्यान किया है, (त्वा) तुझ से (पृच्छाम) हम पूंछें, (इमे) ये (षट्) छह (ऋषयः) ऋषि अर्थात् इन्द्रियां [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और मन] (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (विराजम्) विविधेश्वरी शक्ति को (पितरम्=

यन्ति) आगच्छन्ति (स्तोमाः) स्तुत्यगुणाः (उद्यन्ति) उद्गच्छन्ति (इतः) अस्माल्लोकात् (अभि) प्रति (षष्ठम्) ब्रह्म (अहः) दिनस्य । प्रकाशस्य ॥

७—(षट्) षट्संख्याकाः (त्वा) त्वाम् (पृच्छाम) प्रश्नेन निश्चिनवाम (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ८ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । इति वचनात्, त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनांसीन्द्रियाणि (कश्यप) अ० १ । १४ । ४ । पश्यक विद्वन् (त्वम्) (हि) अवश्यम् (युक्तम्) समाहितम् (युयुक्षे) युज समाधौ—लिट् । त्वं समाहितवानसि (योग्यम्) ध्यातव्यम् (च) (विराजम्) म० १ । महेश्वरीं शक्तिम् (आहुः) कथयन्ति (ब्रह्मणः)

अपितरम्) निश्चय करके (आहुः) बताते हैं, (ताम्) उसे (सखिभ्यः नः) हम मित्रों को, (यतिधा) जितने प्रकार हो, (वि धेहि) विधान कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् के विचारवान् विद्वान् आचार्य और शिष्य इन्द्रिय आदि पदार्थों की रचना देखकर, परब्रह्म की शक्ति विचार कर सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् । यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

याम् । प्र-च्युताम् । अनु । यज्ञाः । प्र-च्यवन्ते । उप-तिष्ठन्ते । उप-तिष्ठमानाम् ॥ यस्याः । व्रते । प्र-सवे । यक्षम् । एजति । सा । वि-राट् । ऋषयः । परमे । वि-ओमन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(याम् प्रच्युताम् अनु) जिस आगे बढ़ी हुई के पीछे (यज्ञाः) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार, सृष्टि समय में] (प्रच्यवन्ते) आगे बढ़ते हैं, (उपतिष्ठमानाम्) ठहरती हुई के [पीछे, प्रलय में] (उपतिष्ठन्ते) ठहर जाते हैं। (यस्याः) जिस [शक्ति] के (व्रते) नियम और (प्रसवे) बड़े ऐश्वर्य में (यक्षम्) संगति योग्य जगत् (एजति) चेष्टा करता है, (ऋषयः) हे ऋषि लोगो ! (सा) वह (विराट्) विविधेश्वरी (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) विविध रक्षक परमेश्वर में है ॥ ८ ॥

परमेश्वरस्य (पितरम्) अल्लोपः । अपितरम् । निश्चयेन (ताम्) विराजम् (नः) अस्मभ्यम् (वि धेहि) विधानेन कथय (यतिधा) यत्प्रकारेण (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः ॥

८—(याम्) विराजम् (प्रच्युताम्) अग्रेगताम् (अनु) अनुसृत्य (यज्ञाः) संयोगवियोगव्यवहाराः (प्रच्यवन्ते) प्रकर्षेण गच्छन्ति (उपतिष्ठन्ते) स्थितिं प्राप्नुवन्ति (उपतिष्ठमानाम्) स्थितिं गच्छन्तीम्, अनु इतिशेषः (यस्याः) विराजः (व्रते) नियमे (प्रसवे) प्रकृष्टैश्वर्ये (यक्षम्) ऋतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । यज संगतिकरणे-सप्रत्ययः । संगन्तव्यं जगत् (एजति) चेष्टते (सा) (विराट्) म० १ । महेश्वरी (ऋषयः) हे साक्षात्कृत-

भावार्थ—जो परमेश्वरशक्ति जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण है, उसका ऋषि लोग ध्यान करते हैं ॥ ८ ॥

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात्। विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अप्राणा । एति । प्राणेन । प्राणतीनाम् । वि-राट् । स्व-राजम् । अभि । एति । पश्चात् ॥ विश्वम् । मृशन्तीम् । अभि-रूपाम् । वि-राजम् । पश्यन्ति । त्वे इति । न । त्वे इति । पश्यन्ति । एनाम् ॥ ९ ॥

भावार्थ—(अप्राणा) न श्वास लेने वाली (विराट्) विराट् (विविधेश्वरी] (प्राणतीनाम्) श्वास लेने वाली [प्रजाओं] के (प्राणेन) श्वास के साथ (एति) चलती है और (पश्चात्) फिर (स्वराजम् अभि) स्वराट् [स्वयं राजा, परमेश्वर] की ओर (एति) जाती है। (विश्वम्) जगत् को (मृशन्तीम्) छूती हुई (अभि रूपाम्) मनोहर (विराजम्) विराट् [महेश्वरी] को (त्वे) कोई कोई (पश्यन्ति) देखते हैं और (त्वे) कोई कोई (एनाम्) इस [महेश्वरी] को (न) नहीं (पश्यन्ति) देखते हैं ॥ ९ ॥

धर्म्मणः (परमे) परमोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । वि + अव—रक्षणे मनिन् । विविधरक्षके परमात्मनि ॥

९—(अप्राणा) नास्ति प्राणः श्वासग्रहणावकाशो यस्याः सा । निरन्तरं चेष्टायमाना । निरलसा (प्राणेन) श्वासेन (प्राणतीनाम्) प्रश्वसन्तीनां प्रजानाम् (विराट्) म० १ । ईश्वरशक्तिः (स्वराजम्) राजृ—क्विप् । स्वयं राजानं परमेश्वरम् (अभि) प्रति (एति) (पश्चात्) पुनः (विश्वम्) जगत् (मृशन्तीम्) स्पृशन्तीम् (अभिरूपाम्) मनोहराम् (विराजम्) महेश्वरीम् (पश्यन्ति) साक्षात्कुर्वन्ति (त्वे) सर्वनिघृष्वरिष्व० । उ० १ । १५३ । तनोतेः—वन्, टिलोपो निपात्यते । त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तमर्धनामेत्येके—निरु० १ । ७ । एके विद्वांसः (न) निषेधे (त्वे) अन्ये मूढाः (पश्यन्ति) (एनाम्) विराजम् ॥

भावार्थ—निरन्तर व्यापिनी ईश्वर शक्ति को सूक्ष्मदर्शी पुरुष साक्षात् करते हैं, अज्ञानी उसको नहीं जानते ॥ ९ ॥

को वि॒राजो॑ मिथुन॒त्वं प्र वे॑द॒ क ऋ॒तून् क उ॒ कल्प॑मस्याः ।
क्रमा॒न् को अ॑स्याः कति॒धा विदु॑ग्धा॒न् को अ॑स्या॒ धाम॑
कति॒धा व्यु॑ष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

कः । वि॒ऽराजः॑ । मि॒थु॒न॒ऽत्वम् । प्र । वे॒द॒ । कः । ऋ॒तून् । कः ।
ऊँ॒ इति॑ । कल्प॑म् । अ॒स्याः॒ ॥ क्रमा॑न् । कः । अ॒स्याः॒ । क॒ति॒ऽधा ।
विऽदु॑ग्धान् । कः । अ॒स्याः॒ । धाम॑ । क॒ति॒ऽधा । विऽउ॑ष्टीः॥१०॥(२२)

भाषार्थ—(कः) कौन पुरुष (विराजः) विराट् की [विविधेश्वरी ईश्वर शक्ति की] (मिथुनत्वम्) बुद्धिमत्ता (प्र) भले प्रकार (वेद) जानता है, (कः) कौन (अस्याः) इस [विराट्] के (ऋतून्) ऋतुओं [नियत कालों] को, और (कः) कौन (उ) ही (कल्पम्) सामर्थ्य को। (कः) कौन (अस्याः) इसके (कतिधा) कितने ही प्रकार से (विदुग्धान्) पूर्ण किये हुये (क्रमान्) क्रमों [विधानों] को, (कः) कौन (अस्याः) इसके (धाम) घर को और (कतिधा) कितने ही प्रकार की (व्युष्टीः) समृद्धियों को [जानता है] ॥ १० ॥

भावार्थ—दूरदर्शी, विवेकी जन परमात्मा की शक्ति के विविध स्वभावों को जानते हैं ॥ १० ॥

१०—(कः) (विराजः) म० १ । विविधेश्वर्याः (मिथुनत्वम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथ वधे मेधायां च—उनन्, भावे त्व । बुद्धिमत्त्वम् (प्र) प्रकर्षेण (वेद) जानाति (ऋतून्) वसन्तादितुल्यनियत-कालान् (कः) (उ) एव (कल्पम्) कृपू सामर्थ्ये—अच् घञ् वा । सामर्थ्यम् (अस्याः) पूर्वोक्तायाः (क्रमान्) विधानानि (कः) (अस्याः) (कतिधा) कतिप्रकारेण । बहुप्रकारेण (विदुग्धान्) विविधपूरितान् (कः) (अस्याः) (धाम) गृहम् (कतिधा) (व्युष्टीः) वि+वस निवासे, आच्छादने प्रीतौ च, उष दाहे, वश कान्तौ वा—क्तिन् । समृद्धीः । प्रकाशान् । स्तुतीः ॥

इ॒यमे॒व सा या प्र॑थ॒मा व्यौच्छ॑दा॒स्वित॑रासु चरति॒ प्रवि॑ष्टा । म॒हान्तो॑ अस्यां महि॒मानो॑ अ॒न्तर्व॒धूर्जि॑गाय नव॒गज्जनि॑त्री ॥ ११ ॥

इ॒यम् । ए॒व । सा । या । प्र॒थ॒मा । वि॒-औच्छ॑त् । आ॒सु॒ । इत॑रासु । च॒र॒ति॒ । प्र-वि॑ष्टा ॥ म॒हान्तः॑ । अ॒स्याम् । म॒हि॒मानः॑ । अ॒न्तः । व॒धूः । जि॒गा॒य॒ । न॒व॒-गत् । जनि॑त्री ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इयम् एव) यही (सा) यह ईश्वरी, [विराट्, ईश्वर शक्ति] है, (या) जो (प्रथमा) प्रथम (व्यौच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियों] में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर (महान्तः) बड़ी बड़ी (महिमानः) महिमायें हैं, उस (नवगत्) नवीन नवीन गति वाली (वधूः) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थों को] (जिगाय) जीत लिया है। ११

भावार्थ—ईश्वर शक्ति की महिमाओं को अनुभव करके विद्वान् लोग विघ्नों का नाश करते हैं ॥ ११ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ३ । १० । ४ ॥

छन्दः॑ प॒क्षे उ॒षसा॒ पेपि॑शाने समा॒नं योनि॒मनु॒ सं च॑रेते । सूर्य॑पत्नी॒ सं च॑रतः प्रजान॒ती के॑तु॒मती॑ अ॒जरे॒ भूरि॑रेतसा १२

छन्दः॑पक्षे॒ इति॒ छन्दः॑-पक्षे॒ । उ॒षसा॑ । पेपि॑शाने॒ इति॑ । स॒मा॒नम् । योनि॑म् । अनु॑ । सम् । च॒रे॒ते॒ इति॑ ॥ सूर्य॑पत्नी॒ इति॒ सूर्य॑-पत्नी । सम् । च॒र॒तः॒ । प्र॒जा॒न॒ती इति॑ प्र॒-जा॒न॒ती । के॒तु॒मती॒ इति॑ के॒तु-मती॑ । अ॒जरे॒ इति॑ । भूरि॑-रेतसा ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(उषसा) उषा [प्रभात वेला] के साथ (पेपिशाने) अत्यन्त

११—(इयम्) परिदृश्यमाना विराट् (एव) (सा) ईश्वरी (या) विराट् । अन्यत् पूर्ववत्—अ० ३ । १० । ४ ॥

१२—(छन्दःपक्षे) छदि संवरणे—असुन् + पक्ष परिग्रहे—अच् । स्वेच्छाया

सुवर्ण वा रूप करती हुई, (छन्दःपक्षे) स्वतन्त्रता का ग्रहण करती हुई दोनों (समानम्) एक (योनिम् अनु) घर [परमेश्वर] के पीछे पीछे (सम् चरेते) मिलकर चलती हैं। (प्रजानती) [मार्ग] जानती हुई, (केतुमती) झण्डा रखती हुई [जैसे], (अजरे) शीघ्र चलने वाली, (भूरिरेतसा) बड़ी सामर्थ्य वाली, (सूर्यपत्नी) सूर्य की दोनों पत्नियां [रात्रि और प्रभात वेलायें] (सम् चरतः) मिलकर विचरती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—उसी विराट् की महिमा से रात्रि और दिन विविध प्रकार संसार का उपकार करते हैं ॥ १२ ॥

ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मनु॑ ति॒स्र आगु॒स्त्रयो॑ घ॒र्मा अनु॒ रेत॒ आगुः॑।
प्र॒जामेका॒ जिन्व॒त्यूर्ज॒मेका॑ रा॒ष्ट्रमेका॑ रक्षति देव॒यूनाम् १३

ऋ॒तस्य॑ । पन्था॑म् । अनु॑ । ति॒स्रः । आ । अ॒गुः॒ । त्रयः॑ । घ॒र्माः । अनु॑ । रेतः॑ । आ । अ॒गुः॒ । प्र॒ऽजाम् । एका॑ । जिन्व॑ति । ऊर्ज॑म् । एका॑ । रा॒ष्ट्रम् । एका॑ । र॒क्ष॒ति॒ । दे॒व॒ऽयूनाम् ॥१३

भाषार्थ—(तिस्रः) तीन [देवियां अर्थात् १—इडा स्तुतियोग्य भूमि वा नीति, २—सरस्वती प्रशस्त विज्ञान वाली विद्या वा बुद्धि, ३—और भारती पोषण करने वाली शक्ति वा विद्या] (ऋतस्य) सत्य शास्त्र के (पन्थाम् अनु) पथ पर (आ अगुः) चलती आयी हैं और (त्रयः) तीन (घर्माः) सींचने वाले

अहोरात्र्यौ (उषसा) प्रभातवेलया सह (पेपिशाने) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्। पा० ३। २। १२९। पिश अवयवे प्रकाशे-च, यङ्लुकि-चानश्। पेशो हिरण्यनाम-निघ० १। २, रूपनाम-निघ० ३। ७। अत्यन्तं पेशो हिरण्यं रूपं वा कुर्वाणे (समानम्) सामान्यम् (योनिम्) गृहम्। परमेश्वरम् (अनु) अनुसृत्य (सम् चरेते) समस्तृतीयायुक्तात्। पा० १। ३। ५४। आत्मने पदम्। मिलित्वा चरतः (सूर्यपत्नी) सूर्यस्य पत्न्यौ यथा रात्रिप्रभातवेले (सम्) सम्यक् (चरतः) विचरतः (प्रजानती) मार्गं ज्ञात्र्यौ (केतुमती) पताकावत्यौ तथा (अजरे) अजराः क्षिप्रनाम-निघ० २। १५। क्षिप्रगामिन्यौ (भूरिरेतसा) बहुवीर्यवत्यौ ॥

१३—(ऋतस्य) सत्यशास्त्रस्य, वेदस्य (पन्थाम्) पन्थानम् (अनु) अनुसृत्य (तिस्रः) तिस्रो देव्यः, इडासरस्वतीभारत्यः—अ० ५। ३। ७। तथा ५। १२। ८। (आ अगुः) आगतवत्यः (त्रयः) देवपूजासंगतिकरणदानरूपाः

यज्ञ [अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण और दान] (रेतः अनु) वीरता के साथ साथ (आ अगुः) चलते आये हैं। (एका) एक [इड़ा] (प्रजाम्) प्रजा को (एका) एक [सरस्वती] (ऊर्जम्) पुरुषार्थ वा अन्न को (जिन्वति) भरपूर करती है; (एका) एक [भारती] (देवयूनाम्) दिव्यगुण प्राप्त करने वाले [धर्मात्माओं] के (राष्ट्रम्) राज्य की (रक्षति) रक्षा। करती है ॥ १३ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुषार्थी पुरुष वेद मार्ग पर चल कर पुरुषार्थ पूर्वक प्रजा और राज्य की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

तीन देवियों के विषय में देखो—अ० ५। ३। ७। और ५। १२। ८ ॥

अ॒ग्नीषोमा॒वद॑धु॒र्या तु॒रीयासी॑द् य॒ज्ञस्य॑ प॒क्षावृष॑यः क॒ल्पय॑न्तः। गा॒य॒त्रीं त्रि॒ष्टुभं॒ जग॑तीमनु॒ष्टुभं॑ बृहद॒र्कीं यज॑मानाय॒ स्व॑रा॒भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥

अ॒ग्नीषोमौ॑। अद॑धुः। या। तु॒रीया॑। आसी॑त्। य॒ज्ञस्य॑। प॒क्षौ। ऋष॑यः। क॒ल्पय॑न्तः ॥ गा॒य॒त्रीम्। त्रि॒-स्तुभ॑म्। जग॑तीम्। अ॒नु॒-स्तुभ॑म्। बृ॒ह॒त्-अ॒र्कीम्। यज॑मानाय। स्वः॑। आ॒-भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यज्ञस्य) यज्ञ [रसों के संयोग वियोग] के (पक्षौ) ग्रहण करने वाले (अग्नीषोमौ) सूर्य और चन्द्रमा [के समान] (ऋषयः) ऋषि लोगों ने, (या) जो [वेद वाणी] (तुरीया) वेगवती वा ब्रह्म की [जो सत्व,

---

(घर्माः) सेचकव्यवहारा यज्ञाः—निघ० ३। १७। (अनु) अनुलक्ष्य (रेतः) वीर्यम्। पुरुषार्थम् (आ अगुः) आगतवन्तः (प्रजाम्) सन्तानभृत्यादिरूपाम् (एका) इडा (जिन्वति) तर्पयति (ऊर्जम्) ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप्। पुरुषार्थम्। अन्नम्—निघ० २। ७। (एका) सरस्वती (राष्ट्रम्) राज्यम् (एका) भारती (रक्षति) पाति (देवयूनाम्) अ० ४। २१। २। दिव्यगुणप्रापकानाम्। धर्मात्मनाम् ॥

१४—(अग्नीषोमौ) सूर्यचन्द्रौ यथा (अदधुः) धारितवन्तः (या) अनुष्टुप् वाक् (तुरीया) घच्छौ च। पा० ४। ४। ११७। तुर—छः, तत्र भव

रज और तम तीन गुणों से परे चौथा है] (आसीत्) थी, (यजमानाय) यजमान के लिये (स्वः) मोक्ष सुख (आभरन्तीम्) भर देने वाली [उस] (गायत्रीम्) गाने योग्य, (त्रिष्टुभम्) [कर्म, उपासना और ज्ञान इन] तीन से पूजी गयी, (जगतीम्) प्राप्ति योग्य, (बृहदर्कीम्) बड़े सत्कार वाली (अनुष्टुभम्) निरन्तर स्तुति योग्य [विराट् वा वेदवाणी] को (कल्पयन्तः) समर्थन करते हुये (अदधुः) धारण किया है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ऋषि महात्माओं ने यथावत् नियम पर चलकर वेदवाणी को ग्रहण किया है, उसी प्रकार सब मनुष्य वेदवाणी को स्वीकार कर के मोक्षपद प्राप्त करें ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु

इत्यर्थे । तुरे वेगे भवा । वेगवती । यद्वा चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च । वा० पा० ५ । २ । ५१ । चतुर्—छ, चलोपः । सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयपरं तुरीयं चतुर्थं ब्रह्म । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । तुरीय—अच्, टाप् । ब्रह्मसम्बन्धिनी (आसीत्) (यज्ञस्य) रसानां संयोगवियोगस्य (पक्षौ) ग्रहीतारौ (ऋषयः) मुनयः (कल्पयन्तः) कृपू सामर्थ्ये—णिच्—शतृ । समर्थयन्तः (गायत्रीम्) अ० ३ । ३ । २ । अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् । उ० ३ । १०५ । गै गाने-अत्रन्, ङीष् । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । गानयोग्याम् (त्रिष्टुभम्) अ० ६ । ४८ । ३ । त्रि + ष्टुभ पूजायाम्–क्विप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा, का तु त्रिता स्यात् तीर्णतमं छन्दस्त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा, यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते—निरु० ७ । १२ । त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता (जगतीम्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । गम्लृ गतौ—अति, ङीप् । जगती गोनाम—निघ० २ । ११ । जगती गततमं छन्दो जलचरगतिर्वा जलगल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्—निघ० ७ । १३ । गम्यमानाम् । प्राप्तव्याम् (अनुष्टुभम्) अनु + ष्टुभ्—क्विप् । स्तोभतिरर्चतकर्मा—निघ० ३ । १४ । अनुष्टुबनुष्टोभनात्—निरु० ७ । १२ । वाचम्—निघ० १ । ११ । निरन्तरस्तुत्यां विराजं वेदवाचं वा (बृहदर्कीम्) बहुपूजावतीम् (यजमानाय) याजकाय (स्वः) मोक्षसुखम् (आभरन्तीम्) समन्तात् पोषयन्तीम् ॥

पञ्च॑। पञ्च॒ दिशः॑ पञ्चद॒शेन॒ क्लृ॒प्तास्ता एक॑मू॒र्ध्नीर॒भि लो॒कमेक॑म् ॥ १५ ॥

पञ्च॑ । वि-उ॒ष्टीः । अनु॑ । पञ्च॑ । दोहाः॑ । गाम् । पञ्च॑-नाम्नीम् । ऋ॒तवः॑ । अनु॑ । पञ्च॑ ॥ पञ्च॑ । दिशः॑ । प॒ञ्च॒-द॒शेन॑ । क्लृ॒प्ताः । ताः । एक॑-मूर्ध्नीः । अ॒भि । लो॒कम् । एक॑म् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(पञ्च) पांच (व्युष्टीः) विविध प्रकार वास करने वाली [तन्मात्राओं] के (अनु) साथ साथ (पञ्च) पांच [पृथिवी आदि पांच भूत सम्बन्धी] (दोहाः) पूर्ति वाले पदार्थ हैं, (पञ्चनाम्नीम्) पूर्व आदि पांच नाम वाली, यद्वा पांच ओर झुकने वाली (गाम् अनु) दिशा के साथ साथ (पञ्च) पांच (ऋतवः) ऋतुयें हैं [अर्थात् शरद्, हेमन्त शिशिर सहित, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा]। (पञ्च) पांच [पूर्वादि चार और एक ऊपर वाली] (दिशः) दिशायें (पञ्चदशेन) [पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान + पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, और घ्राण + पांच भूत अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन] पन्द्रह पदार्थ वाले जीवात्मा के साथ (क्लृप्ताः) समर्थ की गई हैं, (ताः) वे (एकमूर्ध्नीः) एक [परमेश्वर रूप] मस्तक वाली [दिशायें] (एकम्) एक

१५—(पञ्च) पञ्चसंख्याकाः (व्युष्टीः) म० १० । वि + वस निवासे-क्तिन् । विविधनिवासशीलाः । तन्मात्राः (अनु) अनुसृत्य (पञ्च) पृथिव्यादि-पञ्चभूतसम्बन्धिनः (दोहाः) पूरिताः पदार्थाः (गाम्) दिशाम् (पञ्चनाम्नीम्) पूर्वादिचतस्र उच्चस्था चैका, ताभिः सह नामयुक्ताम्। यद्वा पञ्चदिक्षु नमनशीलाम् (ऋतवः) वसन्तादयः (अनु) अनुलक्ष्य (पञ्च) अ० ८ । २ । २२ । पञ्चर्तवः......हेमन्तशिशिरयोः समासेन-निरु० ४ । २७ (पञ्च) पूर्वादिचतस्र उच्चस्था चैका (दिशः) आशाः (पञ्चदशेन) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये । पा० २ । २ । २५ । इति पञ्चाधिका दश यत्र स पञ्चदशः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । पञ्चदशन्-डच् । पञ्च-प्राणेन्द्रियभूतानि यस्मिन् तेन जीवात्मना (क्लृप्ताः) समर्थिताः (एकमूर्ध्नीः) श्वन्नुक्षन्पूषन् । उ० १ । १५९ । मुर्वी बन्धने-कनिन् । एकः परमेश्वरो मूर्धरूपो

(लोकम् अभि) देश की ओर [वर्तमान हैं] ॥ १५ ॥

भावार्थ—उसी परमात्मा की शक्ति से पञ्चभूत, ऋतुयें और दिशायें आदि जीवों के सुख के लिये उत्पन्न हुये हैं ॥ १५ ॥

पांच ऋतुओं के लिये देखो—अ० ८। २। २२ और निरु० ४। २७ ॥

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति। षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥ १६ ॥

षट्। जाता। भूता। प्रथम-जा। ऋतस्य। षट्। ऊं इति। सामानि। षट्-अहम्। वहन्ति॥ षट्-योगम्। सीरम्। अनु। साम-साम। षट्। आहुः। द्यावापृथिवीः। षट्। उर्वीः ॥१६॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य स्वरूप परमेश्वर के [सामर्थ्य से] (प्रथमजाः) विस्तार के साथ [वा पहिले] उत्पन्न (षट् भूता) छह इन्द्रियां [स्थूल त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और मन] (जाता) प्रकट हुईं, (षट् उ) छह ही (सामानि) कर्म समाप्त करने वाली [इन्द्रियां] (षडहम्) छह [इन्द्रियों] से व्याप्ति वाले [देह] को (वहन्ति) ले चलती हैं। (षड्योगम्) छह [स्पर्श, दृष्टि, श्रुति, रसना, घ्राण और मनन सूक्ष्म शक्तियों] से संयोग वाले (सीरम् अनु) बन्धन के साथ साथ (सामसाम) प्रत्येक कर्म समाप्त करने वाली [स्थूल इन्द्रिय है], [लोग] (षट् षट्) छह छह [स्थूल इन्द्रियों

यासां ता दिशाः (अभि) अभिलक्ष्य (लोकम्) देशम् (एकम्) ॥

१६—(षट्) षट्संख्याकानि (जाता) प्रादुर्भूतानि (भूता) म० ७। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनांसि स्थूलेन्द्रियाणि (प्रथमजा) प्रथेरमच्। उ० ५। ६८। प्रथ प्रख्याने विस्तारे च-अमच्। विस्तारेण, आदौ वा जातानि (ऋतस्य) सत्यस्वरूपस्य परमात्मनः, सामर्थ्यात्, इति शेषः (षट्) षट्संख्याकानीन्द्रियाणि (उ) एव (सामानि) म० ४। कर्मसमापकानीन्द्रियाणि (षडहम्) अह व्याप्तौ-घञर्थे क। षडिन्द्रियैः सह व्यापकं देहम् (वहन्ति) गमयन्ति (षड्योगम्) षडिन्द्रियाणां सूक्ष्मशक्तियुक्तम् (सीरम्) सुसिचिमीनां दीर्घश्च। उ० २। २५। षिञ् बन्धने-क्रन्, बन्धम् (अनु) अनुसृत्य (सामसाम) म० ४। प्रत्येक-

और उनकी सूक्ष्म शक्तियों से सम्बन्ध वाले] (उर्वीः) विस्तृत (द्यावापृथिवीः) प्रकाशमान और अप्रकाशमान लोकों को (आहुः) बताते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि परमेश्वर के सामर्थ्य से स्थूल इन्द्रियां और उनकी सूक्ष्म शक्तियां उत्पन्न हुईं और उनके ही आश्रित संसार के सब पदार्थ हैं ॥ १६ ॥

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः। सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥ १७ ॥

षट् । आहुः । शीतान् । षट् । ऊं इति । मासः । उष्णान् । ऋतुम् । नः । ब्रूत । यतमः । अति-रिक्तः ॥ सप्त । सु-पर्णाः । कवयः । नि । सेदुः । सप्त । छन्दांसि । अनु । सप्त । दीक्षाः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—वे [ईश्वर नियम] (षट्) छह (शीतान्) शीत और (षट् उ) छह ही (उष्णान्) उष्ण (मासः) महीने (आहुः) बताते हैं, (ऋतुम्) [वह] ऋतु (नः) हमें (ब्रूत) बताओ (यतमः) जो कोई (अतिरिक्तः)

कर्मसमापकेन्द्रियम् (षट्) षट्स्थूलेन्द्रियसंबद्धाः (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (द्यावापृथिवीः) प्रकाशमानाप्रकाशमानलोकान् (षट्) षडिन्द्रियाणां सूक्ष्मसामर्थ्ययुक्ताः (उर्वीः) विस्तृताः ॥

१७—(षट्) (आहुः) कथयन्ति परमात्मनियमाः (शीतान्) अ० १। २५। ४। शीतलान् (षट्) (उ) एव (मासः) माङ् माने—असुन। मासान् (उष्णान्) शीतभिन्नान् (ऋतुम्) वसन्तादिकम् (नः) अस्मभ्यम् (ब्रूत) कथयत (यतमः) यः कश्चित् (अतिरिक्तः) भिन्नः (सप्त) शुक्लनीलपीतादिसप्तवर्णयुक्ताः (सुपर्णाः) अ० १। २४। १। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः—निरु० ३। १२। आदित्यरश्मयः (कवयः) "कवतेः" धातोः गत्यर्थस्य कविः, कवति गच्छत्यसौ नित्यम्—इति दुर्गाचार्यो निरुक्तटीकायाम्, १२। १३। कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्, कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४। १२। गतिशीलानीन्द्रियाणि। गतिशीला आदित्यरश्मयः (निषेदुः) निषी-

भिन्न है। (सप्त) सात [वा सात वर्ण वाली] (सुपर्णाः) बड़ी पालने वाली (कवयः) गति शील इन्द्रियां [वा सूर्य की किरणें] (सप्त) सात (छन्दांसि अनु) ढकनों [मस्तक के छिद्रों] के साथ (सप्त) सात (दीक्षाः) संस्कारों में (नि षेदुः) बैठी हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—(कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥) अ० १० । २ । ६ ॥

" प्रजापति ने मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख। जिनके विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं॥" मस्तक में सात गोलक होने में यह अथर्ववेद १० । २ । ६ का प्रमाण मन्त्र है, इसका प्रमाण अ० २ । १२ । ७ में आ चुका है।

विराट्, ईश्वर शक्ति, से वर्ष में द्वन्द्वसूचक शीत और उष्ण दो ऋतु हैं, अन्य ऋतुयें इनके अन्तर्गत हैं। यह ऋतुयें सूर्य की किरणों के तिरछे और सीधे पड़ने से होती हैं। किरणों में, शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र यह सात वर्ण हैं। इन किरणों का प्रभाव मस्तक के सात छिद्रों दो दो कानों, नथनों, आंखों और एक मुख पर पड़ता है। उस से सात संस्कार, दो दो प्रकार के श्रवण, गन्ध, दर्शन और एक कथन शक्ति उत्पन्न होकर समस्त शरीर का पालन करते हैं ॥ १७ ॥

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥ १८ ॥

सप्त । होमाः । सम्-इधः । ह । सप्त । मधूनि । सप्त । ऋत-

दन्ति स्म (सप्त) (छन्दांसि) अ० ४ । ३४ । १ । छदि आच्छादने—असुन्। कः सप्त खानि······अ० १० । २ । ६ । इति श्रवणात्। आवरकाणि कर्णादीनि शीर्षण्यानि छिद्राणि (अनु) अनुसृत्य (सप्त) (दीक्षाः) अ० ८ । ५ । १५ । संस्कारान् ॥

वः । ह । सप्त ॥ सप्त । आज्यानि । परि । भूतम् । आयन् । ताः । सप्त-गृध्राः । इति । शुश्रुम । वयम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(सप्त) सात (होमाः) [विषयों की] ग्रहण करने वाली [इन्द्रियां, त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि], (सप्त) सात (ह) ही (समिधः) विषय प्रकाश करने वाली [इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियां], (सप्त) सात (मधूनि) ज्ञान [विषय] और (सप्त) सात (ह) ही (ऋतवः) गति [प्रवृत्ति] हैं । [वे ही] (सप्त) सात (आज्यानि) विषयों के प्रकाश साधन (भूतम् परि) प्रत्येक प्राणी के साथ (ताः) उन [प्रसिद्ध] (सप्तगृध्राः) सात इन्द्रियों से उत्पन्न हुई वासनाओं को (आयन्) प्राप्त हुये हैं, (इति) यह (वयम्) हम ने (शुश्रुम) सुना है ॥ १८ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने वेदादि शास्त्रों से निश्चय किया है कि सात इन्द्रियों और उनकी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त करके प्राणी कामों में प्रवृत्ति करता है ॥ १८ ॥

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि । कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुः-उत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अ-

१८—(सप्त) (होमाः) हु दानादानादनेषु—मन् । विषयाणां ग्राहिकास्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः (समिधः) ज्ञानादिप्रकाशिकाः समिद्रूपा इन्द्रियशक्तयः (ह) एव (सप्त) (मधूनि) ज्ञाने—उ । ज्ञानानि । इन्द्रियविषयाः सप्त (ऋतवः) अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । ऋ गतौ—तु । गतयः प्रवृत्तयः (सप्त) (आज्यानि) अ० ५ । ८ । १ । विषयाणां व्यक्तीकराणि साधनानि (परि) परीत्य । प्राप्य (भूतम्) जीवम् (आयन्) प्राप्नुवन् (ताः) प्रसिद्धाः (सप्तगृध्राः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्—क्रन् । गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४ । १३ । सप्त गृध्राणीन्द्रियाणि यासां ता वासनाः (इति) एवम् (शुश्रुम) श्रुतवन्तः (वयम्) ज्ञानिनः ॥

धि॑ । आर्पि॑तानि ॥ कथम् । स्तोमा॑ः । प्रति॑ । तिष्ठन्ति । तेषु॑ । तानि॑ । स्तोमे॑षु । कथम् । आर्पि॑तानि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(चतुरुत्तराणि) [धर्म अर्थ काम मोक्ष] चतुर्वर्ग से अधिक उत्तम किये गये (सप्त) सात (छन्दांसि) ढकने [मस्तक के सात छिद्र] (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरे में (अधि) यथावत् (आर्पितानि) यथावत् जड़े हुये हैं। (कथम्) कैसे (स्तोमाः) स्तुति योग्य गुण (तेषु) उन [मस्तक के गोलकों] में (प्रति तिष्ठन्ति) दृढ़ता से स्थित हैं, (तानि) वे [मस्तक के छिद्र] (स्तोमेषु) स्तुति योग्य गुणों में (कथम्) कैसे (आर्पितानि) ठीक ठीक जमे हुये हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—मस्तक के सात गोलक दो कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख के द्वारा धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति से मनुष्य उत्तम सुख भोगते हैं, यह दृढ़ ईश्वर नियम है ॥ १९ ॥

कथं गा॑यत्री त्रि॒वृतं॒ व्या॑प क॒थं त्रि॒ष्टुप् प॑ञ्चद॒शेन॑ कल्पते। त्र॒य॒स्त्रिं॒शेन॒ जग॑ती क॒थम॑नु॒ष्टुप् क॒थमे॑कवि॒ंशः॥२०॥२३

कथम् । गायत्री । त्रि-वृतम् । वि । आप । कथम् । त्रि-स्तुप् । पञ्च-दशेन॑ । कल्पते ॥ त्रयः-त्रिंशेन॑ । जग॑ती । कथम् । अनु-स्तुप् । कथम् । एक-विंशः ॥ २० ॥ (२३)

भाषार्थ—(गायत्री) गाने योग्य [वह विराट्] (त्रिवृतम्) [सत्त्व, रज और तमोगुण—इन] तीनों के साथ वर्तमान [जीवात्मा] को (कथम्) कैसे

१९—(सप्त) (छन्दांसि) म० १७। शीर्षण्यानि छिद्राणि (चतुरुत्तराणि) उत्—तरप्। चतुर्वर्गेण धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थेन (अन्योऽन्यस्मिन्) परस्परम् (अधि) अधिकारे (आर्पितानि) सम्यक् निवेशितानि। संलग्नानि (कथम्) केन प्रकारेण (प्रति) निश्चयेन (तिष्ठन्ति) (तेषु) छन्दःसु (तानि) छन्दांसि (स्तोमेषु) स्तुत्यगुणेषु ॥

२०—(कथम्) केन प्रकारेण (गायत्री) म० १४। गानयोग्या विराट् (त्रिवृतम्) वृतु वर्तने—क्विप्। त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैः सह वर्तमानं जीवात्मा-

(वि आप) व्यापी है, (त्रिष्टुप्) [कर्म, उपासना और ज्ञान इन] तीनों द्वारा पूजी गयी [मुक्ति] (पञ्चदशेन) [म० १४ । पांच प्राण, पांच इन्द्रिय, और पञ्चभूत—इन] पन्द्रह पदार्थ वाले [जीवात्मा] के साथ (कथम्) कैसे (कल्पते) समर्थ होती है । (त्रयस्त्रिंशेन) [८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति—इन] तेतीस [देवताओं] को अपने में रखने वाले [परमात्मा] के साथ (कथम्) कैसे (जगती) प्राप्ति योग्य [प्रकृति, सृष्टि] और (कथम्) कैसे (अनुष्टुप्) निरन्तर स्तुति योग्य [वेदवाणी] और (एकविंशः) [५ महाभूत, ५ प्राण, ५ ज्ञान इन्द्रिय, ५ कर्म इन्द्रिय और १ अन्तः करण—इन] इक्कीस पदार्थों वाला [जीवात्मा] [समर्थ होता है] ॥ २० ॥

भावार्थ—ईश्वर की विविध शक्तियों को साक्षात् करके विज्ञानी योगीजन अपनी शक्तियां बढ़ाकर आनन्द पाते हैं ॥ २० ॥

तेतीस देवता यह हैं,—८ वसु, अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,—११ रुद्र, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ आदित्य अर्थात् महीने,—१ इन्द्र, अर्थात् बिजुली—१ प्रजापति अर्थात् यज्ञ,—अथर्व० ६ । १३९ । १ । तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६६ । ६८ ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१॥

अष्ट । जाता । भूता । प्रथम-जाः । ऋतस्य । अष्ट । इन्द्र ।

नम् (व्याप) व्याप्तवती (कथम्) (त्रिष्टुप्) म० १४ । कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता (मुक्तिः) (पञ्चदशेन) म० १५ । पञ्चप्राणेन्द्रियभूतानि यत्र तेन जीवात्मना (कल्पते) समर्था भवति (त्रयस्त्रिंशेन) त्र्यधिका त्रिंशत् यस्मिन् स त्रयस्त्रिंशः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । बहुव्रीहौ डच् । वसुरुद्रादित्येन्द्रप्रजापतयस्त्रयस्त्रिंशद् देवा यस्मिन् तेन परमात्मना (जगती) म० १४ । प्राप्तियोग्या । प्रकृतिः । सृष्टिः (कथम्) (अनुष्टुप्) म० १४ । निरन्तरस्तुत्या वेदवाणी (कथम्) (एकविंशः) पूर्ववत् डच् । एकाधिका विंशतिर्यस्मिन् सः । पञ्चमहाभूतप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियैरन्तःकरणेन च सह वर्तमानो जीवात्मा ॥

ऋत्विजः॑ । दैव्याः॑ । ये ॥ अष्ट-योनिः । अदि॑तिः । अष्ट-पु॑त्रा । अष्टमीम् । रात्रिम् । अभि । हव्यम् । एति ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अष्ट) आठ [महत्तत्त्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन से सम्बन्ध वाले] (जाता) उत्पन्न (भूता) जीव (प्रथमजा) आदिकारण [प्रकृति] से प्रकट हैं, (ये) जो (अष्ट) आठ [चार दिशा और चार विदिशा में स्थित], (इन्द्र) हे जीव ! (ऋतस्य) सत्य नियम के (ऋत्विजः) सब ऋतुओं में देने वाले (दैव्याः) दिव्य गुणवाले [पदार्थ हैं] । (अष्टयोनिः) [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन] आठ से संयोग वाली, (अष्टपुत्रा) [अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता, इन आठ ऐश्वर्यरूप] आठ पुत्रवाली (अदितिः) अखण्ड [विराट् ईश्वर, शक्ति] (अष्टमीम्) व्याप्त [जगत्] को नापने वाली (रात्रिम् अभि) रात्रि [विश्राम देनेवाली मुक्ति] में (हव्यम्) स्वीकार योग्य [सुख] [मनुष्य को] (एति) पहुंचाती है ॥ २१ ॥

भावार्थ—संसार के बीच पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की ईश्वरता में स्थिर चित्त होकर ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

२१—(अष्ट) महत्तत्त्वाहंकारपञ्चभूतमनोभिः संबद्धानि (जाता) उत्पन्नानि (भूता) भूतानि । जीवाः (प्रथमजा) प्रथमात् कारणाज्जातानि (ऋतस्य) सत्यनियमस्य (अष्ट) दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च सह स्थिताः (इन्द्र) हे जीव (ऋत्विजः) अ० ६ । २ । १ । ये ऋतौ ऋतौ यजन्ति ददति ते (दैव्याः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (अष्टयोनिः) अष्ट+यु मिश्रणामिश्रणयोः—नि । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयेऽष्टावङ्गानि—योग दर्शने २ । २६ । एतैः सह संयुक्ता (अष्टपुत्रा) अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता । इति ऐश्वर्याणि पुत्रसदृशानि यस्याः सा (अष्टमीम्) अशू व्याप्तौ—क । अष्टं व्याप्तं जगत् माति, मा—क । व्याप्तस्य जगतः परिमात्रीम् (रात्रिम्) अ० १ । १६ । १ । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तं चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः—निरु० २ । १८ । विश्रामदात्रीं मुक्तिम् (अभि) अभीत्य (हव्यम्) हु आदाने—यत् । ग्राह्यं सुखम् (एति) अन्तर्गतो णिच् । आययति । गमयति ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा । समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम् । श्रेयः । मन्यमाना । इदम् । आ । अगमम् । युष्माकम् । सख्ये । अहम् । अस्मि । शेवा ॥ समान-जन्मा । क्रतुः । अस्ति । वः । शिवः । सः । वः । सर्वाः । सम् । चरति । प्र-जानन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) आनन्द (मन्यमाना) मनाती हुई (अहम्) मैं [विराट्] (इदम्) इस [चराचर जगत्] में (आ अगमम्) आयी हूं, और (युष्माकम्) तुम्हारी (सख्ये) मित्रता में (शेवा) सुख देने वाली (अस्मि) हूं । (समानजन्मा) [कर्म फल के साथ] एक जन्मवाला (वः क्रतुः) तुम्हारा बोध (शिवः) मङ्गलकारी (अस्ति) है, (सः) वह [बोध] (वः) तुम्हारी (सर्वाः) सब [आशायें] (प्रजानन्) समझता हुआ (संचरति) संचार करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्यों के कल्याण के लिये ईश्वर शक्ति प्रकट होकर उन्हें संचित कर्म अनुसार बुद्धि देकर आगे के लिये पुरुषार्थ का उपदेश देती है ॥२२

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्याइनोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥

२२—(इत्थम्) एवम् (श्रेयः) प्रशस्य—ईयसुन् । कल्याणम् (मन्यमाना) जानन्ती (इदम्) चराचरं जगत् (आ अगमम्) आगतवती (युष्माकम्) (सख्ये) मित्रभावे (अहम्) विराट् (अस्मि) (शेवा) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । शीङ् शयने—वन् । शेव इति सुखनाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः शिवमित्यप्यस्य भवति—निरु० १० । १७ । सुखदा (समानजन्मा) एकोत्पत्तियुक्तः कर्मफलैः सह (क्रतुः) प्रज्ञा—निघ० ३ । ९ (अस्ति) (वः) युष्माकम् (शिवः) शङ्करः (सः) क्रतुः (वः) युष्माकम् (सर्वाः) अखिला आशा दीर्घाकाङ्क्षाः (संचरति) (प्रजानन्) प्रबोधन् ॥

अष्ट । इन्द्रस्य । षट् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्तऽधा ॥ अपः । मनुष्यान् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अनु । सेचिरे ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) नियमवान् (इन्द्रस्य) जीव की (अष्ट) आठ [चार दिशा और चार विदिशायें], (षट्) छह [वसन्त, घाम, वर्षा, शरद्, शीत और शिशिर ऋतुयें–अ० ६। ५५। २], और (ऋषीणाम्) इन्द्रियों के (सप्त) सात [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि–अ० ४। ११। ६] (सप्तधा) [उनकी शक्तियों सहित] सात प्रकार से [हितकारक हैं]। (अपः) कर्म और (ओषधीः) ओषधियों [अन्न आदि वस्तुओं] ने (तान्) उन [विद्वान्] (मनुष्यान्) मनुष्यों को (उ) ही (पञ्च अनु) [पृथिवी आदि] पांच भूतों के पीछे पीछे (सेचिरे) सींचा है ॥ २३ ॥

भावार्थ—नियमवान् पुरुष, सब स्थानों और सब कालों में सब इन्द्रिय और सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर पूर्वजों के समान, उन्नति करता है। २३

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना । अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथमम् । दुहाना ॥ अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुःऽधा । देवान् । मनुष्यान् । असुरान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

२३—(अष्ट) पूर्वादिदिशा विदिशाश्च (इन्द्रस्य) जीवस्य (षट्) अ० ६। ५५। २। वसन्ताद्यृतवः (यमस्य) यमो यच्छतीति सतः—निरु० १०। १६। नियमवतः (ऋषीणाम्) अ० ४। १६। ६। त्वक्चक्षुरादीनाम् (सप्त) षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२। ३७। (सप्तधा) सप्तप्रकारेण स्वशक्तिभिः सह (अपः) कर्म—निघ० २। १। (मनुष्यान्) (ओषधीः) अन्नादिपदार्थाः (तान्) (उ) एव (पञ्च) पृथिव्यादिभूतानि (अनु) अनुसृत्य (सेचिरे) षच समवाये सेके च। सिक्तवन्तः। वर्द्धितवन्तः॥

भाषार्थ—(प्रथमम्) पहिले से (दुहाना) पूर्ति करती हुई, (केवली) अकेली (गृष्टिः) ग्रहण योग्य [विराट्] ने (हि) ही (इन्द्राय) जीव के लिये (वशम्) प्रभुता और (पीयूषम्) अमृत [अन्न, दुग्ध आदि (दुदुहे) पूर्ण कर दिया है (अथ) तब उस [विराट्] ने (चतुर्धा) चार प्रकार से [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष द्वारा] (चतुरः) चारो (देवान्) विजय चाहने वालों, (मनुष्यान्) मननशीलों, (असुरान्) बुद्धिमानों (उत) और (ऋषीन्) ऋषियों [धर्म के साक्षात् करने वालों] को (अतर्पयत) तृप्त किया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी शक्ति से प्राणियों के पालन के लिये उन के कर्म अनुसार सब सामग्री उपस्थित करके उनके पुरुषार्थ द्वारा उन्हें धर्म अर्थ, काम और मोक्ष का भागी बनाया है ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एक-ऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम । काः । आ-शिषः ॥ यक्षम् । पृथिव्याम् । एक-वृत् । एक-ऋतुः । कतमः । नु । सः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(कः नु) कौन सा (गौः) [लोगों का] चलाने वाला, (कः) कौन (एकऋषिः) अकेला ऋषि [सन्मानदर्शक], (उ) और (किम्) कौन

२४—(केवली) एकैव (इन्द्राय) जीवहिताय (दुदुहे) पूरितवती (हि) एव (गृष्टिः) अ० २ । १३ । ३ । ग्रह-क्तिच्, पृषोदरादिरूपम् । ग्राह्या विराट् (वशम्) प्रभुत्वम् (पीयूषम्) अ० ८ । ३ । १७ । अमृतम् । अन्नदुग्धादिकम् (प्रथमम्) अग्रे (दुहाना) प्रपूरयन्ती (अथ) अनन्तरम् (अतर्पयत्) तर्पितवती (चतुरः) (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण धर्मार्थकाममोक्षद्वारा (देवान्) विजिगीषून् (मनुष्यान्) मननशीलान् (असुरान्) अ० १ । १० । १ । प्रज्ञावतः-निरु० १० । ३४ । (उत) अपि (ऋषीन्) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः पुरुषान् ॥

२५—(कः) (नु) प्रश्ने (गौः) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गिजन्तर्थाद् गमेर्डो । गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे-निरु० २ । १४ ।

(धाम) ज्योतिः स्वरूप है, और (काः) कौनसी (आशिषः) हित प्रार्थनायें हैं। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर [जो] (एकवृत्) अकेला वर्तमान (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म] है, (सः) वह (एकर्तुः) एक ऋतु वाला [एकरस वर्तमान] (कतमः नु) कौन सा [पुरुष है] ॥ २५ ॥

भावार्थ—इन प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ २५ ॥

एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

एकः। गौः। एकः। एक-ऋषिः। एकम्। धाम। एक-धा। आ-शिषः ॥ यक्षम्। पृथिव्याम्। एक-वृत्। एक-ऋतुः। न। अति। रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

भाषार्थ—(एकः) एक [सर्वव्यापक परमेश्वर] (गौः) [लोकों का] चलाने वाला, (एकः) एक (एकऋषिः) अकेला ऋषि [सन्मार्गदर्शक], (एकम्) एक [ब्रह्म] (धाम) ज्योतिः स्वरूप है, (एकधा) एक प्रकार से (आशिषः) हित प्रार्थनायें हैं। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) अकेला वर्तमान (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म], (एकर्तुः) एक ऋतु वाला [एकरस वर्तमान परमात्मा] [किसी से] (न अति रिच्यते) नहीं जीता जाता है ॥२६॥

भावार्थ—एक, अद्वितीय, परमेश्वर अपनी अनुपम शक्ति से सर्वशासक है, उसी की आज्ञा पालन सब प्राणियों के लिये हितकारक है ॥ २६ ॥

लोकानां गमयिता (कः) (एकऋषिः) अ० २। ६। १। ऋषिदर्शनात्-निरु० २। ११। अद्वितीयसन्मार्गदर्शकः (किम् (उ) (धाम) ज्योतिःस्वरूपम् (काः) (आशिषः) अ० २। २५। ७। हितप्रार्थनाः (यक्षम्) म० ८। यज पूजायाम्-स। पूजनीयं ब्रह्म (पृथिव्याम्) भूमौ (एकवृत्) अद्वितीयवर्तमानम् (एकर्तुः) एकस्मिन् ऋतौ सदा वर्तमानः कालेनानवच्छेदात् (कतमः) सर्वेषां कः (नु) (सः) ॥

२६—(एकः) इण्भीकापा०। उ० ३। ४३। इण् गतौ-कन्। एति प्राप्नोतीत्येकः। सर्वव्यापकः केवलः परमेश्वरः (न) निषेधे (अति रिच्यते) पराभूयते केनापि। अन्यत् पूर्ववत् म० २५ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः १)

[यह छह पर्याय वाला सूक्त तीसरा ब्रह्मोद्य सूक्त है, देखो-अ० ५।१;८।९॥]

१-१३ ॥ विराड् देवता ॥ १ आर्ची पङ्क्तिः; २, ४, ६, ८, १०, १२, याजुषी जगती; ३, ९ साम्न्यनुष्टुप्; ५ साम्नी त्रिष्टुप्; ७, १३ साम्नी पङ्क्तिः; ११ साम्नी बृहती छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

वि-राट् । वै । इदम् । अग्रे । आसीत् । तस्याः । जातयाः । सर्वम् । अबिभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति ॥१॥

भाषार्थ—(विराट्) विराट् [विविध ईश्वरी, ईश्वरशक्ति] (वै) ही (अग्रे) पहिले ही पहिले (इदम्) यह [जगत्] (आसीत्) थी, (तस्याः जातायाः) उस प्रकट हुई से (सर्वम्) सब का सब (अबिभेत्) डरने लगा, " (इति) बस, (इयम् एव) यही (इदम्) यह [जगत्] (भविष्यति) हो जायगी " ॥१॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले एक ईश्वर शक्ति थी, जिससे ही होनहार सृष्टि उत्पन्न होने के लिये अनुभव होती थी, उसी का वर्णन अगले मन्त्रों में है ॥१॥

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । गार्ह-पत्ये । नि । अक्रामत् ॥२॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा)

१—(विराट्) अ० ८।९।१। विविधेश्वरी। विविधप्रकाशमाना। ईश्वरशक्तिः (वै) एव (इदम्) जगत् (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (तस्याः) विराजः सकाशात् (जातायाः) प्रादुर्भूतायाः (सर्वम्) सकलं जगत् (अबिभेत्) भयमगच्छत् (इयम्) विराट् (एव) (इदम्) (भविष्यति) प्राकट्यं प्राप्स्यति (इति) समाप्तौ। पर्य्याप्ते। परामर्शे ॥

२—(सा) विराट् (उत्) उपरि (अक्रामत्) पादं स्थापितवती

वह (गार्हपत्ये) गृहपतियों से संयुक्त कर्म में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥२॥

भावार्थ—उस विराट् ने प्रकट होकर जीव सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार में प्रवेश किया है ॥ २ ॥

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

गृह-मेधी । गृह-पतिः । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (गृहमेधी) घर के काम समझने वाला (गृह-पतिः) गृहपति (भवति) होता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ में वर्णित विराट् की महिमा जान कर मनुष्य संसार के कामों में चतुर होता है ॥ ३ ॥

सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आ-हवनीये । नि । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) (आहवनीये) यज्ञ योग्य व्यवहार में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस विराट् की महिमा प्रत्येक उत्तम कर्ममें प्रकट होती है।४

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

यन्ति । अस्य । देवाः । देव-हूतिम् । प्रियः । देवानाम् । भवति । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [पुरुष] के (देवहूतिम्) विद्वानों के लिये

(सा) (गार्हपत्ये) अ० ५ । ३१ । ५ । गृहपतिभिः संयुक्ते कर्मणि (नि) नीचैः ॥

३—(गृहमेधी) सुप्यजातौ० । पा० ३ । २ । ७८ । गृह + मेधृ वधमेधासंगमेषु—णिनि । गृहं गृहकार्यं मेधति जानाति यः सः (गृहपतिः) गृहस्वामी ॥

४—(आहवनीये) आङ् + हु दानादानादनेषु—अनीयर्, यद्वा आहवन—छ प्रत्ययः । यजनीये व्यवहारे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(यन्ति) गच्छन्ति (अस्य) तस्य (देवाः) विद्वांसः (देवहूतिम्)

बुलावे में (देवाः) विद्वान् लोग (यन्ति) जाते हैं, वह (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ।५।

भावार्थ—ईश्वर महिमा को जानने वाला पुरुष विद्वानों का प्रिय होताहै।५

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । दक्षिण-अग्नौ । नि । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) वह [सूर्य वा यज्ञ की] (दक्षिणाग्नौ) बढ़ी हुयी अग्नि में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा सूर्यादि तेजों और शिल्प आदि व्यवहारों में प्रकट है ॥ ६ ॥

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

यज्ञ-ऋतः । दक्षिणीयः । वासतेयः । भवति । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (यज्ञर्तः) यज्ञ में पूजा गया, (दक्षिणीयः) दक्षिणा योग्य और (वासतेयः) वसती योग्य (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर महिमा ही जानकर पुरुष सब प्रकार उन्नति करता है ७

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । सभायाम् । नि । ० ॥ ८ ॥

विद्वद्भ्य आह्वानम् (प्रियः) हितः (देवानाम्) विदुषाम् । अन्यत् सुगमम् ॥

६—(दक्षिणाग्नौ) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । दक्ष वृद्धौ—इनन् । प्रवृद्धे पावके सूर्यस्य यज्ञस्य वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यज्ञर्तः) यज्ञ ऋ गतौ—क्त । यज्ञे पूजितः (दक्षिणीयः) कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च । पा० ५ । १ । ६९ । दक्षिणा—छ । प्रतिष्ठार्हः (वासतेयः) पथ्यतिथि-वसतिस्वपतेर्ढञ् । पा० ४ । ४ । १०४ । वसति—ढञ् । निवासयोग्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) वह (सभायाम्) सभा [विद्वानों के समाज] में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥८॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ही ईश्वर महिमा का विचार करते हैं ॥ ८ ॥

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

यन्ति । अस्य । सभाम् । सभ्यः । भवति । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उसकी (सभाम्) सभा में (यन्ति) जाते हैं, वह (सभ्यः) सभ्य [सभा में] चतुर (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, ईश्वर महिमा जानने वाला मनुष्य सभा में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ९ ॥

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥

०सा । सम्-इतौ । नि । ० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (समितौ) संग्राम में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ १० ॥

भावार्थ—संग्राम में ईश्वर शक्ति का प्रादुर्भाव होता है ॥ १० ॥

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

०अस्य । सम्-इतिम् । साम्-इत्यः । भवति । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[लोग] (अस्य) उस के (समितिम्) संग्राम में (यन्ति) जाते हैं, वह (सामित्यः) संग्राम योग्य [शूर] (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का विश्वासी पुरुष संग्राम में विजय पाता है ।११।

८—(सभायाम्) विदुषां समाजे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(सभ्यः) सभाया यः । पा० ४ । ४ । १०५ । सभा—यप्रत्ययः । सभायां साधुः । सभासद् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१०—(समितौ) संग्रामे—निघ० २ । १७ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(सामित्यः) परिषदो ण्यः । पा० ४ । ४ । १०१ । समिति—ण्य, बाहुलकात् । संग्रामे साधुः । शूरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोद॑क्रामत् सामन्त्र॑णे॒ न्य॑क्रामत् ॥ १२ ॥

०सा । आ॒-म॒न्त्र॑णे । नि । अ॒क्रा॒म॒त् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (आमन्त्रणे) अभिनन्दन स्थान में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ १२ ॥

भावार्थ—बड़े लोगों की प्रशंसा में ईश्वर शक्ति दिखाई देती है ॥ १२ ॥

यन्त्य॑स्यामन्त्र॑णमामन्त्रणी॒यो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ १३(२५)

यन्ति। अ॒स्य॒ । आ॒-म॒न्त्र॑णम् । आ॒-म॒न्त्र॒णीय॑ः। भ॒व॒ति॒। यः०।१३(२५)

भाषार्थ—[लोग] (अस्य) उसके (आमन्त्रणम्) अभिनन्दन में (यन्ति) जाते हैं, वह (आमन्त्रणीयः) अभिनन्दन योग्य (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञानी पुरुष उच्च पद पाकर संसार में अभिनन्दन योग्य होते हैं ॥ १३ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः २)

१—१० ॥ विराड् देवता ॥ १, ८, ९, साम्न्यनुष्टुप्; २ आर्षी बृहती; ३ याजुषी गायत्री; ४, ५, १० साम्नी बृहती; ६ आर्ची बृहती; ७ साम्नी पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोद॑क्रामत् सान्तरि॑क्षे चतु॒र्धा विक्रा॑न्तातिष्ठत् ॥१॥

०सा । अ॒न्तरि॑क्षे । च॒तुः-धा । वि-क्रा॑न्ता । अ॒ति॒ष्ठ॒त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) वह (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के बीच (चतुर्धा) चार प्रकार [चारों दिशाओं में] (विक्रान्ता) विक्रम [पराक्रम] करती हुई (अतिष्ठित्) ठहरी ॥ १ ॥

१२—(आमन्त्रणे) आङ्+मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे—ल्युट् । सम्बोधने । अभिनन्दने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(आमन्त्रणीयः) आमन्त्रण—छ । अभिनन्दनीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(सा) विराट् (अन्तरिक्षे) आकाशे (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण । चतसृषु दिक्षु (विक्रान्ता) विक्रमयुक्ता, पराक्रमिणी (अतिष्ठत्) स्थितवती ॥

भावार्थ—उस ईश्वर शक्ति के पुरुषार्थ से आकाश में लोक लोकान्तर उत्पन्न हुये हैं ॥ १ ॥

तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभयं उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

ताम् । देव-मनुष्याः । अब्रुवन् । इयम् । एव । तत् । वेद । यत् । उभये । उप-जीवेम । इमाम् । उप । ह्वयामहै । इति ।२।

भाषार्थ—(ताम्) उस से (देवमनुष्याः) सब दिव्य लोक और मनुष्य (अब्रुवन्) बोले, "(इयम्) यह [विराट्] (एव) ही (तत्) वह [कर्म] (वेद) जानती है, (उभये) हम दोनों दल (यत् उपजीवेम) जिसके सहारे जीवें, (इति) बस (इमाम्) इसे (उपह्वयामहै) हम पास से पुकारें" ॥२॥

भावार्थ—सब सूर्य चन्द्र आदि लोक और मनुष्य आदि जीव ईश्वर शक्ति का व्याख्यान करते हैं ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥ ताम् । उप । अह्वयन्त ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उसे (उप) पास से (अह्वयन्त) उन्हों ने बुलाया ॥३॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति का खोज करते हैं ॥ ३ ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥

ऊर्जे । आ । इहि । स्वधे । आ । इहि । सूनृते । आ । इहि । इरावति । आ । इहि । इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—"(ऊर्जे) हे बलवती ! (आ इहि) तू आ, (स्वधे) हे धन

२—(ताम्) विराजम् (देवमनुष्याः) सूर्यचन्द्रादिदिव्यलोका मनुष्यादिप्राणिनश्च (अब्रुवन्) अकथयन् (इयम्) विराट् (एव) (तत्) कर्म (वेद) जानाति (यत्) कर्म (उभये) उभादुदात्तो नित्यम् । पा० । २ । ५ । ४४ । उभ—तयप्स्थाने अयच् । द्विसमुदायिनो वयम् (उपजीवेम) आश्रित्य प्राणान् धारयेम (इमाम्) (उप) उपेत्य (ह्वयामहै) आह्वयाम (इति) ॥

३—(ताम्) (उप) उपेत्य (अह्वयन्त) आहूतवन्तः ॥

४—(ऊर्जे) ऊर्ज्—अर्श आद्यच्, टाप् । हे बलवति (एहि) आगच्छ

रखने वाली ! (आ इहि) तू आ, (सूनृते) हे प्रिय सत्य वाणी वाली ! (आ इहि) तू आ, (इरावति) हे अन्नवाली ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥४॥

भावार्थ—सब लोक लोकान्तर और प्राणी विराट् नाम ईश्वर शक्ति का आश्रय लेकर जीवन करते हैं ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो वृत्स आसीद् गायत्र्य॑भिधान्य॒भ्रमूधः ॥५॥

तस्याः । इन्द्रः । वृत्सः । आसीत् । गायत्री । अभि-धानी । अभ्रम् । ऊधः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्याः) उस [विराट्] का (इन्द्रः) जीव (वत्सः) उपदेष्टा, (गायत्री) गान योग्य वेद विद्या (अभिधानी) कथन शक्ति (अभ्रम्) मेघ (ऊधः) सेचन सामर्थ्य (आसीत्) हुआ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर शक्ति विराट् के आश्रय सब प्राणी हैं ॥ ५ ॥

बृहच्च॑ रथंतरं च॒ द्वौ स्तना॑वास्तां यज्ञायज्ञियं॑ च वा-मदेव्यं च॒ द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । द्वौ । स्तनौ । आस्ताम् । यज्ञा-यज्ञियम् । च । वाम-देव्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(बृहत्) बृहत् बड़ा [आकाश] (च च) और (रथन्तरम्)

(स्वधे) स्वं धनं दधातीति स्वधा, हे धनधारिके (सूनृते) अ० ३ । १२ । २ । सूनृत-अच् । सत्यप्रियवाग्युक्ते (इरावति) इरा, अन्नम्—निघ० २ । ७ । हे अन्नवति (इति) समाप्तौ ॥

५—(तस्याः) विराजः (इन्द्रः) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५ । २ । ९३ । जीवः (वत्सः) वद कथने-स । उपदेष्टा (आसीत्) (गायत्री) अ० ८ । ९ । १४ । गानयोग्या वेदवाणी (अभिधानी) कथनशक्तिः (अभ्रम्) मेघः (ऊधः) श्वेः संप्रसारणं च । उ० ४ । १९३ । वह प्रापणे—असुन्, यद्वा उन्दी क्लेदने-असुन्, ऊधादेशः । सेचनसामर्थ्यम् ॥

६—(बृहत्) प्रवृद्धमाकाशम् (च च) समुच्चये (रथन्तरम्) हनिकुषि-नीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । रमु क्रीडायाम्-क्थन् + संज्ञायां भृतॄवृजि० ।

रथन्तर [रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाला, जगत्] (द्वौ) दो, (च) और (यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों का हितकारी [वेदज्ञान] (च) और (वामदेव्यम्) वामदेव [मनोहर परमात्मा] से जताया गया [भूतपञ्चक] (द्वौ) दो (स्तनौ) स्तन [थन समान] (आस्ताम्) हुये ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे गौ के चार थन होते हैं, वैसेही ईश्वर शक्तिसे आकाश, जगत्, वेद, और पञ्चभूत प्रकट हुये हैं ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अदुहून् व्यचो बृहता ॥७॥

ओषधीः । एव । रथम्-तरेण । देवाः । अदुहन् । व्यचः । बृहता ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अपः । वाम-देव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) गतिमान् लोकों ने (एव) अवश्य (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (रथन्तरेण) रथन्तर [रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाले जगत्] द्वारा, (व्यचः) विस्तार को (बृहता) बृहत् [बड़े आकाश] द्वारा, (अपः) प्रजाओं को (वामदेव्येन) वामदेव [मनोहर परमात्मा] से जताये गये [भूतपञ्चक] द्वारा और (यज्ञम्) यज्ञ [संयोग वियोग आदि]

पा० ३ । २ । ४६ । तॄ प्लवनतरणयोः-खच्, मुम् च । रथै रमणीयपदार्थैस्तरति येन तद् जगत् (द्वौ) (स्तनौ) स्तन शब्दे-अच् । कुचरूपौ (आस्ताम्) (यज्ञायज्ञियम्) वीप्सायां द्वित्वम् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ३ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । यज्ञायज्ञ-घप्रत्यः । सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो हितं वेदज्ञानम् (वामदेव्यम्) अ० ४ । ३४ । १ । वामदेवेन प्रशस्यपरमात्मना विज्ञापितं भूतपञ्चकम् (च) (द्वौ) ॥

७, ८—(ओषधीः) अन्नादिपदार्थान् (एव) अवश्यम् (रथन्तरेण) म० ६ । जगद्द्वारा (देवाः) गतिशीला लोकाः (अदुहन्) अदुहन् । प्रपूरितवन्तः (व्यचः) निरु० ८ । १० । विस्तारम् (बृहता) म० ६ । प्रवृद्धेनाकाशेन (अपः) प्रजाः-दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । उत्पन्नान् पदार्थान् (वामदेव्येन) म० ६ । मनोहरेण परमात्मना विज्ञापितेन भूतपञ्चकेन (यज्ञम्) संयोगवियोग-

की (यज्ञायज्ञियेन) सब यज्ञों के हितकारी [वेदज्ञान] द्वारा (अदुहन्) दुहा है ॥ ७, ८ ॥

भावार्थ—उसी विराट् ईश्वर शक्ति से सब लोक लोकान्तरों का जीवन और स्थिति है ॥ ७, ८ ॥

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचौ बृहत् ॥ ९ ॥

ओषधीः । एव । अस्मै । रथम्-तरम् । दुहे । व्यचः । बृहत् ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥ २६

अपः । वाम-देव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः।०॥ १० ॥ (२६)

भाषार्थ—(रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाला, जगत्] (एव) ही (व्यचः) विस्तृत (बृहत्) बृहत् [बड़े आकाश] से (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को, और (अपः) सब प्रजाओं और (वामदेव्यम्) वामदेव [मनोहर परमात्मा] से जताये गये [पंचभूत] से (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार और (यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों के हितकारी [वेदज्ञान] को (अस्मै) उस [पुरुष] के लिये (दुहे) दोहता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ९,१० ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष को संसार के सब पदार्थ सुखदायक होते हैं ॥ ९, १० ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ३) ॥

१-८ ॥ विराड् देवता ॥ १ आर्ची पङ्क्तिः; २ आर्च्यनुष्टुप्, ३, ५, ७ प्राजापत्या पङ्क्तिः; ४, ६, ८ प्राजापत्या त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

व्यवहारम् (यज्ञायज्ञियेन) म० ६ । सर्वयज्ञेभ्यो हितेन वेदज्ञानेन ॥

९,१०—(अस्मै) ब्रह्मज्ञानिने (दुहे) द्विकर्मकः। दुग्धे । प्रपूरयति (व्यचः) विस्तृतम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोद॑क्रामत् सा वन॒स्पतीं॒नाग॑च्छत् तां वन॒स्पत॑योऽघ्नत सा सं॑वत्स॒रे सम॑भवत् ॥ १ ॥

०सा । वन॒स्पतीन् । आ । अ॒गच्छ॒त् । ताम् । वन॒स्पत॑यः । अ॒घ्न॒त । सा । स॒म्-व॒त्स॒रे । सम् । अ॒भव॒त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि पदार्थों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (वनस्पतयः) वनस्पतियां (अघ्नत) प्राप्त हुईं, (सा) वह (संवत्सरे) संवत्सर [वर्ष काल] में (सम् अभवत्) संयुक्त हुई ॥ १ ॥

भावार्थ—विराट्, ईश्वर शक्ति का प्रादुर्भाव वृक्ष आदि पदार्थों में है ॥१

तस्मा॑द् वन॒स्पती॑नां संवत्स॒रे वृ॒क्णमपि॑ रोहति वृश्च॒तेऽस्याप्रि॑यो भ्रातृ॑व्यो य ए॒वं वेद॑ ॥ २ ॥

तस्मा॑त् । वन॒स्पती॑नाम् । स॒म्-व॒त्स॒रे । वृ॒क्णम् । अपि॑ । रो॒ह॒ति॒ । वृ॒श्च॒ते॒ । अ॒स्य॒ । अप्रि॑यः । भ्रातृ॑व्यः । यः । ० ॥२॥

भाषार्थ—(तस्मात्) इसी लिये (संवत्सरे) वर्ष भर में (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (वृक्णम्) खण्डित अंश (अपि रोहति) भर जाता है, (अस्य) उसका (अप्रियः) अप्रिय (भ्रातृव्यः) भ्रातृ भाव से रहित [शत्रु, मनोदोष] (वृश्चते) कट जाता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥२॥

भावार्थ—ब्रह्म ज्ञानी पुरुष अन्न आदि पदार्थों की न्यूनता की पूर्णता वर्ष भर में वृष्टि द्वारा देखकर आत्मिक दोषों के त्याग से ज्ञान की पूर्त्ति द्वारा ईश्वर शक्ति का अनुभव करते हैं ॥ २ ॥

१—(वनस्पतीन्) वृक्षादिपदार्थान् (आ अगच्छत्) आगतवती (ताम्) विराजम् (वनस्पतयः) (अघ्नत) हन हिंसागत्योः । अघ्नन् । अगच्छन् (सा) (संवत्सरे) संवसन्ति ऋतवोऽत्र, सम्+वस-सरन् । द्वादशमासात्मके काले (सम् अभवत्) समगच्छत् । अन्यद् गतम् ॥

२—(तस्मात्) कारणात् (वृक्णम्) ओ व्रश्चू छेदने-क्त । खण्डित-भागः (अपि रोहति) प्रपूर्य्यते (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते (अस्य) ब्रह्मवादिनः । (अप्रियः) अहितः (भ्रातृव्यः) व्यन्सपत्ने पा० ४ । १ । १४५ भ्रातृ-व्यन् । भ्रातृभावरहितः । शत्रुः । मनोदोषः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत सामासि समभवत् ॥ ३ ॥

०सा। पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम्। पितरः। अघ्नत । सा। मासि । सम् । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (पितॄन्) ऋतुओं में (आ अगच्छत्) आई, (ताम्) उसको (पितरः) ऋतुयें (अघ्नत) प्राप्त हुये, (सा) वह (मासि) महीने में [वा चन्द्रमा में] (सम् अभवत्) संयुक्त हुई ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति की महिमा ऋतु आदि कालों में प्रकट है ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृ-भ्यः । मासि । उप-मास्यम् । ददति । प्र । पितृ-यानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) इसी कारण (पितृभ्यः) ऋतुओं को [वा ऋतुओं से] (मासि) महीने महीने (उपमास्यम्) चन्द्रमा में रहने वाले अमृत को वे [ईश्वर नियम] (ददति) देते हैं, वह (पितृयाणम्) ऋतुओं के चलने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्र जानाति) जान लेता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ऋतुओं के गुणों को जानकर मनुष्य ऋतुओं की सूक्ष्म अवस्था जान लेता है ॥ ४ ॥

३—(पितॄन्) ऋतून्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ८। ६०। (पितरः) ऋतवः (मासि) मासे मासे। चन्द्रमसि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(पितृभ्यः) ऋतूनामर्थम्। ऋतूनां सकाशात् (मासि) मासे (उपमास्यम्) मासि चन्द्रमसि प्रभवममृतम् (ददति) प्रयच्छन्ति, ईश्वरनियमा इति शेषः (प्र) प्रकर्षेण (पितृयाणम्) ऋतुभिर्गमनीयम् (पन्थाम्) मार्गम्। अन्यत् सुगमम् ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत् सार्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । अघ्नत । सा । अर्ध-मासे । सम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (देवान्) सूर्य की किरणों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (देवाः) किरणें (अघ्नत) प्राप्त हुये, (सा) वह (अर्धमासे) आधे महीने [पखवाड़े] में (सम् अभवत्) संयुक्त हुयी ॥ ५ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति किरणों द्वारा अर्ध मास आदि समय उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्ध-मासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । देव-यानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) इस लिये (देवेभ्यः) किरणों को [वा किरणों से] (अर्धमासे) आधे महीने में (वषट्) रस पहुंचाना वे [ईश्वर नियम] (कुर्वन्ति) करते हैं, वह (देवयानम्) किरणों के जाने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्र जानाति) जान लेता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष किरणों और अर्धमास आदि के सम्बन्ध को यथावत् जान लेता है ॥ ४ ॥

५—(देवान्) देवो दानाद्वा दीपनाद् वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा–निरु० ७ । १५ । देवाः रश्मयः, इति दुर्गाचार्यनिरुक्तटीकायाम्–१२ । ३६ । आदित्यरश्मीन् (अर्धमासे) मासपक्षकाले । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(देवेभ्यः) किरणानामर्थं किरणानां सकाशाद्वा (वषट्) अ० १ । ११ । १ । वह प्रापणे–डषटि । रसप्रापणम् (कुर्वन्ति) निष्पादयन्ति (देवयानम्) किरणैर्गन्तव्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३ँ नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । अघ्नत । सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (मनुष्यान्) मननशील मनुष्यों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (मनुष्याः) मनुष्य (अघ्नत) प्राप्त हुये, (सा) वह (सद्यः) तुरन्त ही (सम् अभवत्) [उनमें] संयुक्त हुयी ॥ ७ ॥

भावार्थ—मननशील पुरुष ईश्वर शक्ति का अनुभव तुरन्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (२७)

तस्मात् । मनुष्ये-भ्यः । उभय-द्युः । उप । हरन्ति । उप । अस्य । गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥ (२७)

भाषार्थ—(तस्मात्) इसी लिये (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों को (उभयद्युः) दोनों दिन [प्रति दिन] वे [ईश्वर नियम] (उप हरन्ति) उपहार देते हैं, (अस्य) उसके (गृहे) घर में वे [ईश्वर नियम] (उप हरन्ति) उपहार देते हैं, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ईश्वर का विचार करने वाले पुरुष सब कुटुम्बियों सहित उत्तम पदार्थों से आनन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

७—(मनुष्यान्) मननशीलान् मनुष्यान् (सद्यः) अ० २ । १ । ४ । तत्क्षणम् । अन्यत् सुगमम् ॥

८—(उभयद्युः) अ० ७ । ११६ । २ । उभयदिनयोः । प्रतिदिनमित्यर्थः । (उप हरन्ति) उपहारेण ददति श्रेष्ठपदार्थान् (गृहे) गेहे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ४) ॥

१—१६ ॥ विराड् देवता ॥ १, ४, ५, ८, ९ साम्नी जगती; २, ६, १०, १५ साम्नी बृहती; ३ याजुषी जगती; ७, ११, १४ साम्न्युष्णिक्; १२ आर्ची त्रिष्टुप्; १३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; १६ आर्षी जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदंक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥

उत्। आ । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्वयन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (असुरान्) असुरों [बुद्धिमानों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (असुराः) असुरों [बुद्धिमानों] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(माये) हे बुद्धि ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥

भावार्थ—सब बुद्धिमान् लोग विराट्, ईश्वरशक्ति का विचार करते रहते हैं ॥ १ ॥

माया=प्रज्ञा निघ० ३ । ९ । असुर=प्रज्ञावान् वा प्राणवान्—निरु० १० । ३४ ॥

तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥२॥

तस्याः । वि-रोचनः । प्राह्रादिः । वत्सः । आसीत् । अयः-पात्रम् । पात्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राह्रादिः) प्रह्लाद [बड़े आनन्द वाले परमेश्वर] करके बनाया गया (विरोचनः) विरोचन [विविध चमकने वाला संसार] (तस्याः)

१—(सा) पूर्वोक्ता विराट् (असुरान्) असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा-निरु० १० । ३४ । प्रज्ञावतः पुरुषान् (असुराः) प्रज्ञावन्तः (उप) समीपे (अह्वयन्त) आहूतवन्तः (माये) प्रज्ञे-निघ० ३ । ९ । (आ इहि) आगच्छ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२—(तस्याः) विराजः (विरोचनः) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ७८ । चिर् दीप्तौ प्रीतौ च-युच् । विविधं दीप्यमानः । सूर्यः । अग्निः । चन्द्रः । संसारः

उस [विराट्] का (वत्सः) निवास और (अयस्पात्रम्) सुवर्ण का पात्र [तेजवाले लोकों का आधार हिरण्यगर्भ, परब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ २ ॥

भावार्थ–विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की शक्ति को विविध प्रकार संसार में देखते हैं ॥ २ ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्यः᳘ऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । द्वि-मूर्धा । अर्त्व्यः । अधोक् । ताम् । मायाम् । एव । अधोक् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (अर्त्व्यः) गति में चतुर (द्विमूर्धा) दो बन्धन वाले [संचित और क्रियमाण कर्म वाले जीव] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उस (मायाम्) माया [बुद्धि] को (एव) ही (अधोक्) दुहा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संचित अर्थात् पूर्वजन्म के फल और आचार्य आदि से संगृहीत शिक्षारूप फल और दूसरे क्रियमाण कर्म जो पूर्व संस्कार के अनुसार किये जाते हैं, इन दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा मनुष्य परमेश्वर की शक्ति के अभ्यास से आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

(प्राह्लादिः) ह्लादी सुखे शब्दे च–अच् । लस्य रः । अत इञ् । पा० ४ । १ । ९५ । प्रह्लाद–इञ् । तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । प्रह्लादेन आह्लादकेन परमात्मना निर्वृत्तः साधितः (वत्सः) वस निवासे–सप्रत्ययः । निवासः (आसीत्) (अयस्पात्रम्) अयो हिरण्यम्–निघ० । १ । २ । सुवर्णपात्रम् । हिरण्यानां तेजसामाधारः । हिरण्यगर्भः । परब्रह्म (पात्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । पा रक्षणे—ष्ट्रन् । रक्षासाधनम् ॥

३—(ताम्) विराजम् (द्विमूर्धा) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्० । उ० । १ । १५९ । मुर्वी बन्धने—कनिन्, उकारस्य दीर्घः, वकारस्य धः । संचितक्रियमाणकर्मभ्यां द्विबन्धनो जीवः (अर्त्व्यः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । ऋत गतौ जुगुप्सायां कृपायां च–उप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । अर्तुयत् । ऋत्व्यवास्त्व्य० । पा । ६ । ४ । १७५ । उकारस्य यण निपानात् । गतौ साधुः (अधोक्) दुह प्रपूरणे—लङ् । दुग्धवान् (ताम्) (मायाम्) बुद्धिम् । विराजम् (एव) ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ताम् । मायाम् । असुराः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । भवति । यः ।०॥ ४ ॥

भाषार्थ—(असुराः) असुर [बुद्धिमान्] (ताम्) उस (मायाम्) माया [बुद्धि] का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं, (उपजीवनीयः) वह [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥४

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर शक्ति को साक्षात् करके अपनी और दूसरों की उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥

०सा पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । उप । अह्वयन्त । स्वधे । आ । इहि ।०॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (पितॄन्) पालन करने वाले [सूर्य आदि लोकों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (पितरः) पालने वाले [लोकों] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(स्वधे) हे आत्मधारण शक्ति! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥५॥

भावार्थ—सब सूर्य आदि लोक ईश्वर शक्ति से धारण आकर्षण द्वारा पुष्ट होकर स्थित हैं ॥ ५ ॥

तस्या यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ।६।

४—(ताम्) (मायाम्) बुद्धिम् (असुराः) म० १। बुद्धिमन्तः (उप जीवन्ति) आश्रित्य प्राणान् धारयन्ति (उपजीवनीयः) उप+जीवप्राणधारणे-अनीयर्। उपजीव्यः। आश्रयः। अन्येषां जीवनोपायः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(पितॄन्) पालकान् सूर्यादिलोकान् (पितरः) पालका लोकाः (स्वधे) अ० २। २९। ७। हे आत्मधारणशक्ते। अन्यत् पूर्ववत् ॥

तस्याः । यमः । राजा । वत्सः । आसीत् । रजत-पात्रम् । पात्रम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यमः) नियमवान् (राजा) राजा [यह प्राणी] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा, और (रजतपात्रम्) प्रीति वा ज्ञान वा पूजा का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षासाधन (आसीत्) था ॥ ६ ॥

भावार्थ—न्यायी धार्मिक पुरुष सूर्यआदि लोकों में ईश्वर शक्ति देखकर परब्रह्म में अनुराग करते हैं ॥ ६ ॥

तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्तकः । मार्त्यवः । अधोक् । ताम् । स्वधाम् । एव अधोक् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (अन्तकः) मनोहर करने वाले (मार्त्यवः) मृत्यु के स्वभाव जानने वाले [जीव] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उससे (स्वधाम्) आत्मधारण शक्ति को (एव) भी (अधोक्) दुहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मृत्यु के तत्त्ववेत्ता पुरुष ईश्वर महिमा से अमृत [पुरुषार्थ] प्राप्त करके अमर होते हैं ॥ ७ ॥

तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

६—(यमः) नियमवान् प्राणी (राजा) ऐश्वर्यवान् (वत्सः) वद व्यक्तायां वाचि-स । उपदेष्टा (रजतपात्रम्) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । रञ्ज रागे-अतच् । अथवा रजति गतिकर्मा—निघ० २ । १४, रजयति रञ्जयति अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । पूर्ववत्—अतच् । प्रीतिपात्रम् । ज्ञानाधारः । पूजाधारः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(अन्तकः) अ० ८ । १ । १ । मनोहरकरो जीवः (मार्त्यवः) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ ५९ । मृत्युस्वभाववेत्ता (ताम्) तस्याः सकाशात् इत्यर्थः (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (अधोक्) द्विकर्मकः । दुग्धवान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पितरः) पालने वाले [सूर्य आदि लोक] (ताम्) उस (स्वधाम्) आत्मधारण शक्ति [विराट्] का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं (उपजीवनीयः) वह [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष सूर्य आदि लोकों में ईश्वर शक्ति देखकर उस के आश्रित रह कर सब की उन्नति करते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामुत् सा मनुष्यां३ नागंच्छुत् तां मनुष्यां३ उपाह्वयुन्तेरावुत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगुच्छुत् । ताम् । मनुष्याः । उप अह्वयुन्त । इरा-वति । आ । इहि । ०॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (मनुष्यान्) मनुष्यों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (मनुष्याः) मनुष्यों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(इरावति) हे अन्नवती ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ ९ ॥

भावार्थ—मननशील पुरुष ईश्वर शक्ति विराट् का विचार बड़े प्रेम से करते हैं ॥ ९ ॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वुत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वुत्सः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(वैवस्वतः) मनुष्यों का [स्वभाव] जानने वाला (मनुः)

८—(स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (पितरः) पालका सूर्यादिलोकाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(मनुष्यान्) मननशीलान् (इरावति) इण् गतौ—रन् । इरा=अन्नम्—निघ० २ । ७ । हे अन्नवति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(मनुः) मनुर्मननात्—निघ० १२ । ३३ । मननशीलः पुरुषः (वैव-

मननशील मनुष्य (तस्याः) उसका (वत्सः) उपदेष्टा और (पृथिवी) विस्तार करने वाला [परमेश्वर] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥१०॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की महिमा जान कर उसका उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥११॥

ताम् । पृथी । वैन्यः । अधोक् । ताम् । कृषिम् । च । सस्यम् । च । अधोक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उसको (वैन्यः) बुद्धिमानों के पास रहने वाले (पृथी) विस्तारवान् पुरुष ने (अधोक्) दुहा है और (ताम्) उससे (कृषिम्) खेती (च च) और (सस्यम्) धान्य को (अधोक्) दुहा है ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वान् आचार्य्यों से शिक्षा पाकर परमेश्वर की शक्ति द्वारा अनेक लाभ उठाते हैं ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ते । कृषिम् । च । सस्यम् । च । मनुष्याः । उप । जीवन्ति । कृष्ट-राधिः । उपजी-वनीयः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(मनुष्याः) मनुष्य (ते) उन दोनों (कृषिम्) खेती (च

स्वतः) विवस्वन्तो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । मनुष्यस्वभाववेत्ता (वत्सः) म० ६ । उपदेष्टा (पृथिवी) अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे—षिवन्, ङीष् । सर्वजगद्विस्तारकः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(पृथी) प्रथ विस्तारे । घञर्थे कविधानं सम्प्रसारणं च । मत्वर्थे—इनि । विस्तारवान् (वैन्यः) अ० २ । १ । १ । वेनो मेधावी—निघ० २ । १५ । अदूरभवश्च । पा० ४ । २ । ७० । इति एय । मेधाविनां समीपस्थः (कृषिम्) अ० ३ । १२ । ४ । भूमिकर्षणम् (सस्यम्) अ० ७ । ११ । १ । धान्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(कृष्टराधिः) कृष विलेखने—क्त । सर्वधातुभ्य—इन् । उ० ४ । ११८ ।

च) और (सस्यम्) धान्य का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, (कृष्टराधिः) वह खेती में सिद्धि वाला (उपजीवनीयः) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी ज्ञानी पुरुष उत्तम कर्म से उत्तम फल पाकर किसानों के समान उपकारी होते हैं ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

सा । सप्त-ऋषीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । सप्त-ऋषयः । उप । अह्वयन्त । ब्रह्मण्-वति । आ । इहि । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (सप्तऋषीन्) सात ऋषियों में [व्यापन शील वा दर्शन शील अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि में—अ० ४।११।९] (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उस को (सप्तऋषयः) सात ऋषियों [त्वचा आदि] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(ब्रह्मण्वति) हे वेदवती! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों द्वारा ईश्वर शक्ति का अनुभव करके ब्रह्मविद्या प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् ॥१४॥

भाषार्थ—(राजा) राजा (सोमः) सुख उत्पन्न करने हारा [जीवा-

राध संसिद्धौ—इन् । भूमिकर्षणसाधकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(सप्तऋषीन्) अ० ४।११।९। सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२।३७। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीः (सप्तऋषयः) पूर्वोक्ताः त्वक्चक्षुरादयः (ब्रह्मण्वति) अ० ६।१०८।२। हे वेदवति। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव—निरु०

त्मा] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (छन्दः) स्वतन्त्रता [रूप ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह जीवात्मा परमेश्वर की स्वतन्त्रता में अनन्त शक्ति साक्षात् करके आनन्द पाता है ॥ १४ ॥

तां बृह॒स्पति॑राङ्गिर॒सोऽधो॒क् तां ब्रह्म॑ च॒ तप॑श्चाधोक् ॥५॥

ताम् । बृह॒स्पति॑: । आ॒ङ्गि॒र॒सः । अ॒धो॒क् । ताम् । ब्रह्म॑ । च॒ । तप॑: । च॒ । अ॒धो॒क् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) महाज्ञानी परमेश्वर के जानने वाले (बृहस्पतिः) बड़े बड़े गुणों के रक्षक पुरुष ने (ताम्) उस [विराट्] को (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उसी से (ब्रह्म) वेद (च च) और (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि व्रत वा ऐश्वर्य] को (अधोक्) दुहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष ईश्वर शक्ति से वेद और सामर्थ्य प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म॑ च॒ तप॑श्च सप्तऋ॒षय॒ उप॑ जीवन्ति ब्रह्मवर्च॒स्यु॑पजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १६ ॥ (२८)

तत् । ब्रह्म॑ । च॒ । तप॑: । च॒ । स॒प्त॒-ऋ॒षय॑: । उप॑ । जी॒व॒न्ति॒ । ब्र॒ह्म॒-व॒र्च॒सी । उ॒प॒-जी॒व॒नीय॑: । ० ॥ १६ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सप्तऋषयः) सात ऋषि [त्वचा आदि—म० ४] (तत्) उस (ब्रह्म) वेद (च च) और (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि व्रत वा

१४ । १२ । सुखोत्पादको जीवात्मा (राजा) ऐश्वर्यवान् (छन्दः) स्वातन्त्र्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहतां गुणानां रक्षकः (आङ्गिरसः) अ० ५ । १६ । २ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । अङ्गिरस्-अण् । आङ्गिरसः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य वेत्ता (ब्रह्म) वेदम् (तपः) ब्रह्मचर्यादिव्रतम् । ऐश्वर्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । पा० ५ । ४ । ७८ : अच्

ऐश्वर्य] का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, (ब्रह्मवर्चसी) वेद विद्या से प्रकाशवाला (उपजीवनीयः) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वेदविद्या और तपश्चरण से तेजस्वी होकर आनन्द भोगते हैं ॥ १६ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ५) ॥

१—१६ ॥ विराड् देवता ॥ १, ६ आर्च्युष्णिक्; २, ३ साम्न्युष्णिक्; ४, १३, १६ प्राजापत्या पङ्क्तिः; ५, ८ आर्ची त्रिष्टुप्; ७, १०, १४ प्राजापत्या बृहती; ९ आर्ची पङ्क्तिः; ११ आर्ची गायत्री १२ आर्ची जगती; १५ साम्न्यनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥

स । उत् । अक्रामत् । सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । उप । अह्वयन्त । ऊर्जे । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (देवान्) विजय चाहने वाले पुरुषों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (देवाः) विजय चाहने वालों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(ऊर्जे) हे बलवती ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय विजयी पुरुष ईश्वर महिमा में आनन्द पाते हैं ॥ १ ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । चमसः । पात्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् जीव (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा, और (चमसः) अन्न का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ २ ॥

समासान्तः, तत इनि । वेदविद्याप्रदीप्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(देवान्) विजिगीषून् (देवाः) विजिगीषवः (ऊर्जे) पर्यायः २ म० ४ । हे बलवति । शिष्टं पूर्ववत् ॥

२-(चमसः) अ० ६ । ४७ । ३ । अन्नाधारः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष परमेश्वर शक्ति का सदा उपदेश करते हैं॥२

तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । देवः । सविता । अधोक् । ताम् । ऊर्जाम् । एव । अधोक् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (देवः) ज्ञानी (सविता) सर्व प्रेरक पुरुष ने (अधोक्) दुहा है, (ताम् ऊर्जाम्) उस बलवती को (एव) अवश्य (अधोक्) दुहा है ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषार्थी पुरुष ईश्वर शक्ति से उपकार लेते हैं ॥ ३ ॥

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ताम् । ऊर्जाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः ।०॥४॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (ताम् ऊर्जाम्) उस बलवती का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, (उपजीवनीयः) वह [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर महिमा से मनुष्य विजय पाते हैं, ऐसा जानने वाला पुरुष सदा उपकारी होता है ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥

०सा । गन्धर्व-अप्सरसः । आ । अगच्छत् । ताम् । गन्धर्व-अप्सरसः । उप । अह्वयन्त । पुण्य-गन्धे । आ । इहि ।०॥५॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा)

३-(देवः) गतिमान् । ज्ञानवान् (सविता) सर्वप्रेरकः पुरुषः (ऊर्जाम्) बलवतीम् (एव) अवश्यम् । अन्यद् गतम् ॥

४—(उपजीवनीयः) अन्येषामाश्रयणीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५-(गन्धर्वाप्सरसः) अ० ८ । ८ । १५ । गा इन्द्रियाणि धरन्ति ये ते

वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरों में [इन्द्रिय रखने वालों और प्राणों द्वारा चलने वाले जीवों में] (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) इन्द्रिय रखने वालों और प्राणों द्वारा चलने वाले जीवों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(पुण्यगन्धे) हे पवित्र ज्ञानवाली (आ इहि) तू आ, (इति) बस " ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति के आधार रहते हैं ॥ ५ ॥

तस्या॑श्चित्ररथः सौर्यवर्च॒सो व॒त्स आसी॑त् पुष्करप॒र्णं पात्रम् ॥ ६ ॥

तस्याः । चि॒त्र-र॑थः । सौ॒र्य-व॒र्च॒सः । व॒त्सः । आसीत् । पु॒ष्क॒र-प॒र्णम् । पात्र॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सौर्यवर्चसः) सूर्य का प्रकाश जानने वाला (चित्ररथः) विचित्र रमणीय गुणों वाला [जीव] (तस्याः) उसका (वत्सः) उपदेष्टा और (पुष्करपर्णम्) पुष्टि का पूर्ण करने वाला ब्रह्म (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य आदि लोकों की विद्या जानने वाला पुरुष परमेश्वर शक्ति का व्याख्यान करता है ॥ ६ ॥

तां वसु॑रुचिः सौर्यवर्च॒सोऽधो॒क् तां पुण्य॑मे॒व ग॒न्धम॑धोक् ॥ ७ ॥

ताम् । वसु॑-रुचिः । सौ॒र्य॑-व॒र्च॑सः । अ॒धो॒क् । ताम् । पुण्य॑म् । ए॒व । ग॒न्धम् । अ॒धो॒क् ॥ ७ ॥

गन्धर्वा, अद्भिः प्राणैः सह सरन्ति ये ते अप्सरसः, तान् जीवान् (पुण्यगन्धे) अ० ४ । ५ । ३ । हे पवित्रगते शुद्धज्ञाने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(चित्ररथः) विचित्ररमणीयगुणो जीवः (सौर्यवर्चसः) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । सूर्यवर्चस्-अण् । सूर्यस्य प्रकाशवेत्ता (पुष्करपर्णम्) पुषः कित् । उ० ४ । ४ । पुष पोषणे-करन् । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः-न । पुष्टिपूरकं ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (सौर्यवर्चसः) सूर्य के प्रकाश जानने वाला (वसुरुचिः) वसु [सब के निवास परमेश्वर] में रुचि वाले [जीव] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम् एव) उससे ही (पुण्यम्) पवित्र (गन्धम्) ज्ञान को (अधोक्) दुहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष ईश्वर शक्ति से अनेक ज्ञान प्राप्त करता है ।७।

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सुरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गन्धर्व-अप्सरसः । उप । जीवन्ति । पुण्य-गन्धिः । उप-जीवनीयः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सर लोग [इन्द्रिय रखने वाले और प्राण द्वारा चलने वाले जीव] (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (गन्धम्) ज्ञान का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, वह (पुण्यगन्धिः) पवित्र ज्ञान वाला [पुरुष] [दूसरों का] (उप जीवनीयः) आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति से ही जीते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष परोपकारी होता है ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

०सा । इतर-जनान् । आ । अगच्छत् । ताम् । इतर-जनाः ।

७—(ताम्) विराजम् (वसुरुचिः) वसौ सर्वनिवासे जगदीश्वरे रुचिः प्रीतिर्यस्य स जीवः (गन्धम्) गन्ध गतिहिंसायाचनेषु—अच् । बोधम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(तम्) पूर्वोक्तम् (गन्धर्वाप्सरसः) म० ५ । इन्द्रियधारकाः प्राणैः सह च सरणशीला जीवाः (पुण्यगन्धिः) अ० ४ । ५ । ३ । पवित्रज्ञानयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

उप॑ । अह्व॒यन्त॒ । ति॒रः॒-धे॒ । आ । इ॒हि॒ । इ॒ति॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (इतरजनान्) दूसरे [पामर] जनों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (इतरजनाः) दूसरे जनों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(तिरोधे) हे अन्तर्धान [गुप्त रूप] शक्ति ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ ९ ॥

भावार्थ—संसार में देखते हुये भी अज्ञानी पुरुष ईश्वरशक्तिको विशेष रूप से नहीं जानते ॥ ९ ॥

तस्या॑: कु॒बेरो॑ वैश्रव॒णो व॒त्स आसी॑दामपा॒त्रं पात्र॑म् ॥१०॥

तस्या॑: । कु॒बेर॑: । वै॒श्र॒व॒णः । व॒त्सः । आसी॑त् । आ॒म॒-पा॒त्रम् । पात्र॑म् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(वैश्रवणः) विशेष श्रवण [ज्ञान] वाला (कुवेरः) कुवेर [विद्वान् पुरुष] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (आमपात्रम्) सब गतियों का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १० ॥

भावार्थ—विशेष श्रवण मनन करने वाले पुरुष उस परमात्मा की शक्ति का यथावत् उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

तां र॑ज॒तना॑भिः काबेर॒कोऽधो॒क् तां ति॒रो॒धामे॒वाधो॑क् ॥११॥

ताम् । र॒ज॒त-ना॑भिः । का॒ब॒र॒कः । अ॒धो॒क् । ताम् । ति॒र॒:-धाम् । ए॒व । अ॒धो॒क् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (कावेरकः) प्रशंसनीय गुणों के

९—(इतरजनान्) अन्यलोकान् । पामरान् । अज्ञानिनः (तिरोधे) तिरस् + दधातेः—अङ्, टाप् । हे अन्तर्धे । गुप्तरूपशक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(तस्याः) विराजः (कुवेरः) कुम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ५९ । कुबि आच्छादने—एरक् । धनाध्यक्षः । विद्वान् (वैश्रवणः) विश्रवण—अण् । विश्रवणेन विशेषज्ञानेन युक्तः (आमपात्रम्) अम गतौ भोजने च—घञ् । सर्वगतीनामाधारो ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(ताम्) विराजम् (रजतनाभिः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ ।

निवास (रजतनाभिः) ज्ञान के प्रबन्धक [वा क्षत्रिय] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उस (तिरोधाम्) अन्तर्धान शक्ति को (एव) ही (अधोक्) दुहा है।११

भावार्थ—ज्ञानी शूर पुरुष ईश्वर शक्ति से उपकार लेते हैं ॥ ११ ॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ताम् । तिरः-धाम् । इतर-जनाः । उप । जीवन्ति । तिरः । धत्ते । सर्वम् । पाप्मानम् । उप-जीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(इतरजनाः) दूसरे लोग (ताम्) उस (तिरोधाम्) अन्तर्धान शक्ति का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं, वह पुरुष (सर्वम्) सब (पाप्मानम्) पाप को (तिरो धत्ते) तिरस्कार करता है, और [दूसरों का] (उपजीवनीयः) आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—अज्ञानी लोग भी ईश्वर शक्ति को मानते हैं, ऐसा श्रद्धावान् पुरुष अपने पाप नाश करके सर्व माननीय होता है ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

---

१११ । रजति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अतच् । नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने-इञ् , हस्य भः । नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरेतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च-निरु० ४ । २१ । गतेर्ज्ञानस्य प्रबन्धकः क्षत्रियो वा (कावेरकः) पतिकठिकुठि० । उ० १ । ५८ । कब्र स्तुतौ वर्णे च-एरक् , यद्वा कवते गतिकर्मा—निघ० २ । ४ ।—एरक् । वुञ्छण्कठ० । पा० ४ । २ । ८० । कबेर-वुञ् । तस्य निवासः । पा० ४ । २ । ६८ । इत्यर्थे । कबेराणां स्तुत्यगुणानां निवासः (तिरोधाम्) म० ६ । अन्तर्धानशक्तिम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(ताम्) विराजम् (इतरजनाः) म० ६ । अन्ये । पामराः (तिरो धत्ते) तिरस्कृत्य धरति (पाप्मानम्) अ० ३ । ३१ । १ । पापम् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । सर्पान् । आ । अगच्छत् । ताम् । सर्पाः । उप । अह्वयन्त । विष-वति । आ । इहि । इति ॥१३॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (सर्पान्) सर्पों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (सर्पाः) सांपों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(विषवति) हे विषैली ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ १३ ॥

भावार्थ—उस विराट् ईश्वर शक्ति के प्रभाव से सर्प आदि जीव अपने कर्म फल द्वारा विषधारी होते हैं ॥ १३ ॥

तस्यास्तक्षको वैशाले॒यो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥१४

तस्याः । तक्षकः । वैशालेयः । वत्सः । आसीत् । अलाबु-पात्रम् । पात्रम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वैशालेयः) विशाला [प्रवेश शक्ति ब्रह्मविद्या] का जानने वाला (तक्षकः) सूक्ष्मदर्शी [वा विश्वकर्मा पुरुष] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (अलाबुपात्रम्) न डूबने वाला रक्षक [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १४ ॥

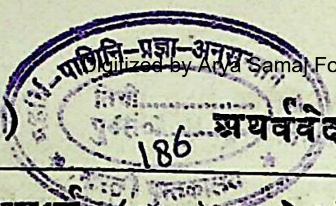
भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी सूक्ष्मदर्शी पुरुष ईश्वर शक्ति का प्रभाव जानते हैं ॥ १४

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥

ताम् । धृत-राष्ट्रः । ऐरा-वतः । अधोक् । ताम् । विषम् । एव । अधोक् ॥ १५ ॥

१३—(सर्पान्) भुजङ्गमान् (विषवति) हे विषयुक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(तस्याः) विराजः (तक्षकः) क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि । उ० २ । ३२ । तक्षू तनूकरणे—क्वुन् । तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा पुरुषः (वैशालेयः) तमिविशिविडि० । उ० १ । ११८ । विश प्रवेशने—कालन्, टाप् । स्त्रीभ्यो ढक् । पा० ४ । १ । १२० । विशाला—ढक् । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इत्यर्थे । प्रवेशशक्तेर्विशालाया ब्रह्मविद्याया वेत्ता (अलाबुपात्रम्) कृवापा० । उ० १ । १ । न+लबि अवस्रंसने—उण्, नलोपः । नञिलम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । अत्र तु ऊप्रत्ययः स्त्रियाम् । अनधःपतनशीलरक्षकं ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥



भाषार्थ—(ताम्) उसको (ऐरावतः) भूमिवालों के स्वभाव जानने वाले (धृतराष्ट्रः) राज्य रखने वाले पुरुष ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उस से (एव) ही (विषम्) विष को (अधोक्) दुहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—नीति कुशल लोग ईश्वर शक्ति से ही विष की विवेचना करते हैं ॥ १५ ॥

तद् विषं सुर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (२९)

तत् । विषम् । सुर्पाः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । भवति । यः । ० ॥ १६ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सर्पाः) सर्प (तद् विषम्) उस विष का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं, वह पुरुष (उपजीवनीयः) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—दुष्टों की दुष्टता जानने वाला पुरुष शिष्टों का आश्रयणीय होता है ॥ १६ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ६) ॥

१-४ ॥ विराड् देवता ॥ १ साम्नी बृहती; २ साम्नी पङ्क्तिः; ३ साम्न्युष्णिक्; ४ आर्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः-ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत्प्रत्याहन्यात् १

तत् । यस्मै । एवम् । विदुषे । अलाबुना । अभि-सिञ्चेत् । प्रति-आहन्यात् ॥ १ ॥

१५—(ताम्) विराजम् (धृतराष्ट्रः) धृतं राष्ट्रं येन । राज्यधारकः (ऐरावतः) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० । २ । २८ । इण् गतौ—रन् निपात्यते । इरा मतुप् । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इरावत्-अण् । इरावतां भूमिवतां स्वभाववेत्ता (विषम्) अ० ४ । ६ । १ । शरीरनाशकं द्रव्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(सर्पाः) भुजङ्गाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(तत्) विस्तार करने वाला [ब्रह्म] (एवम्) इस प्रकार (यस्मै विदुषे) जिस विद्वान् को (अलाबुना) न डूबने वाले कर्म से (अभिषिञ्चेत्) सब प्रकार सींचें, वह [विद्वान्] [विष को] (प्रत्याहन्यात्) हटा देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य ब्रह्म को जानकर दोषों का नाश करे। इस मंत्र में [विष] पद का अनुकर्षण मन्त्र ३ में से है ॥ १ ॥

न चं प्रत्याहुन्यान्मनंसा त्वा प्रत्याहुन्मीति प्रत्याहंन्यात् २

न । च । प्रति-आहुन्यात् । मनंसा । त्वा । प्रति-आहंन्मि । इति । प्रति-आहंन्यात् ॥ २ ॥

यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्रति-आ हन्ति । विषम् । एव । तत् । प्रति-आहंन्ति ॥३॥

भाषार्थ—(च) और (न) अब वह [विद्वान्] [विष को म० ३] (प्रत्याहन्यात्) हटा देवे, "[हे विष] ! (मनसा) मनन के साथ (त्वा) तुझ को (प्रत्याहन्मि) मैं निकाले देता हूं," (इति) इस प्रकार वह [उसे] (प्रत्याहन्यात्) हटा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—[तब] (यत्) नियन्ता [ब्रह्म] (विषम्) विष को (एव) इस प्रकार (प्रत्याहन्ति) हटा देता है, (तत्) विस्तार करने वाला [ब्रह्म] (प्रत्याहन्ति) हटा देता है ॥ ३ ॥

१—(तत्) तनोतीति तत् । तनु विस्तारे—क्विप् । गमः क्वौ । पा० ६।४।४०। गमादीनामिति वक्तव्यम्, वर्तिकम् । मलोपः, तुक् । विस्तारकं ब्रह्म (एवम्) अनेन प्रकारेण (यस्मै विदुषे) सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वा० पा० ७। १। ३९। द्वितीयार्थे चतुर्थी । यं विद्वांसम् (अलाबुना) पर्यायः ५ म० १४। न+लबि अवस्रंसने—उण् । अनधःपतनशीलेन कर्मणा (अभिषिञ्चेत्) अभितः सिञ्चेत् वर्धयेत् (प्रत्याहन्यात्) प्रतिरुन्ध्यात्—विषमिति शेषः म० ३ ॥

२, ३—(न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१ (च) (मनसा) मननेन (त्वा) त्वां विषम् (प्रत्याहन्मि) प्रतिकूलं नाशयामि (इति) (यत्) यमयतीति । यत् । यम—क्विप् । गमादीनामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ६। ४। ४०। मलोपः, नियन्तृ ब्रह्म (विषम्) दोषम् (एव) एवम् (तत्) म० १। विस्तारकं ब्रह्म अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विचार पूर्वक दोष हटाने का प्रयत्न करता है, ब्रह्म की कृपा से उसके सब दोष क्षीण होजाते हैं ॥ २, ३ ॥

विषमे॒वास्या॑प्रियं॒ भ्रातृ॑व्यमनु॒विषि॑च्यते॒ य ए॒वं वेद॑ ॥४(३०)

वि॒षम् । ए॒व । अ॒स्य॒ । अप्रि॑यम् । भ्रातृ॑व्यम् । अ॒नु॒-विषि॑-च्यते । यः । ए॒वम् । वेद॑ ॥ ४ ॥ (३०)

भाषार्थ-(विषम्) विष [दोष] (एव) इस प्रकार (अस्य) उस [पुरुष] के (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम्) भ्रातृभाव रहित [ब्रह्म निन्दक] को (अनुविषिच्यते) व्याप कर नष्ट कर देता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् का विरोधी ब्रह्मनिन्दक दोषभागी होकर नष्ट हो जाता है, ऐसा मनुष्य को जानना चाहिये ॥ ४ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इत्यष्टमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम **श्री सयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित** बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे मार्गशीर्षमासे शुक्लदशम्यां तिथौ १९७३ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि **श्रीराजराजेश्वर पञ्चम-जार्ज महोदयस्य** सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्–पौषकृष्णा ६ संवत् १९७३ ता० १५ दिसम्बर १९१६ ॥

४—(विषम्) दोषः, इत्यर्थः (एव) एवम् (अस्य) ब्रह्मवादिनः (अप्रियम्) अप्रीतिकरम् (भ्रातृव्यम्) अ० २ । १८ । १ । भ्रातृभावशून्यं ब्रह्मनिन्दकं शत्रुम् (अनुविषिच्यते) कर्तरि कर्मवाच्यम् । व्याप्य विरुद्धं सिञ्चति, नाशयतीत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

The VIDY ADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, Letter No.* 624 *date* 6*th February* 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable " For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan.

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

The Magistrate of Allaaabad,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship, The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre—eminent position in Sanskrit literature...The arrangenent is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious ; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works...The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition ; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B.-The printing and paper are good, the price is moderate.



हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

पंडित शिव शंकरशर्मा काव्यतीर्थ–छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार–पंजाब आर्यप्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ फ़रवरी १६१३। ......आर्य पुरुष हवन कालमें जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदीजी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १६६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवाकर पढ़नीचाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १६१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश मेरठ,—मई १६१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय खुशीराम जी,—गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

मिलने का पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२० जून १६१६। ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ बाजपेयी के प्रबन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ।

उदन्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो विष्या दृतिम् अथ. ७।१८।१
न प्रस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिव्यां जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्
अथ. ७।१८।२

राजा के उपदेश ७।२४-२५-२६-२२

विवाह में गठबन्धन होना आवश्यक है —

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन। ७।३७।१

७।३८।२ में प्रीत्यार्थ उपदेश है सम्पूर्ण सूक्त उपयुक्त है

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः।
यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टः तं सरस्वन्तमवसे हवामहे
७।४०।१, ६।६३।११

